काशी हिंदू विश्वविद्यालय की डी० लिट्० उपाधि के लिए स्वीकृत

प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन

लेखक

जगन्नाथप्रसाद शर्मा

अध्यक्ष हिंदी-विभाग

हिंदू विश्वविद्यालय, काशी।
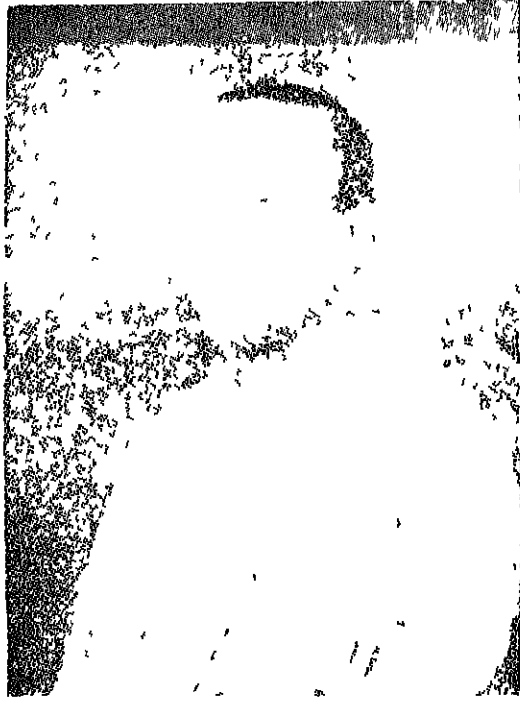
जन्म १९४६] जयशंकर 'प्रसाद' [निधन १९९४

आमुख

'प्रसाद' के अधिकांश रूपक ऐतिहासिक हैं, अतएव बहुत दिनों से आवश्यकता इस बात की दिखाई पड़ रही थी कि उन नाटकों के वस्तु-विस्तार में आए हुए पात्रों और घटनाओं के मूल स्रोतों का ऐसा परिचय दिया जाय कि इतिहास के साथ उनकी संगति समझने में कोई अड़चन न हो। साधारणत: उपलब्ध इतिहास-ग्रंथ इस विषय में पर्याप्त नहीं हैं, क्योंकि वे प्राय: मुख्य व्यक्तियों से संबद्ध मुख्य कार्य-व्यापार और वस्तु-स्थिति का ही उल्लेख करते हैं। नाटककार ने वस्तु-संविधान और चरित्र-चित्रण में इतिहास-संमत सूक्ष्मातिसूक्ष्म घटनाओं का भी उपयोग किया है और ऐसी प्रासंगिक घटनाओं एवं परिस्थितियों का विवरण किसी एक ही इतिहास-ग्रंथ में पाना प्राय: संभव नहीं। ऐसी अवस्था मे यदि कोई उसकी कृतियों का पूर्ण आस्वादन करना चाहे तो उसके लिए इतिहास के अगाध सागर में बिखरी सामग्री का समुद्धार और उसका प्रामाणिक ज्ञान अपेक्षित होगा। इस प्रबंध में मुख्य रूप से प्रयास तीन विषयों की ओर गया है। प्रथम चेष्टा तो इस बात की हुई है कि प्रमुख रूपकों की नाटकीय वस्तु मे अन्वित ऐतिहासिक अंशों का सुसंबद्ध उल्लेख उपस्थित किया जाय। जहाँ तक हो सका है प्रबंध का यह अंश प्रमाण-संमत बनाया गया है—अवश्य ही इस विषय मे ऐतिहासिक मतभेद की जटिलता से पृथक् रहना उचित समझा गया है।

नाट्य-रचना का भारतीय विधान पूर्ण एवं संपन्न है। उसके सार्वकालिक तथा सार्वजनिक सिद्धांत आज भी भारतवर्ष मे मान्य

और उपादेय हैं। भले ही कीथ* प्रभृति पश्चिमी विद्वान् आत्मवैराग्यानु-भूति-मूलक उद्गार निकालते और मीन-मेष करते रहें; भारत आज भी आदर्श-प्रिय तथा सूक्ष्म विवेचना का निपुण प्रेमी बना है। 'प्रसाद' के नाटकों मे प्राचीन विधान का अभिनव दर्शन बहुत खुलकर होता है। इसी विषय का प्रतिपादन प्रस्तुत रचना का दूसरा प्रयास है। प्रसंग पर यह दिखाने की चेष्टा की गई है कि इन रूपकों में नवग्राहिता भी पर्याप्त मात्रा में है। सक्रियता के साथ व्यक्तिवैचित्र्य और शोक समुन्मेष के साथ कार्योत्साह का अनुबंध भी उनमें मिलता है। यह अनुबंध विशेषतः व्यक्तिगत चारित्र्य और संविधानक के प्रसारगामी स्वरूप में स्फुटित दिखाई पड़ता है। प्राचीन संस्कृत नाटकों मे इन्हीं विषयों का अभाव डॉ० कीथ को विशेष खटका है। इस नव-योजना की सहायता से 'प्रसाद' ने भारतीय आत्मा को सुरक्षित रखा है।

---

* (i) The writers of the classical drama accept without question the forms imposed upon them by authority, although that authority rests on no logical or psychological basis, but represent merely generalization, often hasty, from a limited number of plays—p. 352.

(ii) There is doubtless pedantry in the theory of sentiment, the choice of eight emotions, the subordination to them of transitory states, the enumeration of determinants and consequents, are largely dominated by empiricism, and not explained or justified.—p 326

(iii) But the definitions and the classifications are without substantial interest or value,—p 300

(iv) The classification of elements of the plot is perhaps superfluous besides the junctures —p 299

(v) I have no doubt that the value and depth of the Indian theory of poetics have failed to receive recognition simply because in the original sources what is important and valueless are presented in almost inextricable confusion—preface

—The Sanskrit Drama in its Origin, Development, Theory and Practice by A Berriedale Keith. (1921)

'प्रसाद' की व्याख्या, तीसरा विषय है जिसका प्रयास प्रस्तुत रचना में किया गया है। यह व्याख्या बुद्धि-पक्ष और हृदय पक्ष दोनों की है। जहाँ तक हो सका है नाटककार की भावुकता तथा विचारधारा का समन्वय दिखाया गया है और उसकी बहुमुखी प्रतिभा का प्रकाशन हुआ है।

प्रस्तुत रचना में जहाँ अंग का पूर्णतया अनुसंधान किया गया है वहीं अनंग-कथन से बचने की पूरी चेष्टा की गई है। इष्ट-सीमा का निर्धारण कड़ाई से किया गया है और आनुषंगिक विषयों पर कुछ नहीं लिखा गया। 'स्कंदगुप्त' की तारतमिक तुलना में राखालदास बैनर्जी के 'करुणा' उपन्यास पर लिखा जा सकता था, 'चंद्रगुप्त' के साथ द्विजेंद्रलाल राय के 'चंद्रगुप्त, अथवा विशाखदत्त के 'मुद्राराक्षस' के साम्यासाम्य का विचार किया जा सकता था, पर ऐसे प्रलोभनों में पड़ने से प्रतिपाद्य की एकनिष्ठता के बिगड़ने का भय था। इसी प्रकार 'प्रसाद' का जीवनवृत्त, हिंदी में नाट्य-रचना और उसके इतिहास में 'प्रसाद' का स्थान आदि विषय भी है। ऐसे आनुषंगिक विषयों पर अभी तक कोई नवीन उपलब्धि भी नहीं विदित हुई है जिसका उल्लेख करने के लिए मैं आकृष्ट होता।

स्थलनिर्देश की आवश्यकता प्रधानतः ऐतिहासिक विवेचना के संबंध में समझी गई है अतएव वहाँ उसका पूरा उल्लेख किया गया है। इसके अतिरिक्त यदि प्रसंगतः कहीं पारिभाषिक शब्द आया है तो पाद-टिप्पणी में उसके मूल-स्थल का निर्देश कर दिया गया है। लेखधारा में रूपकों के जो अनेक उद्धरण समाविष्ट हुए हैं उनके स्थलों का उल्लेख अनावश्यक समझकर नहीं किया गया है। नाटक-रचना का काल-क्रम आरंभ में ही दे दिया गया है। विवेचना के प्रवाह में कालक्रम का ध्यान न रखकर रचनानुगुण-वर्गीकरण आवश्यक समझा गया है।

औरंगाबाद, काशी
१३-९-१९४३

जगन्नाथप्रसाद शर्मा

विषय-सूची

विषय — पृष्ठ

'प्रसाद' की नाट्य-कृतियों का काल-क्रम

एकांकी रूपक — १-१०

परीक्षा काल—३, 'सज्जन और प्रायश्चित्त'—३, 'कल्याणी-परिणय'—७, 'करुणालय'—८

राज्यश्री — ११-३८

आरभ काल—१३, इतिहास—१३, राज्यश्री—१८ कथानक—१६, राज्यश्री का चरित्र—२१, राज्यश्री का नवीन सस्करण—२४, चतुर्थ अक की असार अतिरिक्तता—२५, रचना-पद्धति—२६, चरित्र-चित्रण—२७, हर्षवर्धन—२७, शातिदेव—३०, सुरमा—३४, अन्य पात्र—३८।

अजातशत्रु — ३६-७०

इतिहास—४१, प्रथम सस्करण—४६, ऐतिहासिक आधार—५०, कथानक—५१, कार्य की अवस्थाएँ—५३, चरित्र-चित्रण—५४, विदूषक—५४, अतर्द्वंद्व—५७, बिंबसार और वासवी—५८, अजातशत्रु—६१, विरुद्धक—६२, अन्य पुरुष-पात्र—६४, मल्लिका—६४, मागधी—६६, छलना और शक्तिमती—६७, नाटक का नायक और नामकरण—६७, रस-विचार—६८।

विषय पृष्ठ

स्कंदगुप्त ७१–१३३

इतिहास—७३, सामान्य परिचय—८५, कथांश—८५, वस्तुतत्त्व और कार्यावस्थाएं—८६, अर्थप्रकृति—९२, संधियाँ—९४, पात्र-चरित्र—९५, स्कंदगुप्त—९७, देवसेना—१०२, पर्णदत्त—१०८, बंधुवर्मा—११०, जयमाला—११२, भटार्क—११४, विजया—११९, शर्वनाग—१२२, अनंतदेवी—१२५, अन्य पात्र—१२६, रस का विवचन—१२७, विशेषता—१३२।

चंद्रगुप्त १३५–१७८

इतिहास—१३७, कथानक—१४२—संविधानक-सौष्ठव और काल-विस्तार—१४८, अंक और दृश्य—१४९ आरंभ और फलप्राप्ति—१५०, कार्य की अवस्थाएँ—१५२, अर्थप्रकृतियाँ—१५३, संधियाँ—१५५, नायक का विचार—१५६, चंद्रगुप्त—१५७, चाणक्य—१५९, सिंहरण—१६२, अन्य पुरुष-पात्र—१६३, अलका—१६५, सुवासिना—१६६, कल्याणी—१६७, कार्नेलिया—१६८, मालविका—१६९, रस-विवेचन—१७०, शृंगार रस का योग—१७२, कथोपकथन—१७३, देश-काल का कथन—१७५, राष्ट्र-भावना—१७८।

ध्रुवस्वामिनी १७९–२०६

इतिहास—१८१, कथा—१८३, वस्तुतत्त्व—१८४, अंक और दृश्य—१८७, आरंभ, कार्य-व्यापार की तीव्रता और फल-प्राप्ति—१८८, कार्य की अवस्थाएँ—१९०, चरित्रांकन—१९२, कोमा—१९३, रामगुप्त और शिखर

विषय　　　　　　　　　　　　　　　　　　　　　　　　　　　　　　पृष्ठ

स्वामी—१९५, चद्रगुप्त—१९७, ध्रुवस्वामिनी—१९८, संवाद—२००, विशेषताए—पद्धति की नवीनता—२०२ अभिनयात्मकता—२०२, समस्या—२०३, रस—२०५ ।

अन्य रूपक　　　　　　　　　　　　　　　　　　　　　　　　　　२०७—२३५

एक घूँट—सामान्य परिचय—२०९, प्रतिपाद्य विषय—२१०, आनद—२११, अन्य पात्र—२१२ ।

विशाख—दोष-दर्शन—२१३, कथा और कथानक—२१३, वस्तु-कल्पना—२१५, चरित्राकन—२१५, विशाख—२१६, चद्रलेखा—२१६, अन्य पात्र—२१७ ।

कामना—सामान्य परिचय—२१८, प्रतिपाद्य विषय—२१८, कथानक—२१९, चरित्राकन—२२०, विलास—२२१, विनोद—२२२, सतोष—२२२, विवेक—२२३, कामना—२२३, लीला—२२५, लालसा—२२५, देश-काल का विवरण—२२६ ।

जनमेजय का नाग-यज्ञ—इतिहास—२२८, कथानक—२२९, पात्र—२३०, सरमा—२३१, मनसा—२३२, अन्य स्त्री-पात्र—२३२, जनमेजय—२३३, उत्तक—२३४, अन्य पुरुष पात्र—२३५ ।

उपसंहार　　　　　　　　　　　　　　　　　　　　　　　　　　२३७—२८९

कथानक—इतिहास का आधार—२३९, कल्पना का योग—२४०, परिस्थिति-योजना—२४२, विस्तारभार—२४३, अक और दृश्य—२४४, वस्तु-विन्यास—२४६ ।

पात्र—नायक और प्रतिनायक—२४७, पताका नायक—२४७,

विषय पृष्ठ

स्त्री पात्र—२४८, आदर्श और यथार्थ—२५०, पात्रो की प्रकृति—२५१, विदूषक—२५३ ।

संवाद—प्रयोजन—२५४, सक्षेप और विस्तार—२५५ स्वगत-भाषण—२५६, कार्यगति प्रेरक और रोधक सवाद—२५७, सवादो मे कविता का प्रयोग—२५८ ।

रस-विवेचन—सक्रियता और रसनिष्पत्ति—२६०, रसावयव २६०, प्रधान एव सहयोगी रस—२६१, हास्य-परिहास—२६२, प्रेमसिद्धात—२६४ ।

देश-काल—साधारण—२६६, कालानुरूप चरित्राकन—२६७, राजनीतिक स्थिति—२६९, धार्मिक स्थिति—२७०, सामाजिक स्थिति—२७१, साहित्य का उल्लेख—२७२ ।

अन्य विषय—गान—२७४, अभिनेयता—२७५, भाषाशैली—२७९, भारतीय एव पाश्चात्य पद्धतियो का समन्वय—२८२, आधुनिकता—२८४, नाटको मे दार्शनिक विचारधारा—२८५ ।

'प्रसाद' की नाट्य-कृतियों का काल-क्रम

(१) सज्जन—'इंदु', कला २, किरण ८, ९, १०, ११—सन् १९१०–११।

(२) कल्याणी-परिणय—'नागिरी-प्रचारिणी पत्रिका', भाग १७, सख्या २—सन् १९१२।

(३) करुणालय—'इंदु', कला ४, खंड १, किरण २—सन् १९१२।

(४) प्रायश्चित्त—'इंदु', कला ५, खड १, किरण १—जनवरी सन् १९१४।

(५) राज्यश्री—'इंदु', कला ६, खंड १, किरण १—जनवरी सन् १९१५।

(६) विशाख—सन् १९२१। प्रकाशक—हिंदी-ग्रंथ-भडार, काशी।

(७) अजातशत्रु—सन् १९२२। प्रकाशक—हिंदी-गथ-भडार, काशी।

(८) कामना—यह रचना सन् १९२३–२४ में लिखी गई, परतु पुस्तक-रूप मे प्रकाशित होने का समय सन् १९२७ दिया है, 'प्रसाद' की केवल एक यही रचना ऐसी है जो तीन-चार वर्षों तक अप्रकाशित रही।

(९) जनमेजय का नाग-यज्ञ—सन् १९२६। प्रकाशक—साहित्य-रत्नमाला कार्यालय, काशी।

(१०) स्कदगुप्त—सन् १९२८। प्रकाशक—भारती-भडार, काशी।

(११) एक घूँट—वस्तुत यह पुस्तक सन् १९३० मे छपी है। पुस्तक में प्रकाशन-काल सन् १९२९ दिया है, जो सभवत इसका लेखन-काल है। प्रकाशक—पुस्तक-मदिर, काशी।

(१२) चंद्रगुप्त—सन् १९३१। प्रकाशक—भारती-भडार, काशी।

(१३) ध्रुवस्वामिनी—सन् १९३३। प्रकाशक—भारती-भडार, काशी।

लेखक की अन्य रचनाएँ

१ हिंदी-गद्य के युग-निर्माता	४ २५
२ आदर्श निबंध	२ ५०
३ हिंदी-गद्य शैली का विकास	६ ००
४ गद्य काव्य तरंगिणी	८ ००
५ स्कंदगुप्त समीक्षा	९५
६. चंद्रगुप्त समीक्षा	१ ००
७ अजातशत्रु समीक्षा	६२
८ गद्य साहित्य का इतिहास	२ ५०
९. कहानी का रचनाविधान	५ ००
१० काव्य तरंगिणी (२)	२'५०

प्रसाद के नाटकों
का
शास्त्रीय अध्ययन

एकांकी रूपक

परीक्षा-काल

यों तो नाटक-रचना का प्रयास 'प्रसाद' जी ने अपने बीसवें वर्ष के पूर्व ही आरंभ कर दिया था, परंतु वह केवल परीक्षा-काल था। उस समय जो उन्होंने चार एकांकी रूपक लिखे उनसे उनका अभिप्राय केवल इतना ही विचार करना था कि स्थिर होकर कौन ढंग पकड़ना है। इसी उद्देश्य से 'सज्जन', 'प्रायश्चित्त', 'कल्याणी-परिणय' और 'करुणालय' लिखे गए।

सज्जन और प्रायश्चित्त

'सज्जन' का कथानक महाभारत के अंश-विशेष पर आश्रित है। कुटिल राजनीति की सफलता से उन्मत्त और चाटुकार मित्रों के विपाक परामर्श से उत्साहित होकर दुर्योधन अपने उदार-चित्त और सज्जन भाई पांडवों को वन में भी शांतिपूर्वक कालक्षेप करते नहीं देख सकता। उत्सव मनाने के विचार से वह उस वन में आता है जहाँ वनवास करते हुए पांडव अनेक आपत्तियों का नित्य सामना कर रहे हैं। उत्सव समाप्त हो चुकने पर मृगया खेलने की मंत्रणा होती है। गंधर्व चित्रसेन उस वन का रक्षक है। वह नम्रतापूर्वक दुर्योधन से निवेदन करता है कि यह मृगया-वन नहीं है। दुर्योधन अपने वैभव के बल पर गंधर्वराज की आज्ञा नहीं मानता। फलस्वरूप दोनों में युद्ध होता है और दुर्योधन अपने मित्रों के साथ बंदी होता है। उसी वन के दूसरे भाग में स्थित पांडव-दल को जब इस घटना की सूचना मिलती है तो धर्मराज युधिष्ठिर उसी समय वीरवर अर्जुन को आज्ञा देते हैं कि तुरत जाकर अपने बाहुबल से दुर्योधन को छुड़ा लाएँ। अर्जुन आज्ञापालन के विचार से जाकर चित्रसेन की सेना से युद्ध करते हैं। युद्ध करते समय जब चित्रसेन अपने पूर्वपरिचित मित्र को पहचानता है तो युद्ध रोककर उसी के साथ युधिष्ठिर के समीप आता है और दुर्योधनादिक को बंधनमुक्त कर देता है। दुर्योधन युधिष्ठिर की ऐसी देवोपम उदारता देखकर लज्जित होता है।

'प्रायश्चित्त' का कथानक इतिहास की एक किंवदंती का आश्रय लेकर खड़ा है। प्रतिकार एवं द्वेषबुद्धि से प्रेरित होकर जयचंद में दुर्भावनाएँ उत्पन्न होती हैं। परिणाम-स्वरूप वह अपने जामाता पृथ्वीराज पर चढ़ाई करता है और युद्ध में उसे मारकर पाशविक प्रसन्नता से नाचने लगता है। उसी समय आकाशवाणी के रूप में उसे दुष्ट कृत्यों के लिए भर्त्सना मिलती है। उस भर्त्सना को सुनकर और इस रक्तपात की विभीषिका के मूल में अपने को पाकर उसके हृदय में पश्चात्ताप उत्पन्न होता है। निर्जन तथा शून्य प्रासाद के कोने में उसे अपनी प्रिय पुत्री संयोगिता की मूर्ति झाँकती हुई दिखाई पड़ती है। सच्चा प्रायश्चित्त की वह भावना स्थायी रूप धारण करती है और अर्धविक्षिप्त अवस्था में ही वह रणभूमि से लौटता है। उसी समय मुहम्मद गोरी उस पर चढ़ाई करता है और वह सैन्य-निरीक्षण का सारा दायित्व अपने पुत्र तथा मंत्री पर छोड़, स्वयं राजकीय कार्यों से तटस्थ होकर गंगा में डूब कर प्राण विसर्जन करता है।

वास्तव में इन एकांकी रूपकों में न तो कथानक की ही कोई विशेषता है न चरित्र-चित्रण की। प्रसिद्ध घटनाओं का इनमें नाटकीय रूप में उल्लेख मात्र है। कथा का क्षेत्र इतना संकुचित है कि उसके नियन्त्रण एवं संविधान में लेखक को कितनी कुशलता दिखानी पड़ी है इसका ज्ञान ही नहीं हो पाता। लेखक का उद्देश्य केवल उन घटनाओं का वर्णन है, अतएव पात्रों के चरित्र के विषय में वह मूक है। घटना-क्रम को देखने से पात्रों के चरित्र का आभास भर मिलता है और लघु सीमा में उतने से अधिक संभव भी नहीं है। 'राजन' में 'इत ते ये पाहन हनै, उत तैं वे फल देत' का ही उदाहरण है। एक ओर दुराग्रही, उच्छृंखलता का स्वरूप, अहंकार में चूर्ण और संतोषी भ्राताओं से आंतरिक द्वेष रखनेवाला दुर्वृत्त दुर्योधन है और दूसरी ओर सज्जनता के अवतार, मनुष्य की दुर्भावनाओं एवं पशुताओं से सर्वथा मुक्त शुद्ध बुद्धि के धर्मराज युधिष्ठिर हैं। एक पाप में और दूसरा पुण्य में अनु-रक्त है। एक ओर उग्र स्वभाव की विद्वेष-ज्वाला है और दूसरी ओर शीतलता का सागर। दुर्योधन ने नीचता पर कमर कसी है और युधिष्ठिर साधुवृत्ति का परित्याग पाप मानते हैं। अंत में आकर लेखक ने 'सत्यमेव जयते' का ही प्रतिपादन किया है। इस प्रकार के राम-

रावण के समान द्वंद्व से हम इतने अधिक परिचित है कि उसमे कोई विशेष आकर्षण नहीं रह गया।

चरित्र-चित्रण की यही अवस्था 'प्रायश्चित्त' मे भी है। उसमे तो केवल एक ही व्यक्ति है जो अपनी दुर्वृत्ति और दुष्ट स्वभाव से प्रेरित होकर घातक घटनाओं के कर्दम में जा गिरता है। प्रतिकार की भावना इतनी उग्र होती है कि मनुष्य को विक्षिप्त कर देती है। उसे अपनी हानि और लाभ तक नही दिखाई पडता। आवेश का ऐसा भयानक भूत सवार होता है कि वह स्वयं अपने हाथों अपने पैर मे कुल्हाड़ी मार लेता है। जयचंद की यही अवस्था दिखाई गई है। द्वेष-बुद्धि और प्रतिकार भाव ने उसे अभिभूत कर लिया है। इसलिए उसे अपना पराया कुछ नही सूझता। अपने जामाता की मृत्यु एवं प्रिय पुत्री के वैधव्य का कारण वह स्वयं बन जाता है। पहले तो राक्षसभाव जागरित होकर उसे पशु बना देता है, उसके शांत होने पर और बात सुझाई जाने पर पीछे उसमे साधुभाव जगता है। उस साधुवृत्ति की चेतना परिस्थितियों के कारण निर्बल प्रमाणित होती है, क्योंकि उसे सत्कर्म की ओर प्रवृत्त नहीं करती। उसके मन मे प्रायश्चित्त की भावना उत्पन्न होती है, परंतु उस भावना मे कायरता और विवशता का विचित्र समेलन है। वह प्रायश्चित्त की वेदी पर अपने जीवन को चढ़ा देता है; परतु अपने मे कर्मण्यता, बल, पौरुष और उत्साह का रूप नही स्थापित कर सकता। वह इतना निर्बल और अशक्त हो जाता है कि उसमें, अपने दायित्व तक का विचार नही रह जाता और आक्रमण की आशंकापूर्ण परिस्थिति मे भी, युद्धस्थल की कठोरता से त्रस्त कायर सैनिक की भाँति, कर्मक्षेत्र से भागकर गंगा मे धँसकर प्राण त्याग देता है।

चरित्र-चित्रण एव कथानक संबधी कोई विशिष्टता न रहने पर भी इन आरभिक रूपकों में कुछ ऐसी विशेषताएँ है जिनका उल्लेख इस स्थल पर आवश्यक प्रतीत होता है। उन विशेषताओं का प्रभाव लेखक की परवर्ती रचना-शैली पर दिखाई पडता है। लेखक ने दोनों रूपकों में दो विभिन्न परिपाटियों का प्रयोग किया है। 'सज्जन' मे प्राचीन शैली का रूप मिलता है। आरंभ में नांदी-पाठ और सूत्र-धार-नटी का विनियोग किया गया है। अंत मे लेखक ने मंगल-

कामना के रूप में प्रशस्ति वाक्य की भी योजना की है। हरिश्चंद्र-काल तक इस प्रणाली का निर्वाह भली-भाँति हुआ है। परीक्षा-रूप में 'प्रसाद' ने भी उसे अपनाया, परंतु परवर्ती रचनाओं में आरंभ और समाप्ति की यह शैली नहीं रखी गई। इसके अतिरिक्त गद्यात्मक कथोपकथन के साथ-साथ पद्यात्मक संवादों की जैसी अव्यावहारिक तथा कृत्रिम योजना उस समय के पारसी ढंग पर लिखे गए साधारण नाटकों में दिखाई पड़ती है उसका अनुसरण—परीक्षा के विचार से इस रूपक में 'प्रसाद' ने भी किया है। कथोपकथन की यह प्रणाली कितनी अस्वाभाविक है इसका अनुभव उन्होंने थोड़े ही में कर लिया। परवर्ती रचनाओं में क्रमशः इस परिपाटी का प्रयोग कम होता गया है। यों तो कुछ-कुछ ऐसे रूप इधर तक के नाटकों में प्राप्त होते हैं, परंतु वे नहीं के बराबर हैं। कथोपकथन की इस प्रणाली का उपयोग यदि सीमाबद्ध हो और स्थान-विशेष पर उसी रूप में किया जाय जिस रूप में सिद्धांत की उक्तियों का प्रयोग हम लोग अपनी व्यावहारिक बातचीत में करते हैं तो कोई हानि नहीं। इस एकांकी रूपक में पद्यात्मक कथोपकथन की भरमार है। पद्यों की भाषा-ब्रज है, परंतु यह ब्रजभाषा अपने में नवीन भावभंगी का समावेश करती दिखाई पड़ती है।

'प्रायश्चित्त' में 'सज्जन' की शैली का सर्वथा विपर्यय पाया जाता है। एक शैली की परीक्षा करने के उपरांत लेखक ने इसमें दूसरा ढंग पकड़ा है। इसमें नांदी-पाठ और सूत्रधार द्वारा नाटक का आरंभ नहीं किया गया। अंत में प्रशस्ति द्वारा समाप्ति भी नहीं रखी गई। इस प्रकार उस प्राचीन परिपाटी का विसर्जन किया गया है जिसका यथोचित निर्वाह 'सज्जन' में किया गया था। इस रूपक में पद्यात्मक संवादों का भी सर्वथा अभाव है। इस कारण संभव है कुछ लोगों को कथानक रूखा दिखाई पड़े; परंतु स्वाभाविकता के विचार से यह ढंग व्यावहारिक मालूम पड़ता है। इसमें आकाशवाणी का जो विशेष आयोजन है उसकी कोई आवश्यकता न थी। इस रूपक की प्रधान विशेषता यह है कि पात्रों की सामाजिक स्थिति का विचार कर लेखक ने उनके अनुरूप भाषा का प्रयोग किया है। यह प्रयोग भी केवल परीक्षा के विचार से किया गया है, क्योंकि भविष्य में उसका प्रयोग नहीं है।

कल्याणी-परिणय

इस एकाकी रूपक का मूल आधार वह ऐतिहासिक तथ्य है जिसके अनुसार नदकुल के उन्छेदक चद्रगुप्त मौर्य ने अपने पराक्रम से सिल्यूकस ऐसे वीर विजेता को परास्त कर उसकी पुत्री के साथ विवाह-सबध स्थापित किया था। यों तो इसमे नाटकीय अवतारणा केवल आंशिक ही है, परतु इतना तो स्पष्ट प्रतीत होता है कि पीछे का लिखा हुआ नाटक 'चंद्रगुप्त' इसी का परिवर्धित एव पूर्ण रूप है। केवल घटना और चरित्राकन मे ही यह सबध नहीं दिखाई देता अपितु दोनो की भाषा एवं पदावली तक मिलती-जुलती है। इस एकांकी के प्रमुख पात्र चाणक्य, चंद्रगुप्त, कार्नेलिया और सिल्यूकस हैं। दो घटनाओं के बीच मे रखकर इनके चरित्रों की मूल वृत्तियों का आभास दिया गया है।

चाणक्य इस उधेड-बुन मे लगा दिखाई पड़ता है कि किस प्रकार चद्रगुप्त की ऐसी सहायता करूँ कि वह विदेशी सिल्यूकस को परास्त करे और फिर इन दोनों का कुछ ऐसा संबध स्थापित हो जिससे मैत्री-भाव सर्वदा के लिए दृढ हो जाय। चद्रगुप्त भी अपने प्रतिपक्षी को नीचा दिखाने मे तत्पर दिखाई पडता है। इस प्रकार नायक का लक्ष्य विजय-प्राप्ति है। फल रूप मे विजय के साथ-साथ चंद्रगुप्त को एक प्रेमिका और जीवन-सगिनी भी मिल जाती है। इस एकांकी मे शृगार से पुष्ट वीर रस की ही झलक मिलती है। रचना का नामकरण भी परिणाम को देखकर ही किया गया है। चंद्रगुप्त का प्रधान व्यापार सिल्यूकस-विजय है और उसकी समाप्ति परिणय से होती है, अतएव नामकरण उचित ही हुआ है।

कथानक मे केवल एक ही प्रधान घटना है। आरभ मे कौटिल्य अपने नाम की सार्थकता का विचार करता हुआ अपने गुप्तचरों के द्वारा अपने भावी कार्य-व्यापार का सयोजन करता दिखाई देता है। दूसरे दृश्य मे चद्रगुप्त मृगया मे दिखाई पड़ी सुदरियों का उल्लेख करते हुए उनके प्रति अपना आकर्षण प्रकट करता है और अचानक शत्रुओं के आक्रमण की सूचना पाकर अपने सेनापति चडविक्रम को आदेश देता है कि वह ग्रीक सेना पर प्रत्याक्रमण की व्यवस्था करे। आगे चलकर कथा के क्रम मे कार्नेलिया प्रथम दर्शन के आधार पर

ही चंद्रगुप्त से प्रेम प्रकट करती है और सिल्यूकस भी पराजय के अपमान का अनुभव करता है। इसी समय सीरिया पर एंटिगोनस की चढ़ाई की सूचना से त्रस्त होकर वह संधि-प्रस्ताव को स्वीकार कर लेता है। परिणामतः सिल्यूकस की पुत्री कार्नेलिया का विवाह चंद्रगुप्त के साथ होता है और चंद्रगुप्त अपने श्वशुर की सहायता के लिए अपने सेनापति चंडविक्रम को नियुक्त करता है।

रूपकोचित वस्तु-विन्यास इस रचना में नहीं दिखाई पड़ता। दौड भी थोड़ी है और उसमें ऐसा सीधापन है कि वस्तु विकास का ज्ञान नहीं हो पाता। एक ओर से चलकर, एक रौंस से, कथा अंत तक चली जाती है। यही कारण है कि इसमें नाटकत्व नहीं मिल पाता। यहाँ चरित्र चित्रण का भी विशेष अवसर नहीं मिला है।

चाणक्य की बुद्धिकुशलता, दूरदर्शिता और निर्लिप्त कर्मयोग की झलक स्थान-स्थान पर मिल जाती है। साम्राज्य के प्रतिनिधि-रूप चंद्रगुप्त के लिए वह आद्यंत मंगल-योजना में लगा दिखाई पड़ता है। चंद्रगुप्त युद्धकुशल, वीर और व्यवहारपटु है। प्रीति और विरोध दोनों में उदार है। अपने लक्ष्य की प्राप्ति में सदैव तत्पर रहता है। सिल्यूकस भी वीर प्रकृति का है। अपनी पराजय से अपमान का अनुभव करता है। समय और अवसर का विचार करके अधिक लाभ की बात शीघ्र ही सोच लेता है।

इस एकांकी की रचना-पद्धति में दो विशेषताएँ दिखाई पड़ती हैं। आरंभ में नांदी-पाठ और अंत की प्रशस्ति में भारतीय मंगल विधान की झलक है। संवादों में गद्य पद्य का प्रयोग किया गया है। यह प्रवृत्ति 'प्रसाद' में स्थिर नहीं रह सकी। धीरे-धीरे इसकी कमी होती गई है और अंत में इसका सर्वथा त्याग हो गया है। इसके अति-रिक्त गानों का विनियोग भी प्रसंगानुकूल एवं साभिप्राय हुआ है।

करुणालय

'करुणालय' दृश्यकाव्य गीतिनाट्य के ढंग पर लिखा गया है। सर्वप्रथम इसका प्रकाशन 'इंदु' (चतुर्थ कला, प्रथम खंड, द्वितीय किरण, माघ, १९६९) में हुआ और उसके उपरांत 'चित्राधार' संग्रह में यह संकलित हुआ। इसमें वाक्य-रचना के अनुसार विरामचिह्न

दिए गए है, और तुकातहीन मात्रिक छंद मे इसकी रचना हुई है। इसके पूर्व हिंदी में इस प्रकार की रचना नहीं दिखाई पड़ी थी। नवीन प्रयोग के अभिप्राय से ही लेखक ने यह ढग पकडा था। इसमे ख्यात पौराणिक वृत्त का आधार लेकर नाटकीय पद्धति पर दृश्यो का विभाजन किया गया है और वस्तु का आरोह-अवरोह भी उसी क्रम मे रखा गया है।

इस एकांकी मे पाँच दृश्य हैं। प्रथम दृश्य मे अयोध्यापति हरिश्चंद्र अपने सेनापति ज्योतिष्मान् के साथ नौका-विहार करते दिखाई पडते है। वहीं आकाशवाणी होती है, जिसके द्वारा उन्हे स्मरण दिलाया जाता है कि उन्होंने अपने राजकुमार के बलि चढाने की प्रतिज्ञा अभी तक पूरी नहीं की। इस पर शीघ्र ही प्रतिज्ञापालन का वचन देते हुए हरिश्चंद्र वहाँ से लौट पडते है। द्वितीय दृश्य वनप्रांत का है, जिसमे घूमता-फिरता राजकुमार रोहित अपने मन मे विचार करता है कि पिता की ओर से मिली मरने की निरर्थक आज्ञा कहाँ तक मान्य हो सकती है। इसी प्रकार जीवन-संबंधी अनेक तर्क-वितर्क के उपरात वह निश्चय करता है कि राजधानी से भाग कर अनंत प्रकृति के किसी छोर पर चला जाय। प्रकृति भी नेपथ्य से उसके इस निश्चय का समर्थन करती है। तृतीय दृश्य मे ऋषि अजीगर्त अपनी दरिद्रता तथा दैन्य पर दुःख प्रकट कर रहे हैं। उसी समय रोहित उनके सम्मुख प्रकट होता है। वह अजीगर्त से निवेदन करता है कि यदि आप अपना एक पुत्र मुझे नरमेध के लिए सौंप दें तो मैं आपको बदले मे सौ गायें दूं। अत मे ऋषि अपने मँझले पुत्र शुनःशेप को दे देते है। चतुर्थ दृश्य मे पहले तो राजकुमार रोहित और महाराज हरिश्चंद्र मे वाद-विवाद चलता है, परंतु वशिष्ठ जी आकर राजकुमार के भागने का समर्थन करते है और यज्ञ-आयोजन का आदेश देते है, जिसमे शुनःशेप की बलि दी जाने को है। अंतिम दृश्य मे महाराज हरिश्चंद्र और रोहित उपस्थित है, होता-रूप मे महर्षि वशिष्ठ बैठे है, शुनःशेप यूप से बँधा है और शक्ति उसका बध करने के लिए बढता है, परंतु करुणा से विचलित होकर रुक जाता है। इस पर स्वयं अजीगर्त इस क्रूर कर्म के लिए उद्यत होते हैं और शुनःशेप प्रार्थना करता है। सहसा आकाश मे गर्जन होता है। साथ

ही विश्वामित्र अपने पुत्रों के साथ यज्ञ-मडप में प्रवेश करके बलि को रोकते है। उसी समय झपटती हुई एक राजकीय दासी भी वही पहुँचती है, जो वस्तुत विश्वामित्र की पत्नी है। उसी का पुत्र शुन शेप था। सब बाते प्रकट होने पर सुव्रता दासीकर्म से मुक्त की जाती है और उस घोर नरबलि का प्रश्न भी समाप्त हो जाता है। सब ईश्वर की प्रार्थना और उनसे कल्याण-कामना करते है। इस प्रकार संसार की मगल-भावना से यह एकांकी-रचना समाप्त होती है।

इस कृति से तत्कालीन देश-काल का यह परिचय मिलता है कि धर्मभावना और प्रतिज्ञापालन मे लोग दृढ़ होते थे। उस समय यज्ञों मे नरबलि तक विहित थी। धर्म-शासन मे भी कही-कही दरिद्रता का आधिपत्य ऐसा प्रबल हो जाता था कि पुत्रों को बेचकर जीवन-निर्वाह की व्यवस्था करनी पडती थी। इसके अतिरिक्त सिद्धांत की बातें भी प्रकट होती हैं जहाँ एक ओर शुन:शेप ऐसा पितृभक्त आँख बद करके अपने माता-पिता की आज्ञा के पालन मे ही अपने जीवन का उत्सर्ग करने को सनद्ध दिखाई पड़ता है वही दूसरी ओर रोहित-सा राजकुमार पितृ-आज्ञा के औचित्य पर तर्क-वितर्क करके अपना स्वतत्र मत स्थापित करता और उसी के अनुसार आचरण करता मिलता है। इन बातों से चरित्र-विषयक विशेषताएँ भी यथाक्रम लक्षित हुई है। एक प्रकार से इस रचना में नाटकीय अश की न्यूनता और कहानी-तत्त्व की ही प्रधानता है। इसे कथोपकथन के द्वारा पद्य मे लिखी हुई कहानी समझना चाहिए।

राज्यश्री

आरंभकाल

एकांकी रूपकों में छोटे-छोटे घटना-क्रमों को लेकर लेखक ने अभ्यास आरंभ किया था। उनमे उसने दो भिन्न-भिन्न रचना-पद्धतियों का प्रयोग कर देखा और कुछ मत स्थिर किए। अब वह समय आया कि वह उन स्थिर विचारों का प्रयोग अधिक व्यापक घटनाओं को लेकर करे। इस अभिप्राय से इस काल मे दो नाटक लिखे गए 'राज्यश्री' एव 'विशाख'। इन दोनों के रूप-रग तथा आकार-प्रकार मे समानता है। घटना-क्रम के विकास एव सघटन, चरित्रांकन की प्रभावोत्पादकता इत्यादि की दृष्टि से भी दोनो मे एकरूपता है। यह बात दूसरी है कि सूक्ष्म विवेचन करने पर दोनों मे स्पष्ट अंतर भी दिखाई पड़ता है। पुस्तक के रूप मे दोनो के दो-दो सस्करण हो चुके है। 'विशाख' के द्वितीय संस्करण मे तो कोई ऐसा विशेष परिवर्तन नही मिलता परंतु 'राज्यश्री' के दोनों सस्करणो मे आकाश-पाताल का अंतर दिखाई देता है। प्रथम सस्करण का रूप देखकर तो यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि 'सज्जन' और 'प्रायश्चित्त' का ही लेखक बढकर इस रूप मे दिखाई पड़ रहा है, परंतु द्वितीय आवृत्ति मे प्रौढ़ 'प्रसाद' की पूरी झलक दिखाई पड़ती है। लेखक के रचना-कौशल के क्रमिक विकास का यदि अध्ययन करना अभि-प्रेत है तो प्रथम संस्करण ही विशेष महत्त्व का प्रमाणित होगा, क्योंकि उस सस्करण मे लक्षित होनेवाली उसकी दुर्बलताओं मे उसके रचना-कौशल का प्रकृत रूप दिखाई पड़ता है।

इतिहास

थानेश्वर के अधिपति परमभट्टारक महाराजाधिराज प्रभाकर-वर्धन की मृत्यु के उपरांत उनका ज्येष्ठ पुत्र राज्यवर्धन सिंहासन पर बैठा। उसी समय दूसरी ओर उसकी बहन राज्यश्री पर आपत्ति आई। राज्यश्री के पति कान्यकुब्जाधीश मोखरी ग्रहवर्मा की हत्या करके मालव के शासक देवगुप्त[1] ने उसको बंदी बनाया। उसके पैरो

१ राजानो युधि दुष्टवाजिन इव श्रीदेवगुप्तादय ।
कृत्वा तेन कशाप्रहारविमुखा सर्वे सम रायता ॥
एपिग्राफिका इडिका, प्र० पृ० ७२, ७४ एव चतु० पृ० २१० ।

मे बेड़ी डाल दी गई[१]। यह सूचना मिलते ही अपने भाई हर्षवर्धन[२] को अन्य राजाओं और हस्तिसेना के साथ संभवत इसलिए पीछे छोड़कर कि आवश्यकता होने पर हूण-विद्रोह का सामना करे, राज्यवर्धन स्वयं अपनी बहन की सहायता करने गया। अपने सेनापति भडि[३] को आज्ञा दी कि सहस्र अश्वारोहियों के साथ उसके पीछे-पीछे आए।

राज्यवर्धन ने बडी सरलता से मालव-सेना का विध्वंस कर दिया; परतु स्वय एक कुचक्र मे पड़ गया। अधीनता और मैत्री स्थापित करने का विचार प्रकट करते हुए गौड़ाधिप शशांक (नरेन्द्रगुप्त[४]) ने अपनी पुत्री का विवाह राज्यवर्धन से करने का मतव्य प्रकट किया। ऐसा प्रलोभन देकर वह राज्यवर्धन से एकात में मिला और उसकी हत्या कर दी[५]। इस प्रकार मौखरी और वर्धन-वशों पर दु ख का

१ हर्षचरित कावेल और थामस का अँगरेजी-अनुवाद, सन् १८९७ ई०, पृ० १७३।

२ 'हर्ष' नाम का उल्लेख शिलालेख और मधुवन एव बाँसखेरा ताम्रपत्रो मे हुआ है। अपशाद के शिलालेख और हर्षचरित मे 'हर्षदेव' लिखा मिलता है। सोनपत की ताम्र-मुद्रा मे पूरा नाम हर्षवर्धन प्राप्त होता है। डॉ० आर० एस० त्रिपाठी हिस्ट्री आव् कन्नौज, पृ० ६१ (फुटनोट)।

३ भडि महारानी यशोमति (प्रभाकरवर्धन की पत्नी) के भाई का पुत्र था। उसने राजकुमारो के साथ ही शिक्षा पाई थी। वह अवस्था मे राज्यवर्धन और हर्षवर्धन से कुछ बडा था।

(क) वही, पृ० ६४ (फु०)

(ख) वि० ए० स्मिथ द अर्ली हिस्ट्री आव् इडिया, पृ० ३५०।

४ (क) चीनी यात्री हूनच्वग ने इसे शशाक लिखा है—वाटर्स प्र० पृ० ३४३।

(ख) हर्षचरित की केवल एक प्रति मे इसका नाम नरेन्द्रगुप्त लिखा मिलता है। एपिग्राफिका इडिका, प्र० पृ० ७०।

५ तस्मात् च हेलानिर्जितमालवानीकमपि गौडाधिपेन मिथ्योपचारोपचितविश्वास मुक्तशस्त्र एकाकिन निश्रब्ध स्वभवन एव भ्रातर व्यापादितमश्रौपीत्।—हर्षचरित, कलकत्ता-सस्करण, पृ० ४३६।

पहाड़ ही टूट पड़ा। कन्नौज पर शशांक का अधिकार हो गया। इसके साथ ही अपने प्रतिपक्षी सेनापति भंडि का ध्यान परिवर्तित करने के अभिप्राय से शशांक ने विधवा राज्यश्री को नगर के कारागार से मुक्त कर दिया[1]। अपने भाई की हत्या का समाचार पाते ही हर्षवर्धन ने शासन-भार अपने ऊपर लिया। इस समय उसके सम्मुख दो समस्याएँ थी, अपने भाई के हत्यारे को दंड देना और विधवा बहन की खोज करना। अतएव वह विशाल वाहिनी साथ लेकर चल पड़ा। मार्ग मे उसे सेनापति भंडि मिल गया। भंडि ने उसे सूचना दी कि राज्यश्री कारावास से मुक्त होकर विन्ध्य पर्वत की ओर चली गई है। इस समाचार को पाकर हर्ष बड़ा दुखी हुआ। नरेंद्रगुप्त से युद्ध करने की बात उसने स्थगित कर दी। अपनी संपूर्ण सेना को गंगाकूल पर रुकने का आदेश देकर उसने कुछ साथियो को साथ लिया और शीघ्रता से राज्यश्री की खोज मे तत्पर हो गया। विन्ध्य-वन के गंभीर तल मे प्रवेश करते ही गयोग से उसकी भेंट स्वर्गीय ग्रहवर्मा के बाल-सहचर बौद्ध साधक दिवाकरमित्र से हो गई। इसी बौद्ध भिक्षु की सहायता से राज्यश्री मिली।

जिस समय हर्ष राज्यश्री के समीप पहुँचा उस समय वह चिता जलाकर उसमे कूदने जा रही थी। हर्ष ने इस अनर्थ को रोका और उससे तुरंत लौटने का प्रस्ताव किया। राज्यश्री अपने असामयिक दुःख की विषमता से इतनी त्रस्त थी कि उसने काषाय लेने का अपना मंतव्य प्रकट किया। इस पर हर्षवर्धन ने उसे आश्वासन देते हुए वचन दिया कि अपने कार्य-व्यापारो को पूर्णतया संपादित कर लेने पर हम दोनो साथ ही काषाय धारण करेगे[2]। इसके उपरांत जब राज्यश्री को साथ लेकर हर्ष लौटा तब तक नरेंद्रगुप्त कन्नौज छोड़कर भाग चुका था। कन्नौज मे आकर कुछ दिनों तक तो हर्ष अपनी बहन के साथ[3] शासन की व्यवस्था करता रहा, परंतु कालांतर मे थानेश्वर और कन्नौज दोनो का अधिपति बन बैठा।

---

१ हिस्ट्री आव् कन्नौज, पृ० ६७।

२ हर्षचरित्र, सी० टी० पृ० २५८।

३ वी. ए स्मिथ द अर्ली हिस्ट्री आव् इंडिया, च० संस्क पृ० ३५१।

राज्यश्री असाधारण योग्यता की महिला थी। बौद्धों की समितिया सम्प्रदाय के सिद्धांतो की पंडिता थी। उसका उद्धार करने के उपरात हर्षवर्धन संपूर्ण भारतवर्ष को अपने एकछत्र शासन मे लेने की चेष्टा मे लगा। अपनी सुदृढ सेना की सहायता से उसने पाँच ही वर्षों मे सारे उत्तरी भारत को अपने राज्य के अन्तर्गत कर लिया, परतु एक ओर उसे अपनी हार स्वीकार करनी ही पडी। दक्षिण मे चालुक्यवंशीय पुलकेशिन् ने अपने संपूर्ण शक्ति-बल से नर्मदा के भागो का ऐसा सुदृढ प्रतिरोध किया कि हर्ष की सेना को किसी प्रकार प्रवेश न मिल सका और वह निराश हो कर पराजय लेकर लौटा। इसके उपरात उसने नर्मदा ही को अपने साम्राज्य की सीमा मान ली[१]।

हर्ष के शासन-विधान की बडी प्रशसा वर्णित है। उस काल मे शिक्षा और कला-कौशल की वृद्धि थी। न्याय और प्रातीय शासन की व्यवस्था ठीक थी। यो तो विकट अपराध होते नही दिखाई देते थे; परतु स्थल और जल मार्ग की सुरक्षा नही थी। कई बार चीनी यात्री ह्वेनत्साग को चोरों और लुटेरो ने घेरा और पकड़ा था[२]। साथ ही धार्मिक स्थिति भी विरोधमयी थी। राजपक्ष से तो पर्याप्त उदारता दिखाई जाती थी, परतु समय-समय पर बौद्ध और वैदिक धर्मानुयायियों मे संघर्ष चलता ही रहता था। कभी-कभी यह संघर्ष हिंसात्मक हो उठता था। इसी विरोध के परिणाम-स्वरूप एक बार चीनी यात्री के जीवन की आशका हो उठी थी और उपद्रवियों के कारण हर्ष को कडे आदेश घोषित करने पड़े थे[३]।

हर्ष के शासन-काल मे कन्नौज की धर्म-सभा का उल्लेख आवश्यक है। जिस समय विजय के संबंध में हर्ष बंगाल मे था उस समय ह्वेनत्वंग से वही मिला और आग्रहपूर्वक उसे कन्नौज ले आया। यहाँ आने पर उसने एक महती धर्मसभा का आयोजन किया। इस सभा मे विभिन्न देशों के नरेशों के अतिरिक्त सहस्रों बौद्ध, जैन और कट्टर

१. वी० ए० स्मिथ द अर्ली हिस्ट्री आव् इंडिया, च संस्क पृ० २५२-५४।
२ (क) वही, पृ० ३५५।
(ख) डॉ० आर० एस० त्रिपाठी हिस्ट्री आव् कन्नोज, पृ० १४५।
३ (क) वी० ए० स्मिथ द अर्ली हिस्ट्री आव् इंडिया, पृ० ३६१।
(ख) डॉ० आर० एस० त्रिपाठी हिस्ट्री आव् कन्नौज, पृ० १५४।

ब्राह्मण भी योग देने आए। बड़े समारोह के साथ सफलतापूर्वक कार्य समाप्त होने ही को था कि एक आश्चर्यजनक घटना हो गई। इसी कार्य के लिए बनाए गए प्रमुख विहार में सहसा आग लग गई और उसका अधिकांश भाग नष्ट हो गया। जिस समय सम्राट् उसकी देखभाल के लिए नीचे उतर रहा था, उसी समय छुरा लेकर उसकी हत्या करने के लिए एक व्यक्ति ने उस पर आक्रमण किया, परंतु वह अपराधी पकड़ लिया गया। पीछे उसने स्वीकार किया कि मैं कुछ ऐसे लोगों की प्रेरणा से इस कार्य में तत्पर हुआ था जो बौद्ध-धर्म के इस सम्मान-विस्तार से क्रुद्ध थे[1]।

उस काल की द्वितीय उल्लेखनीय विभूति थी प्रयाग का महादान महोत्सव—महामोक्ष परिषद्। प्रत्येक पाँच वर्षों के उपरांत यह महोत्सव मनाया जाता था। इसमें लाखों बौद्ध, जैन, धर्मसुधारक, ब्राह्मण, दरिद्र और अनाथ एकत्र होकर दान-ग्रहण करते थे और उत्सव में संपूर्ण राजवर्ग उपस्थित रहता था। सैकड़ों स्थान ऐसे बनवाए जाते थे जहाँ दान की वस्तुएँ (रत्नवस्त्रादि) भरी रहती थी। पहले दिन बुद्ध, दूसरे दिन आदित्यदेव और तीसरे दिन ईश्वरदेव (शिव) की महान् पूजा होती थी। इसके उपरांत महादान आरंभ होता था, जो भिन्न-भिन्न वर्गवालों को क्रम से महीनों तक वितरित होता रहता था। चुने हुए लोगों में से एक-एक को शत सुवर्णखंड, एक मोती, सूती वस्त्र और साथ में विभिन्न प्रकार के पेय, मांस, पुष्प तथा सुगंधित द्रव्य दिए जाते थे। इसके उपरांत अनेक नरेशों से मिली उपहार की वस्तुओं तक को सम्राट् बाँट देता था। जिस वर्ष हर्ष अपने साथ चीनी यात्री को ले गया था उस वर्ष तो अंत में स्थिति यहाँ तक बढ़ी कि उसने अपनी बहन राज्यश्री से एक पुराना आभूषण माँगकर धारण किया और तब बुद्ध की पूजा में योग दे सका[2]।

---

१. (क) वी० ए० स्मिथ द अर्ली हिस्ट्री आव् इंडिया, पृ० ३६२-६३।
(ख) डॉ० आर० एस० त्रिपाठी हिस्ट्री आव् कन्नौज, पृ० १५५।

२. (क) वी० ए० स्मिथ द अर्ली हिस्ट्री आव् इंडिया, पृ० ३६३-६५।
(ख) डॉ० आर० एस० त्रिपाठी, हिस्ट्री आव् कन्नौज, पृ० १५७-६१।
(ग) सैमुअल बील लाइफ आव् युवान च्वांग, पृ० १८७।

राज्यश्री

इस नाटक में प्रधान व्यक्ति राज्यश्री है। इसको समस्त घटना-चक्र का केंद्र कहना चाहिए। ग्रंथ में जिन व्यापक विप्लवों का उल्लेख है उन सबके मूल में यही राज्यश्री है। सब की दृष्टि उसी ओर है। वही एक रूप-शिखा है जिस पर सभी पतंग गिरकर भस्मसात् होते हैं। सभी घटनाएँ उसी पर आश्रित हैं। ग्रहवर्मा उसी के लिए कहता है—

> सब से यह आनंद बड़ा है प्रियतमे,
> तुम-सा निर्मल कुसुम भी मिला है हमें।

उसी सौंदर्य-राशि को देखकर मालवराज देवगुप्त भी आकर्षित हुआ है। उसकी दृष्टि में राज्यश्री वास्तव में 'विश्व-राज्यश्री' है। मालवराज के सम्मुख केवल एक ही प्रश्न है—'क्या वह मुझे न मिलेगी'? इस प्रश्न का उत्तर भी उसे तुरंत मिलता है। मृगतृष्णा तुरंत उत्तर-रूप में कहती है—'अवश्य मिलेगी'। इसी मृगतृष्णा के पीछे पड़ा वह अनेक अनर्थ करता है तथा इसको समय-समय पर स्वतः स्वीकार करता है—'राज्यश्री! राज्यश्री!! यह सब देवगुप्त तेरे लिए कर रहा है'। उद्देश्यसिद्धि के मार्ग में जो बाधाएँ पड़ती हैं उनका सामना वह छल-कपट से अपनी शक्ति भर करता जाता है। वह निश्चयपूर्वक समझ चुका है कि मुझे इष्ट-प्राप्ति उस समय तक नहीं हो सकती जब तक कान्यकुब्जाधिपति जीवित रहेंगे। यही कारण है कि अपनी सारी शक्तियों को वह उसी ओर प्रेरित करता है और अंत में उसे इस कार्य में सफलता मिलती है। उसने राज्यश्री के पति ग्रहवर्मा को छल से मार डाला और कन्नौज ले लिया। अंत में चलकर उसके दुराग्रह, पाशविक कर्म एवं रण-दौर्मद का परिणाम अनुकूल नहीं प्रमाणित होता। सत् और असत् का युद्ध अधिक समय नहीं चलता। संभव है कि असत् अपना उग्ररूप दिखा कर कुछ क्षणों के लिए संसार को भले ही भयभीत कर दे, परंतु कालांतर में उसका पतन और विनाश अवश्यंभावी है। यही अवस्था असत्-पक्ष लेकर चलनेवाले मालवराज की भी हुई है। इसी मोह-माया में पड़ा हुआ वह अंत में राज्यवर्धन द्वारा बंदी बनाया जाता है और उसकी अभीप्सा तथा उसके प्रयत्न आदि सभी नष्ट हो जाते हैं।

यही स्थिति हमें भिक्षु विकटघोष की भी दिखाई देती है। वह भी उसी प्रकार के रोग से ग्रस्त है। राज्यश्री के रूप की ज्वाला और आलोकमय रमणीयता ने उस दीन भिक्षु को भयानक डाकू बना डाला है। ग्रहवर्मा की मृत्यु के पश्चात् वह विचार करता है—'हाय! राज्यश्री! तेरे रूप की ज्वाला अभी तक मेरे हृदय को जला रही है। संसार का कर्मक्षेत्र मुझे न दिखाई पड़ता यदि तेरा आलोकमय रूप नेत्रों के सामने न आता। तुम्हीं तो इस दीन भिक्षु को भयानक डाकू बना देने की कारण हो। इस समय भी हम राज्यश्री को न प्राप्त कर सके तो व्यर्थ ही लुटेरा बनने का पाप सर पर लिया।' इसी इष्ट-साधन के विचार से वह राज्यवर्धन की सेना मे भरती होता है। उसने निश्चय कर लिया है कि इस प्रकार से उसे अपनी अभिलाषा पूर्ण करने में सरलता होगी। जिस समय देवगुप्त और राज्यवर्धन में युद्ध होता है उसी समय वह कारावास मे पहुँचता है और बंदिनी राज्यश्री को बंधनमुक्त करता है। अपने को राज्यवर्धन द्वारा भेजा हुआ दूत बताकर उसका विश्वासपात्र बनता है। आपदाओं से त्रस्त राज्यश्री को अपना-पराया कुछ नहीं सूझता और वह उसके साथ निर्जन वन की ओर भागती है। यहाँ पहुँचकर विकटघोष अपना कुत्सित मंतव्य प्रकट करता है जिस पर कातर होकर राज्यश्री अनेक कारुणिक शब्द कहती है। उसके आर्त शब्दों को उसी स्थान पर खड़ा परिव्राजक महात्मा दिवाकर मित्र सुनता है और अबला की मर्यादा-रक्षा में प्रवृत्त होता है। उसके सत् उपदेशों को सुनकर पापी विकटघोष की सोई हुई चेतना जागरित होती है और वह अपनी पाप-वासना के लिए प्रायश्चित्त करना स्वीकार करता है।

कथानक

यह प्रथम अवसर है जब लेखक को विस्तृत घटना-क्रम लेकर निश्चित सिद्धांतों पर संघटित करना पड़ता है। इसके पूर्व के एकांकी रूपकों मे घटनाओं के विकास-क्रम का तर्क-संगत निर्वाह नहीं करना पड़ा था। उनमें केवल स्फुट रूप मे कुछ दृश्यों का विवरण मात्र दिया गया था। इस नाटक मे राज्यश्री के जीवन का बड़ा अंश लिया गया है। यह अंश घटनाओं से पूर्ण है और एक-एक घटना महत्त्वपूर्ण है। लेखक

के लिए घटना क्रम के ऐसे व्यापक क्षेत्र की व्यवस्था करने व
अवसर है। इस आरभिक काल मे वस्तुविन्यास की कितनी
में मिलती है इसका विचार आवश्यक है।

राज्यश्री के प्रथम संस्करण मे तीन अंक है, जो मार्मिक
समाप्त होते हैं। प्रत्येक अक की अपनी विशेषता है। वृद्धि-क्र
से भी घटनाओं का विभाजन अच्छा हुआ है। प्रथम अंक
ग्रहवर्मा और मालवराज देवगुप्त का विरोध है। राज्यश्री को
के विचार से देवगुप्त अनेक प्रकार की चेष्टाएँ करता है औ
ग्रहवर्मा को मारकर उसे बदिनी बना लेता है। यहाँ पर
समाप्त होता है। दूसरे अंक मे इसी घटना के प्रतिकार का
जाता है। मालवराज की उच्छृंखलता के कारण उत्तेजित हो
शील स्थाण्वीश्वर सम्राट् राज्यवर्धन उसका विरोध कर
विरोध का फल यह होता है कि दोनों मे युद्ध होता है, दे
बनाया जाता है और उसकी दुष्टताओं का अंत होता है।
का भी अधिक अंश विरोध मे ही समाप्त होता है। राज
हत्या का कारण नरेंद्र ही है ऐसा निश्चय हो जाने पर
के सैनिक स्कंदगुप्त ने उसकी भी हत्या कर डाली। दू
हर्षवर्धन अन्य प्रांतों पर विजय प्राप्त करता हुआ आकर अ
राज्यश्री से बौद्ध-सघ मे मिलता है, उससे निवेदन करता है
का बाना छोड़कर वह पुन. राजरानी बने। राज्यश्री इस
करती है। इसी स्थल पर नाटक की समाप्ति होती है। नाटक
विरोध से हुआ और अत तक विरोध ही विरोध चलता रहा।
इस रूपक का व्यापक भाव है।

राज्यश्री के इस सस्करण में प्राचीन रीति के अनुसार
है। अंत में प्रशस्ति-वाक्य भी है। यों तो नाटक के प्रथ
प्रथम दृश्य में ग्रहवर्मा की बातचीत में पद्यात्मक कथोपकथन
परिपाटी प्राप्त होती है जो 'सज्जन' में दिखाई पडती है;
केवल यही एक स्थल है। अन्य स्थानों पर इसका संकोच
पड़ता है। इन पद्यात्मक अंशों की भाषा पूर्वकाल के अनु
नहीं वरन् शुद्ध खड़ी बोली है। पद्य एवं गद्य दोनों की अ
शैली व्यावहारिक और सीधी-सादी है। कथन की उस शैली

सूक्ष्म छींटे यत्र-तत्र प्राप्त होते है जो शैली आगे चलकर प्रौढ़ काल मे विकसित हुई है। नाटक के इस संस्करण को विचारपूर्वक देखने से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि अभी लेखक मे रचना-कौशल के विचार से बडी कमी है। वह व्यापक घटना-क्षेत्र के संघटन तथा शासन मे असफल दिखाई पडता है। समस्त नाटकीय व्यापार मे आपत्तियों की एक आँधी-सी चलती है। इस आँधी मे लेखक की अप्रौढ रचना-चातुरी अपने बल पर नही खड़ी रहती। उसने शीघ्रता से समस्त घटनावली को क्रम से तीन भागों मे विभक्त कर तीन अकों मे स्थित कर दिया है। इसके उपरात उन मार्मिक स्थलों तक चढ़ने के लिए साधारण, अनगढ, बेमेल दृश्यों की कृत्रिम सीढ़ियाँ बना ली गई है। ये दृश्य छोटे-छोटे, कहीं तो एक ही पृष्ठ के है। दो-तीन मिलकर इस योग्य होते हैं कि घटना के प्रवाह को आगे बढ़ावे। इस काल की रचना-चातुरी में इस प्रकार की दुर्बलताएँ और भयाकुल स्वभाव नितांत प्रकृत ज्ञात होता है।

राज्यश्री का चरित्र

राज्यश्री नाटक घटना-प्रधान है। यही कारण है कि इसमे चरित्रगत विशेषताएँ नहीं मिलती। क्रिया का वेग इतना अधिक है कि पात्रों के अंतर्जगत् तक पहुँचने और उनकी आंतरिक वृत्तियों के समझने का समय ही नहीं मिल पाता। भयंकर झंझावात से जैसे वृक्षावली त्रस्त दिखाई पड़ती है उसी प्रकार घटनाओं की आँधी मे पात्रों का व्यक्तित्व उड़ता फिरता है। पात्रों के शील वैचित्र्य को पूर्णतया स्फुट बनाने के लिए स्थितियों मे जिस उतार चढ़ाव की आवश्यकता होती है उसका इस रूपक में प्राय अभाव-सा है। केवल राज्यश्री की चरित्र-संबंधी विशेषताओं का उल्लेख एक क्रम से हुआ है, अन्यथा अन्य पात्रों के चरित्र की यदा-कदा झलक भर मिलती है। राज्यश्री को हम तीन अवस्थाओं में देखते है, परतु किसी अवस्था में अनेक चरित्र एवं स्वभाव का संतोषप्रद ज्ञान नहीं होता। प्रथम अवस्था उसके दांपत्य-जीवन से सबध रखती है। उसमे वह पतिपरायणा, स्नेहशीला और विचारवती पत्नी के रूप मे दिखाई पड़ती है। भावी आशंकाओं के कारण पति को उद्विग्न देखकर प्रबोध देती और उसके मानसिक कष्ट को निर्मूल प्रमाणित करने की सतर्क

चेष्टा करती है, परंतु विवाद मे असफल होकर स्त्री-सुलभ शालीनता का आश्रय ग्रहण कर लेती है और अंत मे स्पष्ट रूप से स्वीकार करती है—'प्रभो ! फिर आत्मबल कोई वस्तु नहीं है। मै आप से विवाद नही करना चाहती। पर यह मेरा निवेदन है कि आप अपने हृदय को प्रसन्न कीजिये'। आगे चलकर पति की इच्छा में संतोष मानकर कहती है—'जैसी प्रभु की इच्छा'। पति की अनुपस्थिति में प्रतिक्षण उसी की ओर ध्यान लगाए रहती है। पूजा पाठ और अर्चना-वंदना के समय भी उस ध्यान में बाधा नही पड़ती। इसी अवस्था मे उसका एक स्वरूप और भी दिखाई देता है। उस स्वरूप मे धर्म-भाव से उद्दीप्त उत्साह, त्याग एवं युद्ध के प्रति निर्भयता का स्वाभाविक सम्मिश्रण प्राप्त होता है। जिस प्रिय पति मे उसका इतना अनुराग है कि आँख की ओट होते ही संदेश के लिए उत्कंठित हो उठती है उसी के विरुद्ध युद्ध की आशंका का समाचार सुनकर तनिक भी विचलित नहीं होती। उस समय उसमे भारतीय वीर-ललनाओं के समान क्षात्रतेज उत्पन्न हो जाता है। वह सच्ची क्षत्राणी है। क्षत्राणियाँ अपने वीर पतियों को युद्ध में संमिलित होने के लिए उदारतापूर्वक उत्साहित करती हैं। राज्यश्री भी उन्हीं की भाँति राज्य की मगल-भावना से प्रेरित होकर अपने प्रेम और सुख का बलिदान करती है। युद्ध की आशंका का समाचार पढ़कर वह प्रसन्नतापूर्वक उसका स्वागत करती है। दूत को कहने में सकोच करते देखकर कहने के लिए बाध्य करती है और उत्तर पाकर कहती है—'दूत ! इसी को कहने मे तुम विलंब करते थे। क्षत्राणी के लिए इससे बढ़कर शुभ समाचार और क्या होगा कि उसका पति युद्ध के लिए संनद्ध हो रहा है'।

राज्यश्री के चरित्र की दूसरी अवस्था उस समय प्रारंभ होती है जब वह मंदिर मे पूजन के उपरांत अपने प्राणनाथ की विजय-कामना करती है और वहाँ अट्टहास होता है। उस अट्टहास के साथ ही भय एव भावी अनिष्ट की आशंका के कारण वह मूर्छित हो जाती है। इस घटना के अनंतर वह कुछ काल तक विक्षिप्त रहती है। उसके स्त्री-सुलभ कोमल और भावुक हृदय में भय तो पैठ जाता है; पर इस अवस्था में भी उसका पति-प्रेम अक्षुण्ण दिखाई पड़ता है। अचेतन

अवस्था में भी जब वह प्रलाप करती है तो महामंगल से अपने प्राण-नाथ का जय चाहती है। उसके हृदय-पटल पर पति की जिस मगल-कामना ने घर कर लिया है उसे मूर्छा भी दूर नहीं कर सकती। इसी अवस्था में आगे चलकर उसके दुर्ग पर देवगुप्त आक्रमण करता है। शत्रु दुर्ग में घुस आए। इसकी सूचना पाते ही उस विक्षिप्तावस्था में भी उसमें अपूर्व वीर भावना जागरित होती है। मंत्री की तलवार ले लेती है और जब विजयी सैनिकों को साथ लिए देवगुप्त संमुख आता है तब वह वीर क्षत्राणी निर्भय होकर उस पर खड्ग चलाती है। ऐसी दयनीय तथा कारुणिक अवस्था मे उसका कर्तव्य-ज्ञान विशेष प्रभावोत्पादक ज्ञात होता है।

तीसरी अवस्था में राज्यश्री उस समय दिखाई पड़ती है जब विक्षिप्ति समाप्त होती है और वह पुन सज्ञान हो जाती है। विक्षिप्ति दूर हो। ही उसे अपनी यथार्थ स्थिति का बोध होता है। बंदीगृह में पड़ी-पड़ी जब वह विकटघोष के द्वारा राज्यवर्धन का संदेश पाती है उस समय संसार के व्यावहारिक ज्ञान से शून्य सरल स्वभाव की साधारण बालिका के समान उस सदेश पर विश्वास कर लेती है और विकटघोष के द्वारा बंदीगृह से मुक्त होकर उसी के साथ भागती है। उस समय उसके हृदय मे भ्रातृ-स्नेह उमड़ उठता है। आगे चलकर जब उसे यह ज्ञात होता है कि विकटघोष ने दुर्भावना से प्रेरित होकर उसे छुड़ाया है तो उसके दु:खित हृदय को एक और ठेस लगती है जिससे उसके अंतस्तल मे सोया निर्वेद उत्पन्न होता है। बौद्ध भिक्षु दिवाकर मित्र को समुख देखते ही उसको अपनी आपद अवस्था से मुक्त होने का स्वरूप समझ में आ जाता है। उसी भिक्षु की सहायता से मुक्ति पाकर उसी दिन वह बौद्ध-सघ में चली जाती है। संघ के जीवन से संतुष्ट हो संसार के प्रति वह विरक्ति ग्रहण करती है। जिस समय उसका भाई हर्षवर्धन उस सघ में आता है और उससे भिक्षुणी रूप के त्याग करने के लिए निवेदन करता है उस समय वह कहती है—'फिर अब किस सुख की आशा पर राजरानी का वेश इस क्षणिक ससार मे धारण करूँ' और विश्व-बधुत्व के भाव से प्रेरित होकर वह इच्छा करती है कि समस्त उत्तरापथ को विजित कर सम्राट् हर्ष ने जो धन ऐश्वर्य एकत्र किया

है वह सब भूखों और कंगालों को बाँट दिया जाय। हर्षवर्धन तुरंत इस इच्छा की पूर्ति करता है। इस स्थल पर पहुँचकर वह संसार की मंगल-कामना मे प्रवृत्त दिखाई देती है।

राज्यश्री का नवीन संस्करण

'राज्यश्री' के परिवर्तित और परिवर्धित रूप को देखकर यह कहा जा सकता है कि इसका प्रथम संस्करण बाल-रचना थी। यों तो लेखक स्वयं स्वीकार करता है कि 'उस समय यह अपूर्ण-सा था, परंतु यह केवल अपूर्ण ही न था, इस अपूर्णता के कारण उसमे नीरसता और सूखापन, कथोपकथन की निर्बलता, कथानक-सौष्ठव का अभाव और चरित्रों का अविकसित रूप भी दिखाई पड़ता है। प्रथम संस्करण की न्यूनताओं एवं दुर्बलताओं को लेखक ने स्वयं समझ लिया—यह स्पष्ट ज्ञात होता है, क्योंकि उसने द्वितीय संस्करण मे उनका पूर्ण संशोधन किया है। नाटक का ढाँचा तो उसी प्रकार का बना रहता है, घटनाक्रम के मूल में वस्तुत कोई उलट-फेर नही किया गया, परंतु उस अपूर्णता और नीरसता के हटाने की चेष्टा अनेक प्रकार से की गई दिखाई देती है। कथानक के विभाजन का क्रम इसमे भी पूर्ववत् ही है। अंत मे एक अंक और बढ़ाया गया है। बीच-बीच मे अवसर और आवश्यकता के अनुसार कुछ दृश्य भी जोड़े गए है। सुएन च्वांग, पुलकेशिन् और सुरमा के योग के कारण वस्तु नवीन सी दिखाई देती है। इसमे प्रथम दो तो इतिहास के प्रसिद्ध व्यक्ति है, परतु तीसरा पात्र कल्पित है। इन नवीन पात्रों के योग से चरित्र के विकास में बड़ी सरलता एवं प्रकृतत्व उत्पन्न हो गया है। प्रथम संस्करण में जो नरेंद्रगुप्त का बध दिखाया गया है और जो इतिहास के विरुद्ध प्रमाणित होता है, उसका परिहार भी इस आवृत्ति मे कर दिया गया है। इसके अतिरिक्त इस संस्करण के कथोपकथनों के बीच-बीच में जो छूट दिखाई देती है उसकी भी पूर्ति बड़ी कुशलता से कर दी गई है। थोड़े में यों कहा जा सकता है कि 'राज्यश्री' के परिवर्तित और परिवर्धित संस्करण में नाटककार की रचना-शक्ति का प्रौढ़ रूप दिखाई पड़ता है।

चतुर्थ अंक की असार अतिरिक्तता

कथानक के विभाजन तथा विस्तार में यत्र-तत्र कुछ नव दृश्यों की वृद्धि के अतिरिक्त इस संस्करण मे जो चतुर्थ अंक का नवीन आयोजन किया गया है, नाटकीय सौंदर्य के विचार से, उसका विशेप महत्त्व नही है। इस अक में तीन प्रसिद्ध बातों का उल्लेख है—हर्षवर्धन के प्राण लेने की चेष्टा, कान्यकुब्ज और प्रयाग के दान-महोत्सव का वर्णन तथा सुएन च्वग का परिचय। हर्षकालीन इतिहास में चीनी यात्री सुएन च्वंग का महत्त्व अवश्य है और उसके एक डाकू द्वारा पकडे जाने का उल्लेख भी मिलता है, परंतु नाटक में घटनाओं का विवरण नहीं, वरन् उन घटनाओं के मूल मे मनुष्य की वाह्य एवं आतरिक वृत्तियों के विश्लेषण और सक्रियता के रूप का स्पष्टीकरण होता है। इस नाटक मे राज्यश्री का ही चरित्र प्रधान है और वास्तव मे सुएन च्वग की घटनाओं अथवा उसके मूल मे धर्म समन्वय की भावना का संबंध राज्यश्री के व्यक्तित्व से नहीं है, अतएव चीनी यात्री के कारण यदि इस अंक का विस्तार हुआ है तो व्यर्थ है। उसके अतिरिक्त अन्य दो बातों के विपय मे स्वय लेखक स्वीकार करता है कि यह सब दान-महोत्सव की प्रेरणा राज्यश्री की थी और हर्ष की हत्या की चेष्टा भी जो विफल हुई उसके भी मूल मे राज्यश्री के कोमल स्वभाव की प्रेरणा थी। साथ ही राज्यश्री की देवोपम उदारता का जो पोपण किया गया है—अपने भाई और पति के हत्यारो को जो उसने क्षमा-दान दिया है—वह भी राज्यश्री की समष्टि-हित-साधना अथवा लोकमगल की भावना का व्यापक स्वरूप मात्र है, जो अनावश्यक एव गौण विपय है। वास्तव मे राज्यश्री की उदार भावना का उच्चतम रूप तृतीय अंक की समाप्ति के साथ ही स्थिर हो जाता है। 'स्त्रियों के पवित्र कर्तव्य को करती हुई इस क्षणभंगुर ससार से बिदाई लूँ। सतीधर्म का पालन करूँ'—वह ऐसा निश्चय कर लेती है। कर्तव्य, ज्ञान और सद्धर्म की प्रेरणा से वह अपने अंतिम सुख का विधान स्थिर करती है, इस विधान में परिवर्तन हो जाता है। उसका यह रूप देखकर हर्ष कहता है—'आर्यें! मुझे भी काषाय वस्त्र दीजिए'। इतना सुनते ही राज्यश्री के मस्तिष्क में एक प्रकार का झटका लगता है और वह चिता से हट

जाती है। और कहती है—'ऐसा नहीं होगा, मै तुम्हारे लिए जीवित रहूँगी। मेरे अकेले भाई— चलो हम लोग दूसरे के सुख:दुख मे हाथ बटावें। जहाँ तक हो सके लोक-सेवा करके अंत में कापाय हम दोनों साथ ही लेंगे'। समष्टि के लिए व्यष्टि-भाव का इस प्रकार सर्वथा त्याग ही उसमें देवतुल्य उदारता का आरोप करता है। उसके अंतिम सुख का त्याग ही उसके चरित्र का उत्कर्ष है। इसके उपरांत प्रेरक भाव के स्पष्टीकरण के विचार से उदाहरण और प्रमाण दे-देकर प्रधान भावना का विस्तार दिखाना निरर्थक-सा प्रतीत होता है। आगे जो कार्य दिखाए गए है उनका सकेत मात्र यथेष्ट था।

रचना-पद्धति

नवीन सरकरण मे अन्य नवीनताओं के साथ-साथ नांदी-पाठ की अनुपस्थिति भी विचारणीय है। प्रथमावृत्ति में नाटक का आरंभ नांदी-पाठ से होता है और अत मे एक प्रशस्ति-गान है, परतु इसमे गान को तो रहने दिया गया है पर नांदी-पाठ निकाल दिया गया है। इस प्रकार शास्त्रीय पद्धति के निर्वाह की ओर से लेखक की अरुचि दिखाई पडती है। इसके अतिरिक्त जिस समय सुएन च्वंग की बलि दी जाने लगती है और वह प्रार्थना करता है उस समय अकस्मात् आँधी के साथ अधकार फैलता है। सब चिल्लाने लगते है—'दस्यु-पति! उस भिक्षु को छोड़ दो। उसी के कारण यह विपत्ति है, छोड़ो उसे (प्रार्थना करते हुए सुएन च्वंग को सब धक्का देकर निकाल देते है)' इस ढग की आधिदैविक घटना का विनियोग प्रथम संस्करण में नहीं है, परंतु ऐसा रूप पहले एक बार और दिखाई पड चुका है। 'प्रायश्चित्त' के पूरे एक दृश्य मे आकाशवाणी ही आकाशवाणी है। अच्छा हुआ लेखक ने यह बुरी लत नही पकड़ी। इससे रस परिपाक मे बड़ा व्याघात पड़ता है और प्रभावोत्पत्ति में अस्वाभाविकता उत्पन्न होती है। अभिव्यजना की शैली का स्वरूप भी दोनों आवृत्तियों में भिन्न-भिन्न है। प्रथम सस्करण में विषय का प्रतिपादन तथा इतिवृत्ति के कथन में सीधापन दिखाई देता है। अलंकार-विधान मे अधिक काल्पनिकता नहीं है। जहाँ कहीं कल्पना का प्रयोग हुआ भी है वहाँ वह बड़ा व्यावहारिक है। इस आवृत्ति में यत्र-तत्र अधिक कोमल एवं काव्यात्मक अभिव्यंजना-शैली का स्वरूप बढ़ता दिखाई देता

है—'चंद्रिका के मुख पर कुहरे का अवगुंठन नहीं!' स्वच्छ अनंत मे देवताओं के दीप झलमला रहे है'। इस पद्धति की व्यंजना नाटक के इस संस्करण से ही प्राप्त होने लगती है। भविष्य में इस प्रकार के कथन की उत्तरोत्तर वृद्धि ही होती गई है, काव्यात्मकता का क्षेत्र अधिक विस्तृत होता गया।

चरित्र-चित्रण

इस नाटक के प्रथम संस्करण मे कथानक के संकोच के साथ-साथ पात्रों के चरित्र-चित्रण में भी संकोच रह गया था। चरित्र के अविकसित और अस्थिर होने के कारण वे स्थूल यंत्रों के समान हाथ-पैर हिलाते दिखाई पडते थे। इस आवृत्ति में कथानक के विस्तार के साथ-साथ पात्रों के चरित्र मे भी व्यक्तिवैचित्र्य दिखाई पडता है। यों तो राज्यश्री को छोड़कर अन्य किसी व्यक्ति का चरित्र-विकास दिखाने का अवसर नही मिला, फिर भी उनके जीवन और कार्यों का जितना अंश संमुख आता है उतने ही से उनके चरित्र का स्वरूप लक्षित हो जाता है।

हर्षवर्धन

उत्तरापथेश्वर भारत-सम्राट् हर्षवर्धन प्रथम बार रेवातट की युद्ध-भूमि पर दिखाई पड़ता है। वह वीर चालुक्य से संधि का प्रार्थी है, युद्ध नही करेगा—इसलिए नहीं कि उसकी राजवाहिनी पुलकेशिन् के अश्वारोहियों से त्रस्त हो चुकी है अथवा पराजय की कोई संभावना सूचित हो रही है, वरन् इसलिए कि चर द्वारा उसको संदेश मिला है कि उसी विन्ध्य-पाद मे उसकी अनाथा दुखिया बहन राज्यश्री है। राज्यश्री की स्मृति के साथ ही उसकी घोर दयनीय परिस्थितियों का भी उसे स्मरण हो आता है। यह स्मृति करुणाजन्य होने के कारण हर्ष के हृदय को अभिभूत कर लेती है, उसमें दया, करुणा तथा अहिंसा के उन भावों की दृढ़ स्थापना करती है जिनके वशवर्ती होकर उसके जीवन का भविष्य संचालित होता है। उसी भाव की प्रेरणा से वह युद्ध को प्राण-नाश का स्वरूप समझने लगता है और उसमे युद्ध के प्रति विरक्ति-भावना जागरित होती है। इस समय तक जो युद्ध उसे करना पड़ा है वह विवश होकर ही; स्वभाव से उसमें रण का प्रेम नहीं है जिससे उत्साहित होकर वह शक्ति-प्रदर्शन तथा उच्छृंखल स्वार्थ-लिप्सा के

विचार से युद्ध करता है। वह अकारण दूसरों की भूमि हड़पनेवाला दस्यु नहीं है। इस समय उसकी भावुकता इतनी सजग है कि उसमें सारी देव-वृत्तियाँ सक्रिय दिखाई पड़ती हैं। कर्तव्य-ज्ञान ने उसमें संतोष की वृत्ति उत्पन्न कर दी है। उसी वृत्ति का प्रभाव है कि वह इस प्रकार कहता है—'यदि इतने ही मनुष्यों को मैं सुखी कर सकूँ—राजधर्म का पालन कर सकूँ तो कृत-कृत्य हो जाऊँगा'। वह महावीर और उदार महापुरुष है। अपने विख्यात प्रतिस्पर्धी पुलकेशिन् के वीरोन्माद और उत्साह का आदर करता है।

हर्ष में श्रेष्ठ वृत्तियों के स्फुरण के साथ ही साथ मनुष्योचित भावुकता एवं फल-प्राप्ति की कामना भी दिखाई देती है। वह प्रति-हिंसा से प्रेरित होकर लाखों प्राणियों का संहार—इतना रक्तपात—करता है, किसी अभिप्राय विशेष से। उसके अनेक अन्य कार्य-व्यापार भी किसी कामना से होते हैं—वह दिखा देना चाहता है कि 'कान्यकुब्ज के सिंहासन पर वर्धनवंश की एक बालिका ऊर्जस्वित शासन कर सकती है'। जब मनुष्य की अभिलाषा और आशा के विरुद्ध फल घटित होता है तो उसका सारा उत्साह नष्ट हो जाता है, सक्रियता का सर्वथा अभाव प्रतीत होने लगता है और संसार की असारता सम्मुख खड़ी दिखाई देती है। वह स्वयं स्वीकार करता है—'सब गर्व, सारी वीरता, अनंत विभव, अपार ऐश्वर्य, हृदय की एक चोट से—संसार की एक ठोकर से निस्सार लगने लगा'। जिस राज्यश्री के लिए वह सब कुछ करता है उसी को सती-धर्म-पालन में संनद्ध देखकर—अपनी केंद्रीभूत आशाओं और कामनाओं के स्वरूप को भस्मसात् होते देखकर—उसको इतना क्षोभ और इतनी विरक्ति होती है कि तुरंत दिवाकरमित्र से कहता है कि 'आर्य! मुझे भी काषाय दीजिए'। परंतु 'मैं तुम्हारे लिए जीवित रहूँगी'—ऐसा वचन-दान राज्यश्री से पाकर वह पुनः लहलहा उठता है। मानव-बुद्धि स्वभावतः स्वार्थमयी और चंचल होती है। अपने को सफल पाकर हर्ष प्रसन्न हो जाता है और पूर्ण उत्साह के साथ पुनः कर्म की ओर प्रवृत्त होता है। वह राज्यश्री से कहता है—'चलो पराक्रम से जो संपत्ति, शस्त्र-बल से जो ऐश्वर्य मैंने छीन लिया है उसे पानेवालों को दे दूँ; हम राजा होकर कंगाल बनने का अभ्यास करें'।

एक नहीं अनेक स्थलों पर उसका मनुष्योचित रूप ही दिखाई पड़ता है, उसमें करुणा तथा उदारता का इतना विस्तार अभी नहीं हुआ है कि अपने सगे भाई राज्यवर्धन के हत्यारे को भी क्षमा प्रदान करे। वह स्पष्ट कहता है कि 'मेरा हृदय नहीं क्षमा करेगा, मैं अशक्त हूँ'। इसी प्रकार उस समय भी वह क्रोधयुक्त दिखाई पड़ता है जिस समय महाश्रमण पर भयानक आक्रमण होने का समाचार मिलता है। इस व्यावहारिक जीवन में करुणा और दया का सीमारहित तथा व्यापक प्रसार नीचता का योग पाकर उच्छृंखलता एवं प्रमाद का कारण बन जाता है। बुद्धि उसी के नियंत्रण के लिए राजशक्ति तथा दंडविधान का आश्रय लेती है। 'धर्म में भी यह उपद्रव' देखकर हर्ष क्षुब्ध हो उठता है। उसे सब स्थानों पर क्षमा की एक सीमा दिखाई देती है। समाज में व्यवस्था और मर्यादा को स्थिर रखने के विचार से उसे यह आवश्यक ज्ञात होता है कि राजशक्ति की कठोरता का भी उपयोग करे। दौवारिक को तुरंत आज्ञा देता है कि 'जाओ डौंडी पिटवा दो कि यदि महाश्रमण का एक रोम भी छू गया तो समस्त विरोधियों को जीवित जलना पड़ेगा'। इस कठोर आज्ञा के भीतर राजशक्ति का मद-प्रदर्शन उतना नहीं है जितनी मर्यादा-रक्षा की भावना। शुद्ध मानव-व्यवहार का आदर्श यही भावना है।

हर्षवर्धन भारत का यशस्वी सम्राट्, उदार, वीर, अहिंसावादी धार्मिक और कर्तव्यशील है। उसके विचार तथा धर्म में सुंदर सामंजस्य मिलता है। उसके वध की चेष्टा ही उसके जीवन की अंतिम और महत्त्वपूर्ण घटना है जिसके कारण हर्ष में विरक्ति, त्याग एवं कर्तव्यपरायणता नवीन रूप में जागरित हुई है। हत्या की चेष्टा के मूल में उसको धन का लोभ दिखाई देता है। नीचता के उस उच्छृंखल रूप को देखकर धन, ऐश्वर्य और शक्ति की ओर से उसे विरक्ति पैदा होती है। उसी विरक्ति से प्रेरित होकर वह सब मणि रत्न दान करता हुआ अपना सर्वस्व उतारकर दान कर देता है और काषाय धारण करता है। कारण का स्वयं स्पष्ट उल्लेख करता है—'क्यों, मेरी इसी विभूति और प्रतिपत्ति के लिए हत्या की जा रही थी न? मैं आज सबसे अलग हो रहा हूँ, यदि कोई शत्रु मेरा प्राण-दान चाहे, तो वह भी दे सकता हूँ'। विरक्ति, त्याग और उदारता का इतना

उग्र रूप रहने पर भी राज्यश्री के सेवा-व्रत का स्मरण दिलाते ही उसमें लोक-सेवा का भाव पुनः चेतन हो उठता है और वह सर्व-संमति से प्रेरित होकर मुकुट और राजदंड ग्रहण करता है। इस ग्रहण मे भी त्याग की सात्विकता मिश्रित है।

शांतिदेव

ऐहिक सुख से तटस्थ होना ही सन्यास है। जब तक मनुष्य के हृदय में सांसारिक आनंद के उपभोग की अभिलाषा वर्तमान रहती है, जब तक वह आशा-निराशा, सुख-दु.ख, ऐश्वर्य--अभिलाषा इत्यादि के संघर्ष में पड़ा रहता है तब तक अनेक प्रकार के सांसारिक प्रलोभन एवं आसक्ति का मायाजाल उसे भयभीत करता रहता है। वास्तव मे जब तक उसकी वृत्तियाँ संन्यस्त नहीं हो जाती तब तक सन्यास, प्रव्रज्या, विरक्ति तथा निर्वेद की उपासना निरर्थक है। शांतिदेव बलात् बौद्ध संघ में भेज दिया गया है। उसमे प्रव्रज्या की योग्यता नही है। वह धार्मिक मर्यादा का निर्वाह करने मे सर्वथा असमर्थ है। उसमे सांसारिक मोह-माया, आशा-अभिलाषा और महत्त्वाकांक्षा का राक्षस पूर्ण रूप से सक्रिय है। वह अभी भाग्य की परीक्षा लेना चाहता है। सौंदर्य, विभव, शक्ति एवं संमान की कामना उसमे अभी वर्तमान है। असमय की यही प्रव्रज्या साहस तथा विरोध की भावना उत्पन्न करती है। 'संसार उसकी उपेक्षा करता है, उसकी अभिलाषाओं की कलिका को कुचल डालना चाहता है', यह देखकर उसके हृदय में घोर असंतोष उत्पन्न होता है। अपने विषय में वह निश्चय कर लेता है कि उसे केवल अपने 'भाग्य का भरोसा है'।

प्रथम अंक में उसके जीवन का उद्देश्य निश्चित रहता है। किसी प्रकार उलटा-सीधा उपदेश देकर सुरमा से पिंड छुड़ाता है। सुरमा में वह अपनी अभिलाषा का केवल एक अंश पाता है, अतएव स्थिर रूप में उसके प्रेम के प्रस्ताव को न तो स्वीकार करता है और न अस्वीकार, यों ही उसे बातों में फँसाए रखना चाहता है—'उता-वली न हो सुरमा! अभिलाषा के लिए इतना चंचल न होना चाहिए'। इस प्रकार का सूखा ज्ञानोपदेश देकर आगे बढ़ता है। अपने भाग्य की परीक्षा लेने के अभिप्राय से राज्यश्री के संमुख

याचक रूप मे उपस्थित होता है। वहाँ भी अतुल रूपराशि एवं अपरिमित धन-वितरण का विधान देखकर सापेक्ष रूप में केवल अपनी क्षुद्रता का विचार करता है—'विश्व मे इतनी विभूति है और मै अत्यंत ऊँचाई की ओर देखता हुआ केवल उलट जाता हूँ चढने को कौन कहे'। अपनी दरिद्र कल्पना से परे 'इतना सौंदर्य, विभव और शक्ति एकत्र, पाकर वह अवाक् रह जाता है। क्षोभ तथा आत्मश्लाघा उसे दान भी नही लेने देती।

असफलता के कठोर आघात से व्यथित होकर वह पुनः सुरमा के उपवन मे लौट आता है और विचार करता है—'सुरमा! जीवन की पहली चिनगारी वह भी किधर बुझ गई। धधक उठी एक ज्वाला राज्यश्री! मूर्ख! निश्चित नही कर पाता कि सुरमा या राज्यश्री। उसके जलते हुए ग्रह-पिड के भ्रमण का कौन केंद्र है'। उस मूर्ख प्रवंचक को महत्त्वाकांक्षा ने अंधा बना दिया है। उसकी बुद्धि, विवेक से सर्वथा शून्य है। वह वर्तमान से असंतुष्ट है, परंतु भविष्य की रूप-रेखा के भी निश्चित करने मे अशक्त है। अपने भिक्षु-जीवन के विषय मे तो निर्णय कर लेता है—'नही, सब मेरे लिए नही है'। फिर विचार करता है—'अब यही कुटी मे रहूँगा, तो क्या मै तपस्वी होऊँगा। नही, अच्छा जो नियति करावे'। इस प्रकार के अस्थिर बुद्धि के मनुष्य का जीवन और भविष्य कितना अंधकारपूर्ण तथा समाज के लिए कितना घातक हो सकता है इसी का चित्रण विकटघोष के रूप मे हुआ है।

आकस्मिक रूप में उसकी भेट दो डाकुओं से हो जाती है। उनको भी अपने ही पथ का पथिक समझ कर विकटघोष उनके साथ हो लेता है और राज्यश्री को उड़ा ले जाने मे संनद्ध होता है। अपनी कार्यप्रणाली का भावी क्रम स्थिर कर लेने पर वह अपने साथियों को लिए हुए सेनापति भंडि के समीप आता है और कहता है—'हम लोग साहसिक हैं, परतु अब चारित्र्य और वीरतापूर्वक जीवन व्यतीत करना चाहते है। देवगुप्त हमारा चिरशत्रु है, उससे प्रतिशोध लेना हमारा अभीष्ट है।' इस असत्य भाषण के अतिरिक्त वह प्रलोभन भी देता है—'मै आपका उपकार करूँगा, विजय मे उपयोगी सिद्ध हो सकूँगा। मुझे कान्यकुब्ज-दुर्ग के गुप्त-मार्ग विदित

है, उनके द्वारा सुगमता से आपको विजय मिल सकती है' इस प्रकार अपनी माया एवं प्रवंचना का जाल बिछाता है और पंचनद-गुल्म में संमिलित हो जाता है। समय आने पर कान्यकुब्ज के बंदी-गृह में पहुँचता है। उसका अभीष्ट तो था बंदीगृह से राज्यश्री को मुक्त करना, उसे अपने अधिकार में लेकर उड़ जाना, परंतु मार्ग में सुरमा के मिल जाने से उसका विचार उस ओर भी आकृष्ट होता है। सुरमा का स्वरूप और आचरण समझकर वह यह दृढ़ कर लेता है कि उसके साथ जीवन में यदि चल सकती है तो सुरमा ही। यही कारण है कि उस कुसमय में भी वह सुरमा को नहीं छोड़ सकता। वह सुरमा के सम्मुख स्पष्ट स्वीकार करता है कि 'तुम चाहे कितनी भी कुटिलता ग्रहण करो पर मैं तुम्हें……'।

विकटघोष के चरित्र-चित्रण में लेखक अत्यंत सजग दिखाई देता है। उसने बड़ी मार्मिकता से उसके पतन का चित्र खड़ा किया है। उसके जीवन की गति में किस कारण और किस समय कैसे परि-वर्तन उत्पन्न हुए हैं इसका क्रमिक विवरण लेखक ने उपस्थित किया है। प्रत्येक अंक में उसका एक नवीन स्वरूप दिखाई पड़ता है। तृतीय अंक के आरंभ में जब राज्यश्री को उसके दूसरे दस्यु साथी ले भागते हैं तब उसके जीवन का प्रवाह एक बार फिर रुकता है; वह विचार करता है कि 'इस प्रकार चलने में भी असफलता ही हाथ लगी'। इन असफलताओं का सामना करते-करते वह व्यथित हो उठता है। उसने विचार कर रखा था कि राज्यश्री का सुंदर स्वरूप अपने अधिकार में आ जायगा और उसके कारण अपार विभव प्राप्त होगा, परंतु यह कठोर कामना अपूर्ण ही रह जाती है। हाँ, इस घटना-क्रम से अंधकार में सुरमा की प्राप्ति ने—क्षीण ही सही—एक प्रकाश-रेखा झलका दी। उसने इतने ही को यथेष्ट समझा—वह साहसिक है न! सुरमा के हृदय में जो निर्बल स्त्री-सुलभ आशंका एवं अविश्वास का एक कारण—राज्यश्री—खटकती थी उसके विषय में विकटघोष ने स्पष्ट स्वीकार कर लिया—'पर उसकी प्यास तुम्हीं ने जगा दी थी। मैं विचार करता था कि किधर बढ़ूँ। रूप और विभव दोनों के प्रभाव ने मुझे अभिभूत तो कर दिया था, किंतु मैं तुम्हें भूला नहीं, सुरमा!'

विकटघोष ने इस प्रकार अपने जीवन की दो आकांक्षाओं—रूप और विभव—में से एक की प्राप्ति स्थिर कर ली। अब दूसरी की सिद्धि के लिए प्रयत्नशील होता है और तुरत अपना भावी मार्ग निश्चित कर लेता है। ससार द्वारा सर्वथा उपेक्षित होकर वह अब अपने सुधार से निराश हो चुका है, परंतु हृदय मे कामना की बढ़िया का रौद्र रूप उसे कल नहीं लेने देता। वह किसी भी बात को सोचता है तो बड़ी तीव्रता से। ससार ने जो उसकी घोर उपेक्षा की है उसके प्रतिकार के लिए वह सनद्ध है। उसने भी दृढ़ कर लिया है कि 'संसार ने हम लोगों की ओर आँख उठाकर नहीं देखा और देखेगा भी नही, तब उसकी उपेक्षा ही करूँगा। यदि कुछ ऐसा कर सकूँ कि वह मुझे देखे, मेरी खोज करे, तब तो सही'। अभी तक उसे समाज के बचनों का भय है। संसार एक कठोर आलोचक है, यह वह समझता है, इसलिए अपनी असाधु-वृत्तियों को स्वतंत्र रूप से प्रकट नही होने देता, परतु जब उसे निश्चय हो जाता है कि उसके इस नियंत्रण का भी कोई स्पष्ट महत्त्व नही है, तब अपनी राक्षसी लीलाओं एवं पाशविक कृत्यों द्वारा ही समाज और संसार को भय-त्रस्त करना वह अपना अभीष्ट बना लेता है। अब शील-सकोच का डर उसे भयभीत नही कर सकता। साथ ही यह भी स्थिर हो जाता है कि पतन की ओर यहाँ तक बढ आने पर लौटना असंभव है। मनुष्य के आंतरिक भावावेश की आभा बाह्य रूप में तुरत प्रतिबिंबित हो उठती है। यही कारण है कि नरेंद्रगुप्त को उसके ललाट पर रक्त और हत्या का स्पष्ट उल्लेख आभासित हो जाता है।

परिस्थिति एव घटनाओं के घात-प्रतिघात के कारण विकटघोष मनुष्य-कोटि से गिर जाता है। उसके कार्यों में विवेक की वह झलक नही मिलती जो मनुष्य मे मिलनी चाहिए। उसके लिए जीवन बड़ा कठोर बन जाता है। वह तो स्पष्ट स्वीकार करता है—'सच बात तो यह है कि मुझे अपने सुख के लिए सब कुछ करना अभीष्ट है'। उसके अभीष्ट-साधन में संसार किसी प्रकार का योग नही देता, उसके लिए किसी के हृदय मे किसी प्रकार की शुभकामना नहीं है, इसलिए उसका दृढ़ विश्वास है कि 'मेरे लिए तो सभी शत्रु हैं'।

जिस मनुष्य मे न तो चरित्र तथा मनोबल होता है और न सस्कृति ही का अवलब रहता है, वह यदि पतन की ओर कुछ आगे बढ़ जाता है तो फिर उसके उद्धार की शीघ्र कोई संभावना नही दिखाई पड़ती। तृतीय अंक के अत मे विकटघोष भयकर धन-लोलुप तथा हत्यारा बन जाता है। वह एक हत्या कर चुका है। उसका समाज-भय मर चुका है। अब उसे हत्या करने मे थोडा भी सकोच नही होता। वह हत्या तथा रक्त की अरुणिमा में मनोरजन एव लालित्य देखता है। उसको राज्यवर्धन की हत्या का स्मरण बड़ा उत्साहवर्द्धक मालूम पड़ता है। वह स्वयं स्वीकार करता है—'अब तो मै रक्त देखकर कितना प्रसन्न होता हूँ'। मनुष्य मे जब इस प्रकार की पाशव वृत्तियाँ पूर्ण रूप से जागरित हो जाती है तब वह शाति और धर्म की उपेक्षा ही नही करता वरन् उसका घोर शत्रु बन बैठता है। धर्म और शांति का नाम सुनते ही वह क्रोधातुर हो उठता है और कठोर आलोचक बनकर कहता है—'मूर्ख! शांति को मैने देखा है, कितने शवों मे वह दिखाई पड़ी। शांति को मैने देखा है, दरिद्रों के भीख माँगने में। मै उस शांति को धिक्कार देता हूँ। धर्म को मैने खोजा—जीर्ण पत्रो मे, पंडितों के कूट तर्क में उसे बिलखते पाया। मुझे उसकी आवश्यकता नहीं।

सुरमा

सुरमा पुष्पलावी मात्र है। महाराज ग्रहवर्मा के राजमदिर मे वह नित्य अपनी पुष्प-रचना लेकर आती है। वहाँ अपार विभव एवं विलास की तुलना मे अपने निरीह और महत्त्वहीन जीवन को देखते-देखते वह व्याकुल हो उठी है। ऐहिक सुख के इंद्रधनुष का अति-रंजित स्वरूप देखकर इसकी प्राप्ति की स्वाभाविक कामना उसके हृदय मे उत्पन्न होती है। अपने साधारण जीवन से वह असतुष्ट है और उसको विश्वास है कि इसमें अवश्य सुधार होगा। उसने शाति देव को प्रलोभन के रूप में विश्वास दिलाया है कि 'मै आजीवन किसी राजा की विलास-मालिका बनाती रहूँ ऐसा मेरा अदृष्ट कहे तो भी मै मान लेने में असमर्थ हूँ'।

प्रेम-पक्ष मे भी सुरमा की वही गति है जो एक विवेकहीन स्त्री की होनी चाहिए। उसकी महत्त्वाकांक्षा, आतुरता और चंचलता ने

उसके जीवन को उच्छृंखल बना दिया है। अपनी क्षणिक अभि-लाषाओं की पूर्ति के विचार से वह बवंडर की भाँति कभी इधर कभी उधर भ्रमित होती है। पूर्ण यौवन के मद से वह विह्वल है। अतृप्त वासना ने उसे इतना अधिक चचल बना दिया है कि अब वह एक क्षण भी ठहरना नही चाहती। समुख परिचित शांतिदेव को पाती है। उसको अपने अनुकूल बनाने की चेष्टा करती है और अपने प्रणय का प्रलोभन देती है। अपना हृदय उसके संमुख खोल-कर रखती है—'मेरी प्राणो की भूख, आँखों की प्यास तुम न मिटा-ओगे'। इतना स्पष्ट और सीधा प्रस्ताव उसके हृदय की आतुरता का व्यंजक है। शांतिदेव उसकी चंचलता को तुरत लक्षित कर लेता है। वहाँ अपने उद्देश्य को सिद्ध होते न देखकर वह तुरत दूसरी ओर दृष्टि फेरती है।

दूसरी ओर उसे मालव-नरेश देवगुप्त दिखाई पड़ता है। वह आच-रण-भ्रष्ट, कामुक और प्रवचक है। सुरमा का स्वरूप-सौंदर्य तथा भरा हुआ यौवन उसे आकृष्ट करता है। आचरण और स्वभाव मे दोनों एक ही है, अतएव आकर्षण एव संमोहन का प्रभाव दोनों पक्षों मे एक सा पडता है। देवगुप्त सुरमा का परिचय प्राप्त कर उसके उपवन मे कुछ दिन ठहरने की अभिलापा प्रकट करता है। स्त्रीत्व की साधारण मर्यादा के अनुसार कृत्रिम संकोच प्रकट करते हुए सुरमा कहती तो है—'मै अकेली इस उपवन मे रहती हूँ, आप एक विदेशी'—परतु उसके कुशल और स्निग्ध वार्तालाप के पाश की ओर अपने को धीरे-धीरे बढ़ाती भी चलती है। देवगुप्त उसकी वृत्तियो को ठीक से समझता चलता है। वह इस प्रकार के व्यवहार मे पटु है। किस प्रकार सुरमा क्रम से उसकी ओर खिचती आती है उसको भी वह देखता चलता है। एक वृक्ष के नोचे वह बैठ जाता है; सुरमा माला बनाती हुई उसे कनखियों से देखती जाती है। उसकी यह मुद्रा देखकर देवगुप्त और उत्साहित होता है और कहता है—'अरे तुम्हारा बाल-व्यंजन भी बन गया, कितना सुदर है। उन कोमल हाथों को चूम लेने का मन करता है जिन्होंने इसे बनाया है'। इस पर सुरमा मन में प्रमुदित होकर उसे और अधिक उत्साहित

करती है। आंतरिक प्रसन्नता और सफलता के आवेग को दबाकर हँसती हुई ऊपरी रोष प्रकट करती है—'आप तो बड़े धृष्ट हैं'। इसके उपरांत अपनी पुष्प-रचना लेकर इठलाती हुई जाती है। यहाँ पर लेखक ने सुरमा का जैसा आचरण और स्वरूप खड़ा किया है उसमे बड़ी स्वाभाविकता है। उसके कार्यों, वचनों एव आंगिक चेष्टाओं से उसकी आभ्यंतरिक वृत्तियों का स्पष्ट प्रकाशन होता है। पतित आचरण की विवेकहीन साधारण कोटि की स्त्री क्षणिक लालसाओं की पूर्ति के लिए अनुकूल परिस्थिति पाते ही कितनी उच्छृंखल एवं तरल हो सकती है इसका प्रमाण, लेखक ने सुरमा का स्वरूप संमुख रखकर, बड़ी मार्मिकता से दिया है।

इस प्रकार कुछ काल तक अबाध रूप मे दोनों के जीवन का प्रवाह चलता है। इस काल मे एक दूसरे को समझने की चेष्टा करते है और अपनी ओर अधिकाधिक आकर्षित करने का प्रयत्न करते हैं। समय-समय पर सुरमा अपनी दरिद्रता तथा वर्तमान जीवन के प्रति घोर असंतोष प्रकट करती चलती है। जीवन के प्रति असंतोष प्रकट करने के मूल मे परिस्थिति का केवल वास्तविक ज्ञान कराना ही अभिप्रेत नहीं है वरन् देवगुप्त की अनुकपा प्राप्त करना ही प्रधान उद्देश्य है। इधर देवगुप्त स्वय सहानुभूति-प्रदर्शन मे सचेष्ट है और एक भी अवसर हाथ से जाने नहीं देता। सुरमा को भी आश्चर्य होता है और वह देवगुप्त से कहती है—'क्यों, इतनी सहानुभूति तो आज तक किसी ने मेरे साथ नहीं दिखलाई'। उसके अभी तक के रूप-व्यापार और विचारों को देखकर देवगुप्त उसके विषय मे दो बातें स्थिर करता है—'कितनी भावनामयी यह युवती है और अवश्य इसके हृदय में महत्त्व की आकांक्षा है'। सुरमा की यथार्थता का स्पष्ट ज्ञान प्राप्त कर लेने पर देवगुप्त ने अपना वास्तविक परिचय उसे दिया है। सुरमा की आतरिक वृत्तियों से परिचित होकर उसने समझ लिया कि वह ऐहिक सुख के लिए लालायित है, जीवन मे आमोद-प्रमोद चाहती है। ऐश्वर्य-विभव मिलने पर वह सब कुछ करने को तत्पर हो सकती है। जब उसने इस मूल को पकड़ लिया तब नि:संकोच रूप मे अपना रहस्य प्रकट करता है—'सुरमा! मै श्रेष्ठी नहीं हूँ। आज मै तुम्हे अपना अभिन्न समझकर अपना रहस्य

कहता हूँ। मैं मालव-नरेश देवगुप्त हूँ'। इस प्रकार अपना वास्तविक परिचय देकर वह सुरमा को अवाक् कर देता है। फिर विचार करने के लिए बिना अवसर दिए ही तुरंत उसके संमुख अपना मंतव्य स्पष्ट शब्द मे रखता है—'चलोगी मेरे साथ'। इस पर परिस्थिति की दासी सुरमा का विवेकहीन हृदय उत्सुक हो उठता है—'इतना बड़ा सौभाग्य'। इस स्थल पर लेखक ने सुरमा के हृदय की एक सुंदर झलक दी है। ऐसी उद्वेगजनक परिस्थिति में भी वह अपने पूर्वपरिचित प्रेमी शांति भिक्षु को नहीं भूल सकी। उसकी स्मृति ने सुरमा को विकट परिस्थिति मे डाल दिया, परंतु अब वह आशापूर्ण भविष्य के लिए, प्रत्यक्ष-प्राप्त वर्तमान सुख के त्याग करने मे असमर्थ है।

फिर क्या। 'यौवन, स्वास्थ्य और सौंदर्य की छलकती हुई प्याली' देवगुप्त के विलास भवन मे पहुँचती है और वहाँ का वैभव देखकर कुछ दिनों के लिए तो वह चमत्कृत रहती है—'मै कहाँ हूँ। यह उज्ज्वल भविष्य कहाँ छिपा था और यह सुदर वर्तमान, इंद्रजाल तो नहीं है'। वस्तुत: उसके लिए यह जीवन एक इंद्रजाल ही प्रमाणित होता है। युद्ध की कठोर ध्वनि सुनते ही वह विलासी कायर देवगुप्त उसके बाहुपाश को छुड़ाकर भाग जाता है और वह फिर एक बार विकटघोष का पल्ला पकड़ती है। उसी के साथ दस्यु-मंडली की रानी बनी, नाना प्रकार के कुचक्रों मे पड़ी दिखाई देती है। जब उसका पुराना प्रेमी विकटघोष नीचता की सीमा से भी आगे निकल जाता है तो वह हृदय-प्रवण रमणी ऊब उठती है और परिवर्तन (सुधार) चाहने लगती है—'मै कहाँ चल रही हूँ.. ...नाचते हुए स्थिर जीवन में एक आंदोलन उत्पन्न कर देना, नही यह कृत्रिम है, यह नही चलेगा। राज्यश्री को देखती हूँ, तब मुझे अपना स्थान सूचित होता है, पता चलता है कि मै कहाँ हूँ'। जब यह तारतमिक बुद्धि उत्पन्न हो गई तो सुधार मे विलंब नहीं होता। वह दंड की भीख माँगती राज्यश्री के पास चली जाती है और काषाय स्वीकार कर लेती है। इस पात्र मे लेखक ने उतार-चढ़ाव खूब दिखाया है। चरित्र की दुर्बलताएँ मनुष्य को कितना नाच नचा सकती हैं इसका चित्रण सुरमा में अच्छा हुआ है।

अन्य पात्र

अन्य पात्रो के जीवन की कुछ रेखाएँ भर संमुख आई है और उसी प्रकार उनके चरित्र की झलक भर मिल सकी है। देवगुप्त कामुक, कुचक्री और कायर स्वभाव का व्यक्ति है। ग्रहवर्मा अचल और शांत प्रकृति का धीर व्यक्ति है, सुशासक और प्रेमी पति है। राज्यवर्धन पराक्रमी, वीर, कर्तव्यशील और बड़ी लाग का पुरुष है। उसमे आत्मविश्वास और उदारता का अच्छा मिश्रण दिखाई देता है। नरेंद्रगुप्त स्वार्थी, विलासी, व्यवहार-पटु, कुचक्री और नीच प्रकृति का मनुष्य है। उसकी क्षुद्रता, कुमंत्रणाओं और हत्या तक बढ सकती है। उसका सच्चे विश्वासघाती के रूप मे चित्रण हुआ है। पुलकेशिन् का व्यक्तित्व एक ही झलक मे मिल गया है। उसकी वाणी और कर्म मे सच्चे वीर की भाँति उत्साह और उदारता है।

इस नाटक का वस्तु-विन्यास साधारण, चरित्रांकन एकांगी और अविकसित रह गया है। इसका कारण बहुत ही स्पष्ट है। पुरानी इमारत का सुधार बहुत पुष्ट नही होता। नींव से ही जो अपुष्ट है उसकी बाहरी तड़क-भड़क से कहाँ तक काम चल सकता है।

अजातशत्रु

इतिहास

बुद्ध (५६७ ई० पू०—४८० ई० पू०) के जीवन-काल मे भारत के उत्तराखंड में अनेक गणतंत्रों और महाजनपदो की स्थापना हो चुकी थी। उनमे प्रमुख राज्य चार थे—मगध, कोशल, वत्स और अवंती। इनमें भी मगध प्रधान था। इसके शासकों ने तत्कालीन इतिहास मे बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त किया था[1]। उस काल के इतिहास का परिचय प्राप्त करने मे उस समय प्रचलित विभिन्न धर्मों की मतविधायिनी कृतियाँ एव साहित्य विशेप रूप से सहायक होते है। इसी कारण प्राय सभी इतिहास-लेखक इन्ही के आधार पर चलते दिखाई पड़ते है। इन मतमतातरो के झगड़े और खींच-तान के कारण एक ही घटना और व्यक्ति के विपय मे अनेक रूपों मे उल्लेख मिलता है। अतएव कही कही सत्य-निर्धारण मे बड़ी अड़चन होती है। इतना ही नही, व्यक्तियों के नामकरण मे भी भिन्नता दिखाई पड़ती है। बौद्ध, जैन और पुराण एक ही व्यक्ति को भिन्न-भिन्न नामों से पुकारते हैं। जैसे—अजातशत्रु के लिये कुणिक शब्द का भी व्यवहार हुआ है और बिबसार के लिए विध्यसेन और श्रेणिक नाम भी मिलते है।

बुद्ध के समय मे शिशुनाक[2]-वशीय बिबसार मगध का शासक था। उस समय मगध की राजधानी राजगह अथवा राजगृह थी। बिबसार शक्तिशाली और सुदृढ़ शासक था। अपनी शक्ति और राज्य-विस्तार के विचार से उसने अनेक राजाओ की कन्याओं से विवाह किया था। उसकी प्रमुख रानियों मे प्रसेनजित् की भगिनी कोशलदेवी और लिच्छवी वंश के राजा चेटक की पुत्री छलना और

---

१. डी० आर० भडारकर लेक्चर्स आन द एशियट हिस्ट्री आव् इडिया (डिलिवर्ड इन फरवरी, १९१८) पब्लिश्ड बाई द कलकत्ता युनिवर्सिटी, १९१९, पृ० ५७।

२. मत्स्य और वायु पुराणो मे इस शब्द का शुद्ध उच्चारण यही दिया है — (पारजिटर जे० आर० ए० एस०, १९१५) पृ० १४६।

मद्र (मध्य पंजाब) की कुमारी खेमा[1] थीं। यों तो अजातशत्रु की माता के नाम और वंश के विषय मे भी बड़ा मतभेद मिलता है[2], परंतु अधिकांश विद्वान्[3] और जैन-ग्रंथ यही मानते हैं कि वह वैशाली की राजकुमारी छलना का ही पुत्र था। निकायों मे भी उसे वैदेही-पुत्र नाम से ही इंगित किया गया है। तिब्बत के दुलवा (Dulva) मे उसकी माता का नाम वासवी लिखा मिलता है[4]। इस प्रकार बिंबसार ने अनेक राज्यों से वैवाहिक संबंध स्थापित किया था और कुछ राज्यों से मैत्री जोड़ ली थी। मित्रता के परिणाम-स्वरूप ही उसने जीवक को—जो तक्षशिला से आयुर्वेद की शिक्षा पूर्ण करके आया था और जिसे उसने अपना राजवैद्य नियुक्त किया था—अवंतिराज महासेन चंडप्रद्योत की चिकित्सा करने के लिए भेजा था। शासन-प्रबंध और योग्य मंत्रियों की व्यवस्था से उसके राज्य का अच्छा संघटन हुआ था[5]। स्वयं बौद्ध होते हुए[6] और बुद्ध के प्रति मैत्रीपूर्ण सम्मान दिखाते हुए भी धार्मिक विषयों मे अन्य संप्रदायों के प्रति वह सदैव उदार था। यहाँ तक कि उत्तराध्ययनसूत्र' प्रभृति जैन लेखों मे उसे महावीर और उनके धर्म का प्रेमी माना गया है[7]।

बिंबसार के अंतिम काल और उसके प्रति अजातशत्रु के कठोर व्यवहार के विषय मे भी मतभेद दिखाई देता है। अपने पिता के

---

१ लेक्चर्स आन द एंशियंट हिस्ट्री आव् इंडिया, पृ० ७३–७४।

२. हेमचंद्रराय चौधरी पोलिटिकल हिस्ट्री आव् एंशियंट इंडिया, पृ० १३७–८।

३ (क) लेक्चर्स आन द एंशियंट हिस्ट्री आव् इंडिया, पृ० ७७।
(ख) वी० ए० स्मिथ द अर्ली हिस्ट्री आव् इंडिया, चतु० सं०, पृ० ३३।
(ग) जे० एन० समाद्दार द ग्लोरीज आव् मगध द्वि० सं०, पृ० १८।

४ (क) वी० ए० स्मिथ द अर्ली हिस्ट्री आव् इंडिया, पृ० ३७, (फुटनोट)।
(ख) डिक्शनरी आव् पाली प्रापर नेम्स वाल्यूम १, पृ० ३४।

५. (क) एच० राय चौधरी लेक्चर्स आन द एंशियंट हिस्ट्री आव् इंडिया, पृ० १३६।
(ख) डिक्शनरी आव् पाली प्रापर नेम्स वाल्यूम १, पृ० ६५७।

६. वही ' वाल्यूम २, पृ० २८५।

७. आर० एस० त्रिपाठी हिस्ट्री आव् एंशियंट इंडिया, पृ० ६४।

जीवन-काल मे ही अजातशत्रु चंपा[1] का शासन करता था। देवदत्त बुद्ध का बड़ा भारी शत्रु था और बिंबसार को बौद्धधर्म का संरक्षक मानता था। उसने अजातशत्रु को अपने इद्धि-चमत्कारों से मुग्ध करके अपना अह्मास्त्र बनाया था। एक ओर तो उसे अपने पिता को मारकर शासन-भार पूर्णतया अपने हाथ मे लेने का आदेश दिया और दूसरी ओर स्वयं स्वतन्त्र संघ का निर्माता बनकर अनेक उपायों से बुद्ध के मारने का यत्न करने लगा, परंतु वह सभी अवसरो पर विफल रहा। एक बार अस्वस्थावस्था में जब वह बुद्ध की ओर जा रहा था तो जेतवन के एक जलाशय मे जलपान के लिए उतरा और वहीं, पृथ्वी मे धँसकर विलीन हो गया[2]। अजातशत्रु ने उसी के मत मे आकर अपने पिता की हत्या करने की चेष्टा की, परंतु उसे स्वयं शासन-भार त्याग करते देखकर बदी-गृह मे डाल दिया और निराहार रखकर मृत्यु की अवस्था तक पहुँचा दिया। जिस दिन उसे पुत्र उत्पन्न हुआ और स्वय पुत्र-स्नेह का अनुभव हुआ उस दिन वह दौड़कर पिता के समीप गया, परंतु तब तक तो बिंबसार की अंतिम घड़ी आ चुकी थी[3]। इस प्रकार बिंबसार का अंत बडा दु:खद और क्रूरता-व्यंजक था। इस घटना की अतिशयता स्मिथ साहब ठीक नहीं मानते,[4] परंतु रिजडेविड्स और गेजर प्रभृति विद्वान् इसी निर्णय पर पहुँचते हैं। साथ ही इनके मत का समर्थन प्राचीन एव स्वतंत्र जैन लेखक भी करते हैं[5]। बिंबसार की मृत्यु के उपरांत उसी के शोक मे उसकी पत्नी कोशलदेवी का भी देहांत हो गया था।

---

१. चपा—प्राचीन अगदेश (वर्तमान भागलपुर और सभवत्न मुँगेर जिले) की राजधानी थी।

(क) द अर्ली हिस्ट्री आव् इंडिया, पृ० ३२।

(ख) हिस्ट्री आव् एशियट इडिया, पृ० ६४।

२. डिक्शनरी आव् पाली प्रापर नेम्स, वाल्यूम १, पृ० ११०८–१०।

३. दिग्घनिकाय, सामञ्जफलसुत्त की टिप्पणी, अट्ठकथा, पृ० १६ (महाबोधि सभा, सारनाथ द्वारा प्रकाशित), सन् १९३६।

४. द अर्ली हिस्ट्री आव् इडिया, पृ० ३३।

५. हेमचंद्रराय चौधरी पोलिटिकल हिस्ट्री आव् इडिया (१९३२), पृ० १३९।

कोशल-नरेश प्रसेनजित् ने विरोध-रूप मे काशी की आय पर पुन: नियंत्रण कर लिया था और इस प्रकार जो एक लक्ष की आय का उपभोग मगध राज्य किया करता था उससे अजातशत्रु वंचित हो गया। इस पर मगध और कोशल का युद्ध छिड़ गया। कभी विजय इस पक्ष मे रही और कभी उस पक्ष मे। अत मे प्रसेनजित् को सफलता प्राप्त हुई और अजातशत्रु बदी रूप मे कोशल लाया गया, परंतु यह विरोध अधिक समय तक नही टिका। कोशल-नरेश ने अपनी पुत्री बाजिराकुमारी का विवाह अजातशत्रु के साथ कर दिया और दहेज-रूप मे पुन काशी-प्रात और उसकी संपूर्ण आय उसे दे दी[1]। कोशल के अतिरिक्त अजातशत्रु ने संपूर्ण वैशाली प्रात पर भी सफलतापूर्वक विजय प्राप्त की थी और सारे तिरहुत को अपने राज्य के अंतर्गत कर लिया था। इस युद्ध मे मल्लों ने लिच्छवियों की सहायता की थी। अतएव उनके साथ इनका भी पराभव हुआ। इस प्रकार अजात ने कोशल के कुछ अश, सपूर्ण वैशाली और मल्लों पर विजय प्राप्त की थी[2]।

एक बात प्राय सभी इतिहास लेखक सामान्यरूप से स्वीकार करते है। मगध का बिबसार, कोशल का प्रसेनजित्, अवती का चड-प्रद्योत महासेन और कौशांबी का उदयन ये चारों यशस्वी शासक बुद्ध के ही समकालीन थे। किसी न किसी रूप मे इनका और बुद्ध का संबंध तत्कालीन साहित्य, इतिहास और धार्मिक ग्रंथों में समान ढग से वर्णित हुआ है। राजनीतिक संबध के अतिरिक्त इन चारों शासकों मे कौटुंबिक संबध भी स्थापित था और ये मित्र थे। किसी कारण विशेष से कभी-कभी इनमे विरोध उत्पन्न हो जाता था परतु फिर शीघ्र ही उस विरोध का शमन भी किसी सुदर ढंग से हो जाता था।

बिबसार और बुद्ध का घनिष्ठ मित्र एवं समकालीन प्रसेनजित् काशी तथा कोशल का अधिपति था[3]। भद्साल जातक के अनुसार

१ (क) डी० आर० भडारकर लेक्चर्स आन द एंशियट हिस्ट्री आव् इडिया (१९१९) पृ० ७६–७७।

(ख) जातक वाल्यूम २, पृ० २३७, ४०३, ऐंड वाल्यूम ४, पृ० ३४२।

२ डी० आर० भडारकर, लेक्चर्स आन द एंशियट हिस्ट्री आव् इंडिया (१९१९), पृ० ७८–७९।

३. मज्झिमनिकाय (पाली टेक्स्ट सोसायिटी) वाल्यूम २, पृ० १११।

शाक्य देश भी उसी के प्रभुत्व के अंतर्गत था[1]। शाक्य लोगों ने षड्यंत्र करके अपने यहाँ की एक नीचकुलोत्पन्ना कुमारी वासभाखत्तिया[2] से कोशल-नरेश का विवाह कर दिया। इसी महादेवी[3] का पुत्र विडुडूभ अथवा विरुद्धक था जो प्रसेनजित् के उपरात कोशल का शासक बना। कालांतर मे जब इस कुमार को अपने मातृ-पक्ष की हीनता का ज्ञान हुआ और शाक्यों की दुर्मति का पता चला तब वह बडा कुपित हुआ। शासन-भार अपने हाथों मे लेकर उसने शाक्यों से भरपूर बैर चुकाया—बडी निर्दयता एव क्रूरता से उनका नाश किया[4]। प्रसेनजित् को जब अपनी महादेवी के कुलशील का पता चला तब उसे और उसके पुत्र को उसने अपदस्थ कर दिया था, परतु अत मे बुद्ध के आदेश से पुन उन्हे वही पद प्राप्त हो गया था। इसी प्रसग मे बुद्ध ने कष्टहारिक जातक का उपदेश किया था।

विरुद्धक ने अपने पिता के विरुद्ध विप्लव भी किया था। इस विषय मे प्रधान सेनापति दीघकारायण—दीर्घकारायण—ने उसकी बड़ी सहायता की थी। यह दीघकारायण अपने चाचा[5] बधुल मल्ल के स्थान पर नियुक्त हुआ था। यह बंधुल कुशीनारा के मल्ल सामंत का राजकुमार था। इसकी मित्रता प्रसेनजित् के साथ उस समय हुई थी जब दोनों तक्षशिला मे विद्यार्थी-जीवन व्यतीत कर रहे थे। पीछे बंधुल श्रावस्ती मे जाकर रहने लगा क्योंकि प्रसेनजित् ने उसे अपना सेनापति बना लिया था। वह दुर्जेय वीर और तेजस्वी था। उसकी पत्नी का नाम मल्लिका था, जो बुद्ध की परम भक्त थी। एक बार गर्भावस्था मे उसने वैशाली[6] के कमल-सरोवर का जल पीने की इच्छा प्रकट की। वैशाली के लिच्छवी राजकुमार इस सरोवर की पवित्रता का संरक्षण बडी कठोरता से किया करते थे, क्योंकि इसका

---

१. भद्दसालजातक ४, पृ० १४४।

२ 'प्रसाद' ने इसी का काल्पनिक नाम शक्तिमती रखा है।

३ अंगुत्तरनिकाय (पाली टेक्स्ट सोसायिटी (वाल्यूम ३, पृ० ५७।

४. धम्मपद अट्ठकथा (पाली टेक्स्ट सोसायिटी), वाल्यूम १, पृ० ३३९, जातक वाल्यूम १, पृ० १३३, वाल्यूम ४, पृ० १४४।

५ 'प्रसाद' के अनुसार मामा।

६. पता नही 'प्रसाद' ने इस स्थल को 'पावा' किस आधार पर लिखा है॥

जल केवल राज्याभिषेक में ही ग्रहण किया जाता था। इसकी रक्षा मे अनेक वीर नियुक्त रहते थे। पत्नी की दोहद-इच्छा पूर्ण करने के लिए बंधुल स्वयं चला और उस सरोवर के रक्षकों को परास्त कर उसने मल्लिका को जलपान कराया। वहाँ से लौटते समय बंधुल और लिच्छवियों में युद्ध हुआ, जिसमें ऐसी सफाई से बंधुल ने बाण चलाये कि विरोधी वीर दो-दो खड हो गए, परंतु उन्हे अपनी इस स्थिति का पता तब चला जब उन्होंने कमरबंद खोली[1]।

प्रसेनजित् बंधुल की योग्यता और यश से भयभीत रहता था। दुष्ट मन्त्रियों के परामर्श में पड़कर उसने बंधुल और उसके पुत्रों को आज्ञा दी कि वे सीमाप्रात के विप्लव को दबाने जायँ। इसी के साथ गुप्त आज्ञा भी प्रचारित की कि वे मार्ग मे ही किसी प्रकार मार डाले जायँ। राजाज्ञानुसार वे मार डाले गए। यह सूचना मल्लिका के पास उस समय पहुँची जब वह बुद्ध[2] और सरिपुत्र प्रभृति को उनके मुख्य शिष्यों के साथ भोजन करा रही थी। सूचना-पत्र पढ़कर अपने वस्त्र में छिपाकर वह फिर अपने कार्य में लग गई। भोजन के उपरांत जब उपस्थित वर्ग को सब बातें ज्ञात हुईं तो उसके धैर्य तथा शांति की मुक्तकठ से प्रशंसा हुई। अपने अपकार करनेवाले के प्रति भी उसमे उग्र विद्वेष नहीं दिखाई पड़ा। प्रसेनजित् को जब यह प्रसंग ज्ञात हुआ तो उसे बड़ा पश्चात्ताप हुआ और उसने प्रायश्चित्त रूप मे उससे बडी क्षमा-याचना की और बधुल के भतीजे (भानजे) दीर्घ-कारायण को सेनापति नियुक्त किया। प्रसेनजित् को मल्लिका ने तो क्षमा कर दिया परंतु दीर्घकारायण ने इसका घातक प्रतिकार किया था। अवसर पाकर प्रसेनजित् के विरुद्ध उसने विरुद्धक को अपनी चातुरी और शक्ति से सिंहासन पर बैठाया। पीछे इसी दुःख को लेकर प्रसेनजित् मरा भी[3]।

---

१ डिक्शनरी आव् पाली प्रापर नेम्स, वाल्यूम २, पृ० २६६–६७।

२. पपञ्च सूदनी, मज्झिमनिकाय कमेंट्री अलुविहार सिरीज, कोलंबो वाल्यूम २, पृ० ७५३।

३. (क) धम्मपद अट्ठकथा, वाल्यूम १, पृ० २२८, ३४९–५६, जातक वाल्यूम ४, पृ० १४८।

(ख) आर० एस० त्रिपाठी हिस्ट्री आव् एंशियट इंडिया, पृ० ९२।

वत्सराज उदयन की राजधानी कौशांबी थी। वत्स तत्कालीन इतिहास के प्रमुख राज्यों मे था। उदयन के जन्म और जीवन से संबंध रखनेवाली अनेक काव्य-कथाएँ मिलती है। सोमदेव रचित 'कथा-सरित्सागर' (ग्यारहवी शताब्दी)–भास के दोनों नाटक 'स्वप्नवासवदत्ता' और 'प्रतिज्ञायौगंधरायण', श्रीहर्ष की 'रत्नावली' एव 'प्रियदर्शिका' इत्यादि साहित्यिक कृतियों मे उसका अनेक प्रकार से उल्लेख मिलता है। इतिहास-लेखकों ने भी इन्ही आधारों को अपनाया है। काव्यात्मकता को छोड़कर इतना तो स्पष्ट ही है कि उदयन प्रमुख शासक था और वैवाहिक नीति के बल से अवती, मगध एव अग राज्यों से सबद्ध था[1]। इसकी तीन रानियो का विशेष उल्लेख है—अवती-नरेश चडप्रद्योत् अथवा चंड महासेन की पुत्री वासुलदत्ता अथवा वासवदत्ता, बौद्धग्रथों मे कथित श्यामावती अथवा पुराण और काव्यग्रथों मे उल्लिखित मगध-शासक दर्शक (अजातशत्रु ?)[2] की बहन पद्मावती एव मागधीय ब्राह्मण की कुमारी मागंधी।

मागंधी के पिता ने उसके विवाह का प्रस्ताव बुद्ध से किया था, परतु उन्होंने तिरस्कारपूर्वक अस्वीकृत कर दिया था। इसीलिए मागंधी के मन में बुद्ध के प्रति निरादर था। पद्मावती मागंधी होने के नाते बुद्ध की भक्त थी। वत्सराज स्वयं धर्मप्रिय न था, परंतु किसी धर्म का विरोध न करता था। बुद्ध के नाते मागधी पद्मावती से भी विरोध मानती थी और उसे अपमानित करने की चेष्टा मे लगी रहती थी। ऐसे अनेक उपघातों का उल्लेख मिलता है। उदयन के वाद्ययन्त्र मे सर्प छिपाकर रखने का अभिप्राय यह था कि सहसा प्रकट होने पर उदयन के हृदय मे यह विश्वास होगा कि पद्मावती उसके जीवन पर घात करना चाहती है। उदयन जब वाद्ययन्त्र अपने पास रखकर सोया और उसमे से वह सर्प निकला उस समय उसे इसका अवश्य विश्वास हो गया। इस पर वह पद्मावती पर बड़ा कुपित हुआ और उसकी छाती मे पूरी शक्ति से एक कठोर बाण मारा, परंतु पद्मावती

१ वही पृ० ६०।

२ डी० आर० भडारकर लेक्चर्स आन द एशियट हिस्ट्री आव् इडिया (१९१९), सेकेंड लेक्चर।

के सत्यबल के कारण वह बाण विफल हो गया। उदयन को भी उसकी पवित्रता का निश्चय हो गया। इसी प्रकार मागंधी यह आक्षेप किया करती थी कि पद्मावती अपने निवास-स्थान में लुक-छिपकर बुद्ध को आते-जाते देखा करती है। इस पर उदयन ने उस स्थान के सभी गवाक्ष बंद करा दिए थे। जब सब भाँति मागंधी हार गई तो अंत में उसने अपने चाचा के योग से षड्यंत्र करके पद्मावती के गृह में आग लगवा दी। जब सत्य का पता चला तो उदयन उस पर अत्यंत कुपित हुआ[1]।

बुद्ध के धर्म और समय से संबंध रखनेवालों में तीन व्यक्तियों का नाम विशेष रूप में लिया जाता है। आनंद उसी दिन उत्पन्न हुआ था जिस दिन बुद्ध। वह शुद्धोदन के भाई अमितोदन का पुत्र था। अतएव बुद्ध का चचेरा भाई और बड़ा ही प्रिय शिष्य था। उसका सद्धर्म में अटूट विश्वास था। पीछे चलकर बुद्ध की वृद्धावस्था में वही उनका प्रधान साथी और सेवक बना था। संपूर्ण धर्म में नाना प्रकार की प्रमुखता उसे प्राप्त थी। वह बुद्ध का सच्चा भाष्यकार और धर्मप्रचारक था[2]। उसका अभिन्न मित्र और बुद्ध का मुख्य शिष्य सारिपुत्र थेर था। उसका व्यक्तिगत नाम उपतिस्स था, जो उसके मूल निवासस्थान के आधार पर था। उसके पिता वर्णगत ब्राह्मण थे और उसकी माता का नाम रूपसारी था। बुद्ध ने अपने शिष्यों में स्वयं ही उसे सर्वश्रेष्ठ पद दिया था और अपने बाद उसी की मर्यादा स्थापित की थी। उसकी अलौकिक बुद्धि और ज्ञान में पूर्वजन्म के सुंदर कर्मों का लोकोत्तर संस्कार था[3]। सारिपुत्र के उपरांत द्वितीय प्रमुख स्थान महा मोग्गलायन थेर का था, जिसका जन्म राजगृह के समीप कोलित ग्राम में हुआ था। इसकी माता मोग्गली ब्राह्मणी थी तथा पिता उस ग्राम का मुखिया था। मोग्गलायन एवं सारिपुत्र के

---

१ डिक्शनरी आव् पाली प्रापर नेम्स, वाल्यूम २, पृ० ५६६।

२. वही वाल्यूम २, पृ० २४६।

३ वही वाल्यूम २, पृ० १०८।

कुटुंबों में कई पीढियों से घनिष्ठ मैत्री चली आ रही थी। इसीलिए इन दोनों बौद्ध शिष्यों में भी अभिन्नता थी। वय में ये दोनों बुद्ध से ज्येष्ठ थे। मोग्गलायन मे इद्धि-शक्ति की विशिष्टता थी और बुद्धि के क्षेत्र में भी सारिपुत्र को छोड़कर वह सर्वश्रेष्ठ था[१]।

बौद्धग्रथों मे अंबपाली-अंबपालिका-का प्राय' वर्णन आता है[२]। तत्कालीन समाज-क्षेत्र मे वेश्याओं के वर्ग और व्यवसाय का संमान होता था। काशी की वारविलासिनी सामावती का उल्लेख भी उसी रूप मे मिलता है[३]। यह अबपाली वैशाली के राज्योद्यान मे सहसा अवतरित हुई और सौंदर्य की प्रतिमा के रूप मे विकसित हुई। आगे चलकर इसका सबंध केवल सामंतों तक ही परिमित नही रहा वरन इसके सरक्षक और प्रेमी रूप में सम्राट् बिंबसार तक का उल्लेख प्राप्त है[४]। विशेष रूप में यह वैशाली के राजकुमारों की प्रेमिका बनी रही। अत मे बुद्ध के द्वारा सद्धर्म मे दीक्षित हुई थी। बुद्ध को वैशाली के समीप कोटिग्राम मे आया सुनकर यह अपनी परिचा-रिकाओं के साथ स्वयं वहाँ गई थी और भगवान् को भोजन के लिए निमत्रित कर आई थी। दूसरे दिन बुद्ध उसके यहाँ गए और भोजन किया था। उसी बिदाई मे इसने अपना उद्यान अंबपालिवन संघ को समर्पित कर दिया था। अत मे इसने अर्हत् पद प्राप्त किया था।

प्रथम संस्करण

'राज्यश्री' एवं 'विशाख' के प्रथम और अन्य सस्करणों में बड़ा अंतर हो गया है। यह अंतर कुछ तो सिद्धांत-संबंधी है और कुछ

---

१ वही पृ० ५४१।

२ (क) सुमगल वितासिनी पाली टेक्स्ट, वाल्यूम ११, पृ० ५४५
(ख) विनयपिटक अल्डनबर्ज वाल्यूम १, पृ० २३१–३३।
(ग) दिग्घनिकाय पाली टेक्स्ट सोसायिटी वाल्यूम ११, पृ० ६५–६८।
(घ) थेरीगाथा कमेंट्री पाली टेक्स्ट सोसायिटी पृ० २०६-७, २५२–७०।

३ देखिए कणवेर जातक।

४ थेरीगाथा, प्रथम भाग, पृ० १४६।

चरित्राकन-सबधी । 'अजातशत्रु' के भी प्रथम और अन्य संस्करणो मे अतर अवश्य है, परतु चरित्र-चित्रण में कोई विशेष परिवर्तन नही दिखाई पडता । केवल कथोपकथन ही यत्र-तत्र बढ़ा-घटा दिए गए हैं—वे भी भाव और उक्ति के स्पष्टीकरण के ही निमित्त । कही-कही तो ऐसा भी हुआ है कि प्रथम सरकरण मे कथोपकथन के बीच जो पद्याश आ गए थे उनको हटा देने के कारण अन्य सरकरणों मे कुछ अश बढ़ाने पडे हैं । इसलिए साधारणत देखने मे तो अंतर दिखाई देता है, परंतु यह अंतर न तो सिद्धांत संबधी है न चरित्र और कथानक सबंधी । 'राज्यश्री' की आलोचना मे कहा जा चुका है कि आरंभ मे कथोपकथनों के बीच मे पद्यांशो के प्रयोग की एक विशेष प्रवृत्ति 'प्रसाद' मे थी । इसी विचार से इस नाटक के भी प्रथम सस्करण के आरंभिक अश के कथोपकथनो में प्राय. पद्यांशो का प्रयोग हुआ है । अतएव जैसे 'राज्यश्री' के परिवर्धित सरकरण से पद्याश पृथक् कर दिया गए है उसी प्रकार 'अजातशत्रु' से भी । इसके अतिरिक्त कहीं-कहीं गाने भी घटा-बढ़ा अथवा परिवर्तित कर दिए गए है । ऐसा करने से कोई विशेष अंतर नहीं होने पाया ।

ऐतिहासिक आधार

'प्रसाद' जी के कथानकों का आधार प्राय. इतिहास ही रहता है, यों तो यथावसर ऐतिहासिक सत्य की रूक्षता बचाने के लिए उन्होंने कल्पना और भावुकता का आश्रय लिया है; परंतु इस नाटक मे काल्पनिक भावुकता की ऐतिहासिक परंपरा स्थापित करने की पूर्ण चेष्टा की है । इस नाटक के प्रधान पात्र बुद्धदेव, बिंबसार, अजातशत्रु, प्रसेनजित्, उदयन प्रभृति तो इतिहास-सिद्ध पात्र हैं ही; इनके अतिरिक्त वासवी, पद्मावती, विरुद्धक, शक्तिमती, छलना, देवदत्त, मागधी, मल्लिका, बंधुल इत्यादि भी जातकों तथा अन्य प्रामाणिक ग्रथों द्वारा अनुमोदित है । इन्हीं पात्रों की भाँति कथा-विस्तार एवं घटनाक्रम की व्यवस्था भी इतिहास ही के आधार पर है[1] । यह दूसरी बात

---

१. देखिए 'अजातशत्रु' नाटक के आरंभ में दिया हुआ कथा-प्रसग ।

है कि लेखक ने इधर-उधर फैली और बिखरी सामग्री की क्रम-स्थापना के लिए स्वच्छंदता का उपयोग किया है और विभिन्न ऐतिहासिक घटनाओं के अवकाशों की पूर्ति एव संबध की प्रतिष्ठा मे अपनी प्रतिभा एव कल्पना से काम लिया है। इसके लिए लेखक स्वतन्त्र है। वस्तु-स्थिति-योजना और घटनासूत्र की व्यवस्था उसे स्वय कर लेनी चाहिए। ऐसे ही स्थलों पर 'प्रसाद' जी की प्रबध-चातुरी दिखाई पड़ती है।

बिबसार-अजात, प्रसेनजित्-विरुद्धक, बुद्ध देवदत्त, उदयन-पद्मावती इत्यादि का विरोध इतिहास-समत है। इन विरोधों के कारणों और परिणामों का उल्लेख विभिन्न जातकों और ग्रथों मे भिन्न-भिन्न प्रकार से किया गया है। अतएव लेखक ने भी नाटकीय आवश्यकताओं के अनुकूल इनका उपयोग और कथन किया है। इन परिणामों में भी लेखक के अनुमान-विधान की सार्थकता सर्वत्र लक्षित होती है। इसी अनुमान-विधान के आधार पर लेखक ने कई घटनाओं अथवा उनके कारणों को स्थिति के अनुकूल बना लिया है—जैसे बिबसार का राज्याधिकारत्याग, विरुद्धक और अजात की गुटबदी, बधुल की हत्या, मागंधी-श्यामा-आम्रपाली का एकीकरण इत्यादि। यों तो मागधी और आम्रपाली के लिए पृथक्-पृथक् रूप मे इतिहास ही प्रमाण है परंतु दोनों का एकीकरण अनुमान और कल्पना-जन्य ही है। इस बात को लेखक ने भी स्वीकार किया है—'चरित्र का विकास और कौतुक बढ़ाना ही' एकीकरण का उद्देश्य है।

कथानक

सपूर्ण कथानक तीन अकों मे विभाजित हुआ है। नाटक में सधियों का स्पष्ट रूप नहीं मिलता। भारतीय नाट्यशास्त्र के अनुसार संधियों का विवेचन इस नाटक मे उतना अच्छा नहीं होगा, क्योंकि पूरा नाटक विरोधमूलक है। विरोध से ही आरभ होता है, विरोध का ही विस्तार दिखाया गया है और अत मे विरोध की समाप्ति तथा शमन है। अतर्द्वंद्व और बहिर्द्वंद्व से सारा नाटक भरा है। प्रधान घटनास्थल तीन हैं—मगध, कोशल और कौशांबी। जो विरोधाग्नि मगध में प्रज्वलित हुई उसकी प्रचंडता कोशल में दिखाई पड़ी और उसकी लपट कौशांबी तक पहुँची है।

पारिवारिक कलह से ऊबकर, पुत्र की उद्दंडता देखकर और अपनी छोटी रानी छलना की अधिकार-लोलुपता तथा कुमन्त्रणा का विचार कर सम्राट् बिंबसार जीवन से उदासीन रहते हैं। यह विरक्ति पहले तो अंतर्मुखी ही बनी रही परंतु छलना का अधिकारपूर्ण आग्रह—'आपको कुणिक के युवराज्याभिषेक की घोषणा आज ही करनी पड़ेगी' तथा भगवान् बुद्ध का शांत आदेश—'तुम आज ही अजातशत्रु को युवराज बना दो और इस भीषण भोग से विश्राम लो'—उनके अंतर्द्वंद्व को व्यवहार-क्षेत्र में ला खड़ा करता है। संपूर्ण शासन-सूत्र अजात के हाथ में सौंपकर वे तटस्थ हो जाते हैं। इसी समय छलना के व्यवहार से दुखी होकर वासवी अपने पीहर (कोशल) चली जाती है। छलना और देवदत्त की मंत्रणा से अजात राज्य करने लगता है।

सुदत्त जब मगध का यह समाचार लेकर कोशल-नरेश प्रसेनजित् के पास पहुँचता है तो सारी सभा में इसी घटना को लेकर विवाद उठता है। युवराज विरुद्धक ने अजात के पक्ष का समर्थन और उसके कार्यों का प्रतिपादन किया। प्रसेनजित् ने इसमें उसकी हार्दिक दुरभिसंधि की आशंका की और अत्यधिक क्रोधावेश में घोषणा की कि 'विरुद्धक युवराज पद से तथा उसकी माता शक्तिमती राजमहिषी पद से वंचित की जाती है'। इस घटना के अनंतर अपनी माता की प्रेरणा से विरुद्धक ने अपने पिता से विरोध करने की ठानी और राज्य के बाहर हो गया।

उधर कौशांबी में एक दूसरे ही प्रकार की अशांति उत्पन्न हुई है। मागंधी के षड्यंत्र में पड़कर उदयन पद्मावती के विरुद्ध हो गए हैं। इस षड्यंत्र का भेद खुलने पर मागंधी वहाँ से भागकर काशी आई और कायापलट कर वारविलासिनी बन बैठी। इस प्रकार हम देखते हैं कि संपूर्ण प्रथम अंक विरोधात्मक प्रयत्नों और क्रियावेग से आपूर्ण है। इसके उपरांत पूरे द्वितीय अंक में इसी विरोध का विस्तार और चरमसीमा दिखाई पड़ती है। अजातशत्रु और विरुद्धक एक ओर संगठित हुए और प्रसेनजित् तथा उदयन दूसरी ओर। इस प्रकार दोनों दल सुसज्जित होकर दृढ़चित्त से युद्ध के लिए तत्पर होते हैं। इस स्थल पर विरोध विस्तार की चरमसीमा माननी

चाहिए और यही द्वितीय अक की समाप्ति है। तृतीय अंक में इस व्यापक विरोध का शमन है। प्रत्येक विरोधी दल अहकार तथा पाप-पूर्ण तुच्छ मनोवृत्ति की निरसारता पर पश्चात्ताप प्रकट करता है और अपनी भूल को सुधारने की चेष्टा करता है।

कार्य की अवस्थाएँ

कार्य की अवस्थाओं के विषय मे भारतीय एव पाश्चात्य नाट्य-शास्त्र के आचार्यों के विचार प्राय मिलते हैं। दोनों ने कथानक के पाँच भाग किए हैं। दोनों ने अपने-अपने उद्देश्य के अनुसार पाँच पड़ाव--उतार के स्थल निर्दिष्ट किए है। पाश्चात्य नाटकीय रचना के लिए विरोध ही मूल भाव होता है। अतएव उन्होंने कथानक की पाँच भूमिकाएँ--आरभ, विकास, चरमसीमा, निगति और परि-समाप्ति मानी हैं। पर भारतीय प्राचीन नाटक केवल धर्म, अर्थ और काम की सिद्धि के लिए रचे, खेले और देखे जाते हैं। उनमे सुख-कारी फल का लाभ ही प्रधान कार्य रहता है। इसीलिए उसमे कार्य की चार अवस्थाओं--आरभ, प्रयत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति के उपरांत पाँचवी फलागम या फल-प्राप्ति रखी गई है।

प्रस्तुत नाटक में कार्य की अवस्थाओं का विचार यदि पाश्चात्य रीति के अनुसार करें तो प्रथम अंक मे विरोध का आरंभ और उसके विभिन्न कारणों का वर्णन है। सपूर्ण द्वितीय अक में विरोध का विस्तार है। अक की समाप्ति मे विरोध व्यापक बनकर पूर्ण हो जाता है। सब विरोधी दल एक मे मिलकर पुष्ट और उद्योगशील बन जाते है। विरोध की चरमसीमा आ जाती है। उपरात निगति का अभाव है। विस्तार के उपरात विरोध का क्रमिक ह्रास तथा संकोच न दिखाकर सहसा समाप्ति एवं शमन वर्णित है। तृतीय अंक मे विरोध की शाति दिखाकर विरोध का परिहार किया गया है। यह नाटक विरोधमूलक है, इसीलिए इसकी अवस्थाएँ भारतीय सिद्धांत के अनुसार न होकर पाश्चात्य नाट्यशास्त्र के अधिक अनुकूल दिखाई पड़ती है। यहाँ विरोध से आरभ होने के कारण विस्तार की आव-श्यकता पड़ती है। यहाँ फलागम लक्ष्य है। अतएव द्वितीय अक में इसी फल की प्राप्ति का यत्न दिखाया जाता है। इस रूपक मे यत्न का रूप अत्यंत क्षीण दिखाई पड़ता है। इसमे कार्य की अवस्थाओं का

विभाजन भारतीय रीति पर न कर पाश्चात्य रीति के अनुसार
करना अधिक समीचीन होगा। यदि सपूर्ण बाह्य एवं आंतरि
विरोधों का शमन ही मानव जीवन का परम उद्देश्य मान लें तब
यह आवश्यक हो जायगा कि विरोध का आरभ, विस्तार इत्यादि
वर्णित करके शांति में ही उसका पर्यवसान दिखाएँ।

चरित्र-चित्रण

चरित्रांकन के विचार से पात्रो के दो वर्ग बनाए जा सकते हैं
एक देव-वर्ग दूसरा राक्षस वर्ग। मनुष्य में सुदर-असुदर, उदात्त-ही
और उदार-सकुचित सभी प्रकार की वृत्तियाँ पाई जाती है। कह
उसका देव रूप प्रकट होता है कहीं दुष्ट। तारतम्य के आधार प
इसी द्वद्व का प्रदर्शन चरित्र-चित्रण में होता है। मन, वचन, कर्म
कौन महत् है और कौन पतित इसका विवरण चरित्राकन में मिलत
है। इस चित्रण में यथार्थता और प्रकृतत्व का विचार ही सौंदर्य औ
आकर्षण की सृष्टि कर सकता है। यथार्थता तथा प्रकृतत्व का विचा
बुद्धि एवं हृदय के समन्वय में प्राप्त होता है, अतएव यदि विवेक औ
भावुकता का उचित मात्रा मे उपयोग हो तो पात्रों का चरित्र-विका
बडा ही प्रभावशाली बनाया जा सकता है।

प्रस्तुत नाटक मे भी 'प्रसाद' ने पात्रों के दो वर्ग स्थापित क
लिए हैं। कुछ पात्र ऐसे हैं जो अपने जागरित विवेक, मनोबल
उदारता और चरित्र की निर्मलता के कारण मनुष्यता की समभूमि
से ऊपर उठे दिखाई पड़ते हैं। ये परिस्थिति के प्रभाव से परे ह
नही रहते हैं, प्रत्युत अपने व्यक्तित्व और आचरण की निर्मलत
द्वारा दुष्टों को भी घात-प्रतिघात के गर्त मे से निकालकर पाव
मानव-भूमि पर ला खडा करते हैं। दूसरे ऐसे होते है जो सर्वथ
पराधीन होते है और परिस्थिति एवं कुसस्कार से विवश होक
अधोमुख बन जाते हैं। अंत मे पवित्र व्यक्तियों के आचरण औ
व्यवहार से प्रभावित होकर इनका उद्धार होता है।

विदूषक

'प्रसाद' के नाटकों मे विदूपकों के हास्य-विनोद की मात्रा न्यू
है। पारसी ढंग पर लिखे गए नाटकों के अभिनय देखकर साधारण

बुद्धि के सभी सामान्य सामाजिक इस न्यूनता को बड़ा भारी अभाव मानते है। वस्तुत बात यह है कि लेखक अपनी रचनाओं की गंभीर परिस्थिति मे हास्य-विनोद का अधिक स्फुरण अप्राकृतिक मानता है, उसे इसमें रस-विरोध दिखाई पड़ता है। जहाँ क्रियाशीलता और मनोवैज्ञानिक चरित्र चित्रण का विस्तार अधिक हो वहाँ हलके हँसोड़पन को स्थान नही मिल सकता, क्योंकि यह सुदर बहुमूल्य साड़ी मे लगी हुई थिगड़ी सा ज्ञात होता है। 'विशाख' के प्रथम संस्करण की भूमिका मे लेखक ने इस विषय में अपने विचार प्रकट किए हैं। लेखक के ये विचार और सिद्धात विचारणीय है। यदि वह चाहता तो वसतक के अतिरिक्त अन्य शासकों के दो और विदूषकों को रखकर हास्य का अधिक विस्तार कर सकता था, परंतु 'भिन्नरुचिर्हि लोके'।

महाराज उदयन का विदूषक वसतक ही इस नाटक में हास्य का उत्पादक है। मगध का राजवैद्य और राजा का साथी उसके हास्य-विनोद का आधार है। प्रत्येक अक मे एक दृश्य वसतक के लिए रखा गया है। विदूषकों के प्रयोग का उद्देश्य अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। राजपरिवार का समीपवर्ती और स्नेहभाजन होने के कारण उसे यथासमय ऐसे अनेक अवसर प्राप्त होते है जिनमे वह स्वच्छदता-पूर्वक राजपरिवार के सबंध की विभिन्न घटनाओं, परिस्थितियों एवं मनोवृत्तियों की आलोचना करता है और समय-समय पर प्रधान कथा के प्रवाह का क्रम ठीक करता है, साथ ही अपने हास्य-विनोद और व्यग्यों द्वारा ऐसे प्रसंगों की अप्रत्यक्ष अथवा प्रत्यक्ष रूप मे सूचना देता जाता है, जो प्रधान प्रवाह मे नही आ सकते। कही-कही पूर्ववर्ती एवं परवर्ती घटनाओं का उल्लेख भी कर देता है। इन सभी उद्देश्यों की पूर्ति के निमित्त ही 'प्रसाद' ने इस विदूषक का प्रयोग किया है। कहने का तात्पर्य यह है कि विदूषक का रूप प्रधान कथा से भिन्न न होकर उसी में घुला-मिला चलता है। इसी मे उसकी सुद-रता और प्रकृतत्व रहता है। नाटक के रस और भाव से पृथक् यदि उसकी स्थिति होती है तो वह निरर्थक और उद्देश्यहीन हो जाता है।

प्रथम अंक के छठें दृश्य मे जो वसतक का प्रवेश कराया गया है वह सर्वथा साभिप्राय है। वह जीवक को संबोधन करके अपने राज-

तीसरे अंक के छठे दृश्य मे धारा से छूटे हुए कथांश को स्पष्ट करने के लिए विदूषक का प्रयोग हुआ है। देवदत्त की मृत्यु, विरुद्धक के पुन युवराज बनाए जाने और मगधराज के कोशल की राजकुमारी के विवाह की सूचना दोनों नागरिकों के वार्तालाप द्वारा मिल गई है। इसके अतिरिक्त वसंतक का प्रवेश केवल मागधी के नवीन परिचय के लिए हुआ है—'फटी हुई बॉसुली भी कही बजती है। एक कहावत है कि—रहे मोची के मोची—कहॉ साधारण ग्राम्यबाला ! हो गई थी राजरानी। मै देख आया वही मागधी ही तो है। अब आम की बारी लेकर बेचा करती है और लड़कों के ढेले खाया करती है'।

अंतर्द्वंद्व

जैसे सामाजिक जीवन में द्वंद्व—संघर्ष, विरोध, युद्ध इत्यादि मे प्रकट होता है उसी प्रकार हृदय-क्षेत्र में भी दो विरोधमयी प्रवृत्तियों के कारण द्वंद्व चलता है। सत्-असत्, पाप-पुण्य, न्याय अन्याय, राग-विराग इत्यादि से युक्त होकर जब दो भाव एक साथ उत्पन्न होते है तो मनुष्य विचार के आधार पर नही निर्णय कर पाता कि किस पक्ष को स्वीकार करे अथवा किसका त्याग करे। ऐसी स्थिति मे उसके भीतर 'हॉ—नही' मे खींच-तान चलती रहती है। यही अंतर्द्वंद्व कहलाता है। यह स्थिति कहीं तो चरित्र की दुर्बलता के कारण उत्पन्न होती है, कही परिस्थिति की गहनता से। कुछ भी हो, है यह विचार-दौर्बल्य ही। जिस मनुष्य की निर्णय-शक्ति पूर्ण प्रबुद्ध नही होती उसी पर इसका विशेष प्रभाव दिखाई पड़ता है। नाटक मे इस स्थिति-वैषम्य के योग से बड़े बडे अनूठे चरित्रवाले पात्र खडे होते है। पाश्चात्य नाटककार इसकी बडी सराहना करते है और उस नाटक का बडा महत्त्व मानते है जिसमे अंतर्द्वंद्व से पीड़ित मानव का अच्छा चित्रण मिलता है। इस स्थल पर यह कहना आवश्यक है कि यों तो इस प्रकार की सृष्टि सभी साहित्यों मे दिखाई पडती है, परंतु इसकी ओर जो विशेष रुचि दिखाई जाने लगी है वह आधुनिक काल की देन है। पाश्चात्य देशों मे जहॉ चित्रांकन के प्रवाह मे व्यक्ति-वैचित्र्य की ओर विशेष दृष्टि लगी रहती है वहॉ इसके चित्रण का कौशल भी दिखाई पड़ता है और नाटक मे इसका अधिक उपयोग

होता है। प्राचीन भारतीय नाटकों में इस शैली के वैलक्षण्यपूर्ण चरित्रों का प्रयोग कम हुआ है। पाश्चात्य प्रणाली का प्रभाव इधर भारतीय लेखकों पर दिखाई पड़ता है। 'प्रसाद' के पात्र भी इस उलझन मे पड़ गए हैं। 'अजातशत्रु' के बिंबसार और वासवी मे इसका अच्छा स्वरूप दिखाई पड़ता है।

बिंबसार और वासवी

बिंबसार और वासवी शांत, धीर, दृढ़, उदार और त्यागशील पात्र है। महात्मा गौतम बुद्ध का प्रभाव इन दोनों पर समान दिखाई पड़ता है। बिंबसार का महत्तम त्याग वासवी की अनुमति और गौतम की प्रेरणा से ही हो मका है। इतनी बड़ी राज्य-विभूति को छोड़कर भी बिंबसार मे अधिकार से वंचित होने का दुःख नही है, क्योंकि वह पुत्र की आध्यात्मिक उपयोगिता भी मानता है—'ससारी में त्याग, तितिक्षा या विराग होने के लिए यह पहला और सहज साधन है। पुत्र को समस्त अधिकार देकर और वीतराग हो जाने से, असंतोष नही रह जाता, क्योंकि मनुष्य अपनी ही आत्मा का भोग उसे भी समझता है'। वासवी ऐसी पतिव्रता और सतोषी स्त्री का योग इस विषय मे बिंबसार के लिए विशेष कल्याणकारी सिद्ध हुआ है। राज्यसुख और अधिकार की लिप्सा उसे रंचमात्र भी कर्तव्य-विमुख नहीं बना सकी। छलना की दुष्ट एवं कटु वाणी से भी उसकी शांति विचलित नहीं होती। बुद्ध का परामर्श पाते ही वह पति से एक कदम आगे दिखाई पड़ती है। पति को आगे बढ़ने के लिए उत्साहित करती है—'भगवन्! हमलोगों को तो एक छोटा-सा उपवन पर्याप्त है। मैं वहीं नाथ के साथ रहकर सेवा कर सकूँगी। इस प्रकार पति की त्याग-तितिक्षा में वह सदैव साथ देती रहती है। बिंबसार की त्याग तितिक्षा अकर्मण्य ही रह जाती है, परंतु वासवी इन्हीं के बल पर अपने विरोधी अजातशत्रु और छलना के उद्धार और कल्याण के मार्ग मे बहुत आगे बढ़ती है। इस प्रकार उसमे कर्मशीलता भी देखने को मिल जाती है।

इन दोनों पात्रों में राग विराग का अंतर्द्वंद्व प्रकृत रूप में दिखाई पड़ता है। बिंबसार से जब बुद्ध ने राज्य त्याग की बात कही और उसे

समझाया कि एक अधिकारी व्यक्ति को यह बोझ सौंपकर वह पृथक् हो जाय तो उसने उत्तर दिया—'योग्यता होनी चाहिए महाराज ! यह बड़ा गुरुतर कार्य है'। इस उत्तर में जहाँ एक ओर त्याग की तत्परता ध्वनित हो रही है वही टालने का एक बहाना-सा मालूम पड़ता है, जिससे राज्याधिकार की आकांक्षा प्रकट होती है। बुद्ध और वासवी के सम्मुख तो वह विराग प्रकट करता है, परंतु राग भी पिंड नहीं छोड़ रहा है। यह रूप आगे चलकर प्रथम अंक के चतुर्थ दृश्य मे और भी स्पष्ट हो जाता है। राज्याधिकार से वंचित होने का तो दुःख उसे नहीं है फिर भी कुणीक के व्यवहार से उसे अपने अधिकार का ध्यान हो आता है और याचकों को लौट जाते देखकर उसे वेदना होती है। इससे प्रकट होता है कि अभी तक उसके भीतर सपन्न स्थिति का मोह घर किए ही है। वासवी भी जो केवल एक उपवन से ही संतुष्ट होनेवाली थी, यहाँ आते-आते अधिकारलिप्सा से संयुक्त दिखाई पड़ती है—'जो आपका है वही न राज्य का है, उसी का न अधिकारी कुणीक है और जो कुछ मेरे पीहर से मिला है उसे जब तक मै न छोड़ूँ तब तक तो मेरा ही है। काशी का राज्य मुझे मेरे पिता ने आँचल मे दिया है, उसकी आय आपके हाथ मे आनी चाहिए और मगध-साम्राज्य की एक कौड़ी भी आप न छुएँ। नाथ ! मै ऐसा द्वेष से नहीं कहती हूँ, किंतु केवल आप का मान बचाने के लिए'। अभी तक उसमें अधिकार-प्रेम और सम्मान-रक्षा का भाव दब नही सका है। बिंबसार के कहने पर—'नहीं ! जीवक ! मुझे किसी की सहायता की आवश्यकता नहीं। अब वह राष्ट्रीय झगड़ा मुझे नहीं रुचता'—वासवी अपने विचारों को अधिक स्पष्ट रूप मे कहती है—'तब भी आपको भिक्षावृत्ति नही करनी होगी। अभी हम लोगों मे वह त्याग, मानापमान रहित अपूर्व स्थिति नही आ सकेगी। फिर, जो शत्रु से अधिक घृणित व्यवहार करना चाहता हो, उसको भिक्षा वृत्ति पर अवलंबन करने को हृदय नही कहता'। इस पर बिंबसार भी स्वीकार कर लेता है—'जैसी तुम लोगों की इच्छा'। इन उद्धरणों से राग-विराग का द्वंद्व स्पष्ट हो जाता है। दोनों पात्र हाँ-नहीं की उलझन में पड़े दिखाई पड़ते हैं, अतएव शुद्ध वीतराग नहीं माने जा सकते। अवश्य ही ये लोग राज्य-कामना से बहुत दूर हट आए हैं, परंतु निर्लिप्त तटस्थता के लिए जिस मानापमान और द्वेषाद्वेष-भाव

से विरक्ति होने की आवश्यकता होती है और वह अपने शुद्ध रूप मे नहीं आ सकी है। यही मध्य स्थिति इन पात्रों को सजीव बनाए हुए है।

बिंबसार और वासवी का यही द्वंद्वात्मक रूप अंत तक चलता है। वस्तुस्थिति से प्रेरित वैराग्य को दृढतापूर्वक स्वीकार किए हुए, अपनी विरोधमूलक प्रवृत्तियों पर कठोर निग्रह करके पत्नी-पति अपना तर्क-वितर्क-भरा जीवन वहन कर रहे है। इसके बीच मे यदि कोई आकर अजातशत्रु अथवा राज्य का प्रसग छेड़ता भी है तो वे जिज्ञासा भाव से सुनकर भी निर्लिप्त बनने का उद्योग करते है। छलना से सुनकर कि कोशल और मगध मे युद्ध का उपद्रव हो रहा है, अजात भी उसमे गया है, साम्राज्य भर मे आतंक है—बिंबसार के मुख से जो शब्द निकलते हैं वे उसके अतर्द्वंद्व को अच्छी तरह समझा देते है। उसने एक साँस मे दोनों पक्षों की बात कह दी है—'युद्ध मे क्या हुआ (मुँह फिराकर) अथवा मुझे क्या', फल जानने की उत्सुकता और इन प्रपचो से तटस्थता दोनों बातें यही खुल जाती हैं। इसी प्रसंग मे छलना, बिंबसार और वासवी मे जो व्यग्य प्रधान संवाद होता है उसके प्रवाह मे छलना की कटूक्ति सुनकर बिंबसार एक स्थान पर उग्र हो उठता है, जिससे उसकी यथार्थ मन स्थिति प्रकट होती है—'(खड़े होकर) छलना! मैंने राजदंड छोड़ दिया है किंतु मनुष्यता ने अभी मुझे नही परित्याग किया है। सहन की भी सीमा होती है। अधम नारी! चली जा। तुझे लज्जा नही, बर्बर लिच्छवी-रक्त!' ऐसे अवसरों पर वासवी अधिक सयत और सहनशील दिखाई पड़ती है, उसका नारी-गौरव गिरने नही पाता। अजातशत्रु के बंदी होने का समाचार मिलते ही वह ममत्व से द्रवित हो उठती है। वात्सल्य और पत्नी-कर्तव्य के चक्र मे पड़कर भी, अवसर विशेष के विचार से, बिंबसार की सेवा का भार छलना पर छोड़कर आप कोशल पहुँचती है और अजात को बदी-रूप में देखकर विचलित हो जाती है—' न न भाई! खोल दो। इसे मै इस तरह देखकर बात नहीं कर सकती हूँ। मेरा बच्चा कुणीक ' इस ममत्व-वाणी मे उसका मातृत्व झलक रहा है। इसके उपरांत तीसरे अंक के आठवें दृश्य मे उसका सतोषपूर्ण अधिकार-गर्व दिखाई पडता है—(छलना से) 'चल, चल, तुझे पति भी दिला दूँ और बच्चा भी। यहाँ बैठकर मुझसे लड़ मत कगालिन'। आगे के दृश्य में वह ऐसा

करा भी देती है। बिंबसार का भी सारा विषाद वात्सल्य में परिणत हो जाता है। अजातशत्रु और छलना को आकर चरणों पर गिरते और वासवी को उनकी वकालत करते पाकर बिंबसार में परिवर्तन आ जाता है। वह स्वीकार करता है—'मैं मनुष्य हूँ और इन माया-विनी स्त्रियों के हाथ का खिलौना हूँ ''''उठो वत्स अजात! जो पिता है वह क्या कभी भी पुत्र को क्षमा—केवल क्षमा—माँगने पर भी नहीं देगा। तुम्हारे लिए यह कोश सदैव खुला है। उठो छलना, तुम भी'।

अजातशत्रु

चरित्रांकन के विचार से अजातशत्रु का आरंभ बड़ा प्राकृतिक है। नाटक का आरंभ उसके अधिकारपूर्ण स्वर से होता है—'क्यों रे लुब्धक! आज तू मृगशावक नहीं लाया। मेरा चित्रक अब किससे खेलेगा'। अधिकार का सहवर्ती दंड-विधान भी उसमें कठोर रूप का है—'हाँ—तो फिर मैं तुम्हारी चमड़ी उधेड़ता हूँ। समुद्र! ला तो मेरा कोड़ा'। अधिकार का संगी मानापमान विचार भी उसमें प्रत्यक्ष है—'तो इस प्रकार तुम पद्मावती! उसे मेरा अपमान करना सिखाती हो '' 'फिर तुमने मेरी आज्ञा क्यों भंग होने दी। क्या दूसरे अनुचर इसी प्रकार मेरी आज्ञा का तिरस्कार करने का साहस न करेंगे'। इन उद्धरणों से उसमें अधिकार-दर्प, शासन की क्रूरता, पदसंमान को लेकर उच्छृंखलता और दुःशीलता प्रकट हो रही है। यही दुर्गुण उसके चरित्र-विकास की मूल भित्ति है। इसके उपरांत तो फिर वह द्वितीय अंक के आरंभ में हमारे सामने शासक-रूप में आता है। उस समय उसमें पूर्ववर्ती दुर्गुणों की पूरी वृद्धि हुई दिखाई पड़ती है—'प्रजा भी ऐसा कहने का साहस कर सकती है। चींटी भी पंख लगाकर बाज के साथ उड़ना चाहती है। राजकर मैं न दूँगा! यह बात जिस जिह्वा से निकली, बात के साथ ही वह भी क्यों न निकाल ली गई। काशी का दंडनायक कौन मूर्ख है! तुमने उसी समय उसे बंदी क्यों नहीं किया'। इस कथन में उसकी आवेशपूर्ण उग्रता दिखाई देती है। आरंभ में जिस अधिकारपूर्ण स्वर को हम सुन चुके हैं उसी का यह विकास है। अपने अधिकार और शासन में किसी को

अड़ते देखकर वह क्षुब्ध हो उठता है। विरोध सहन करने की क्षमता ही उसमे नही है और न विचार कर सकने की शांत योग्यता ही है।

देवदत्त के साथ अजातशत्रु महामान्य परिषद् के सभ्यगण से जिस युक्तिपूर्ण ढग से बातचीत करता है और उन्हे अपने अनुकूल बनाने की चेष्टा करता है उससे उसकी व्यवहार-पटुता का पूरा बोध हो जाता है। परिषद् को वह जिस प्रकार उत्तेजित करके अपने पक्ष मे लाता है और देवदत्त को परिषद् का प्रधान बनाता है उससे उसमे सभा-चातुरी और मन की स्थिति को परखने की पूरी-पूरी शक्ति प्रकट होती है। सातवे दृश्य तक पहुँचकर क्रोध से फुफकारता हुआ सर्प जैसे मदारी की बीन के सामने विनत वदन हो जाता है उसी प्रकार वह भी मल्लिका के माधुर्यपूर्ण व्यक्तित्व से प्रभावित होकर शांत हो जाता है—'क्षमा हो देवि ! मै जाता हूँ अब कोशल पर आक्रमण नही करूँगा। इच्छा थी कि इसी समय इस दुर्बल राष्ट्र को हस्तगत करूँ, किंतु नही, अब लौट जाता हूँ'। परंतु वह लौट-कर भी लौट नही पाता। अपनी माता की प्रेरणा से पुन युद्ध में आता है और प्रसेनजित् के द्वारा बदी बनाया जाता है। बदीगृह मे वासवी की महत्त्वपूर्ण वाणी से उसमें परिवर्तन उत्पन्न होता है। फिर तो सर्वत्र ही क्षमा-याचना करता है। प्रेम के क्षेत्र में वह सच्चे प्रेमी के रूप में दिखाई पड़ता है। वाजिरा से कारायण का प्रेम-निवेदन सुनकर आत्मविश्वास और गर्व से भरे वीर की भाँति वह ललकार उठता है—'कारायण ! यदि तुम्हें अपने बाहुबल पर भरोसा है तो मैं तुमको द्वद्व युद्ध के लिए आह्वान करता हूँ'।

विरुद्धक

विरुद्धक अजातशत्रु से अधिक चारित्र्य-पूर्ण है। पिता से अना-दृत और तिरस्कृत होकर अधिकारच्युत किया जाता है। असहाय और निरवलंब होने से उसमे विरोधमूलक दृढ़ता उत्पन्न हो जाती है। इस स्थिति से प्रेरित और अपनी माता द्वारा उत्साहित किए जाने पर वह एक क्रूर निश्चय पर पहुँचता है—'आज से प्रतिशोध लेना मेरा कर्तव्य और जीवन का लक्ष्य होगा। माँ ! मै प्रतिज्ञा करता हूँ कि तेरे अपमान के मूल कारण इन शाक्यों का एक बार अवश्य

संहार करूँगा और उनके रक्त मे नहाकर इस कोशल के सिंहासन पर बैठकर तेरी वंदना करूँगा'। इस उद्धरण से उसकी मातृभक्ति, दृढनिश्चय और प्रतिशोध-भावना की क्रूरता स्पष्ट लक्षित हो रही है। 'अपमान सहकर, चाहे पिता का ही सिंहासन क्यों न हो' उसे रुचिकर नही है। वह अपनी धुन का पक्का साहसिक हो जाता है और अपने बाहुबल से 'अधिकार एवं स्वत्व' प्राप्त करना चाहता है। शैलेंद्र डाकू बनकर काशी की जनता मे आतंक फैलाता है। उसमे व्यवहार की पूरी कुशलता दिखाई पड़ती है। पहले तो बधुल को अपने दल मे मिलाने का उद्योग करता है। वहाँ असफल होने पर अजातशत्रु को अपना लक्ष्य बनाता है। बिना किसी शक्ति के अभीप्सित उद्देश्य की पूर्ति संभव नही है, इसको वह अच्छी तरह जानता है। कुछ देर के लिए वह अवश्य ही श्यामा के आलस्य-पूर्ण सौंदर्य की तृष्णा मे पड़ गया है; परंतु शीघ्र ही सजग हो उठता है—'मैं स्वयं भूल गया हूँ कि मै कौन था, मेरा उद्देश्य क्या था ''''यह प्रेम दिखाकर मेरी स्वतंत्रता हरण कर रही है। अब नहीं, इस गर्त मे अब नहीं गिरूँगा। कर्मपथ के कोमल और मनोहर कंटकों को कठोरता से निर्दयता से हटाना ही पडेगा'। इसी निश्चय के अनुसार श्यामा का गला घोंटता है। उसके शिथिल हो जाने पर उसके आभूषण उतार लेता है और उसके घर मे भी जो कुछ है उसे उठा ले जाता है, क्योंकि उसको धन की आवश्यकता है। उसके इस क्रूर आचरण से इष्ट-साधन की दृढ़ता ही प्रकट होती है। उसे 'अभी' प्रतिशोध लेना है—दावाग्नि सा बढकर फैलना है, उसमें चाहे सुकुमार तृण कुसुम हो अथवा विशाल शालवृक्ष सब भस्म होंगे। अजातशत्रु को अपने अनुकूल बनाता है। युद्ध की मंत्रणा करता है और खड्ग लेकर शपथ करता है कि कौशांबी की सेना पर मै आक्रमण करूँगा '' जब मै पदच्युत और अपमानित व्यक्ति हूँ तब मुझे अधिकार है कि सैनिक कार्य मे किसी का भी पक्ष ग्रहण कर सकूँ, क्योंकि यही क्षत्रिय की धर्मसंमत आजीविका है। हाँ, 'पिता से मै स्वयं नही लड़ूँगा'। इस स्थल पर उसकी विवेक बुद्धि भली-भाँति झलक उठती है। इसके उपरांत तो तीसरे अंक के तीसरे दृश्य मे वह मल्लिका के संमुख अपनी वैयक्तिक हार स्वीकार करके क्षमा का प्रार्थी बन जाता है। इस प्रकार उसमे स्वावलंबन, दृढता,

उद्योग, वीरता, विवेक आदि अनेक पुरुषोचित गुण और धर्म दिखाई पड़ते है।

अन्य पुरुष पात्र

कारायण और बंधुल वीर सैनिक है। बधुल में युद्ध-शौर्य के साथ सचाई है। कहीं भी वह प्रलोभन और कुचक्र मे पड़ा नहीं दिखाई पडता, परतु कारायण मे प्रबल प्रतिहिंसा का भाव है। वह कुचक्र भी रच सकता है, परंतु राष्ट्र का विरोध करते देखकर विरुद्धक का साथ नही देता। उसका विरोध केवल प्रसेनचित् से है। क्योंकि वह उसके मामा की हत्या का कारण है। शक्तिमती को उचित मार्ग पर लाने की चेष्टा करता है। प्रसेनजित प्राचीन रूढ़ियों का उपासक और कुशल शासक है। असहनशील और उग्र स्वभाव के कारण बंधुल की हत्या की सलाह देता है और विरुद्धक को अपना विरोधी बना लेता है। उसमे पिता का मृदुल हृदय भी है, जिससे वह क्षमाशील और पाप-स्वीकृति मे उदार है। बुद्धदेव आदर्श पुरुष-देवता है। उनका विरोधी देवदत्त कुटिल, कुचक्री और व्यवहार-कुशल व्यक्ति है।

मल्लिका

मल्लिका अपने जीवन से सर्वथा सतुष्ट, पतिपरायणा, आदर्श रमणी है। उसे अपने पति की वीरता पर अनन्य विश्वास है—'वे तलवार की धार हैं, अग्नि की भयानक ज्वाला है और वीरता के वरेण्य दूत हैं। मुझे विश्वास है कि सम्मुख युद्ध मे शक्र भी उनके प्रचंड आघातों को रोकने मे असमर्थ है'। उसमें पत्नी-मर्यादा का भव्य रूप दिखाई पडता है। पति की अनन्य अनुरागिणी होकर भी वह अपने कर्तव्य और दायित्व से विमुख नही होती। पति को अनुराग और सुहाग की वस्तु मानकर भी उसका स्वतंत्र अस्तित्व स्वीकार करती है। उसकी कर्तव्य भावना कितनी निर्मल है—'महान हृदय को केवल विलास की मदिरा छिपाकर मोह लेना ही स्त्री का कर्तव्य नहीं है'। जहाँ उसे अपने व्यक्तिगत कर्तव्य का इतना ज्ञान है वहीं दूसरे को भी कर्तव्यच्युत नही देख सकती। जब महामाया ने उसके पति के जीवन के प्रति आशंका प्रकट करके उसे भयभीत करना चाहा तो उसने निर्भीक और दृढ़ होकर उत्तर दिया है—

'रानी ! बस करो। मैं प्राणनाथ को अपने कर्तव्य से च्युत नहीं करा सकती और उनसे लौट आने का अनुरोध नहीं कर सकती। सेनापति का राजभक्त कुटुंब कभी विद्रोही नही होगा और राजा की आज्ञा से वह प्राण दे देना अपना धर्म समझेगा जब तक कि स्वयं राजा राष्ट्र का द्रोही न प्रमाणित हो जाय'। वह नारी कर्तव्य-पालन, पतिभक्ति और मर्यादा का आदर्श रूप है। 'उसे केवल स्त्री-सुलभ सौजन्य और समवेदना तथा कर्तव्य और धैर्य की शिक्षा मिली है'। इसी को अपने जीवन का उसने लक्ष्य बना रखा है।

वैधव्य-दुख—जो 'नारी जाति के लिए कठोर अभिशाप है'—को मल्लिका ने जिस अगाध धैर्य के साथ स्वीकार किया है उससे उसकी कष्ट सहिष्णुता का ज्ञान किया जा सकता है। ऐसी कठोर स्थिति में भी कर्तव्य की उपेक्षा वह नहीं करती—'आतिथ्य परम धर्म है। मैं भी नारी हूँ। नारी के हृदय मे जो हाहाकार होता है, वह मैं अनुभव कर रही हूँ, शरीर की धमनियाँ खिंचने लगती हैं। जी रो उठता है, तब भी कर्तव्य करना ही होगा'। कलेजे पर पत्थर रखकर वह शांति-समन्वित श्रद्धा से अपने निमंत्रित सारिपुत्र प्रभृति को भोजन कराती है। उस समय उसका चरित्र 'धैर्य का, कर्तव्य का स्वयं आदर्श है'। उसके हृदय मे उस समय भी अखंड शांति है। यह जानकर भी कि उसके पति की हत्या का कारण कौन है उसके 'मुखमंडल पर तो ईर्ष्या और प्रतिहिंसा का चिह्न भी नहीं दिखाई पड़ता'। वह ऐसी भूमिका मे पहुँच जाती है जहाँ उसे शुद्ध सात्त्विकता प्राप्त होती है। उसकी अगाध वेदना से करुणा का मंगल रूप प्रकट होता है। फिर तो जिसके हृदय मे विश्वमैत्री के द्वारा करुणा का उद्रेक हुआ है, उसे अपकार का स्मरण क्या कभी अपने कर्तव्य से विचलित कर सकता है। इसी आधार पर मल्लिका अपने प्रमुख अपघातियों तक की सेवा और रक्षा करती है। उनसे किसी प्रकार का विरोध नहीं मानती। अपने आचरण की शुद्धता से वह सब आततायियो को प्रभावित करके उन्हें शांति, सौजन्य और मर्यादा का पाठ पढ़ाती है। मल्लिका त्याग, उदारता, सेवा, करुणा, मर्यादा और कर्तव्य की प्रतिमा है—बुद्ध के ज्ञान की जीती-जागती व्यवहार प्रतिमा है।

मागंधी

रूपगर्विता मागंधी अपने ढंग की निराली नारी है। एक बार जो बुद्ध के द्वारा वह तिरस्कृत होती है तो सपूर्ण जीवन भर वात्याचक्र की भाँति नीचे से ऊपर और ऊपर से नीचे मँड़राती दिखाई पड़ती है। उदयन के राजप्रासाद मे उसे 'रूप का गौरव तो मिलता है, परंतु दरिद्र कन्या होने के अपमान से दुखी' है। वहाँ भी मानसिक उद्वेग है, इस पर वह निश्चय करती है—'दिखला दूँगी कि स्त्रियाँ क्या कर सकती हैं'। इसी दिखलाने मे उसे कई घाटों का पानी पीना पडता है। 'सुदरी स्त्रियाँ भी संसार मे अपना अस्तित्व रखती हैं' इसी दंभ को लेकर वह आगे बढ़ती चलती है। पद्मावती के विरुद्ध षड्यंत्र रचती है, परंतु अंत में प्रासाद छोड़कर भागना पड़ता है। कुचक्र रचने मे उसका अच्छा प्रवेश है। प्रासाद से निकलने पर फिर तो काशी की प्रसिद्ध वारविलासिनी श्यामा के रूप मे ही उसका दर्शन होता है। वहाँ एक भयकर रात्रि मे वह अपनी 'अतृप्त वासना' लेकर शैलेंद्र डाकू से मिलने जाती है और अपने प्रेम नाट्य से उसे मुग्ध कर लेती है। उस रूप मे उसकी वासना की प्रबलता और व्यवहार रूप मे निर्भीकता अच्छी तरह प्रकट होती है। शैलेंद्र के प्रति प्रेम मे वह स्थिर बनी रहती है, उसे बंदीगृह से छुड़ाने का उसने जैसा कौशलपूर्ण उद्योग किया है वही इस बात का प्रमाण है। परंतु शैलेंद्र के क्रूर व्यवहार से वह अत्यत दुखी हो उठती है। जिससे वह इतना प्रेम करती है वही उसका गला घोंट देता है और वह मरते-मरते बचती है। बुद्ध की तत्परता से वह पुन जी उठती है। इस घटना का उस पर यह प्रभाव पड़ता है कि अब वह अपने कलंकी जीवन से विरक्त हो उठती है और मल्लिका की शांतिदायिनी छाया मे विश्राम लेती है।

अपने जीवन का सिंहावलोकन उसने स्वय किया है—'वाह री नियति! कैसे-कैसे दृश्य देखने मे आए! कभी बैलों को चारा देते-देते हाथ नहीं थकते थे, कभी अपने हाथ से जल का पात्र तक उठाकर पीने से संकोच होता था, कभी शील का बोझ एक पैर भी महल के बाहर चलने मे रोकता था और कभी निर्लज्ज गणिका का आमोद मनोनीत हुआ। इस बुद्धिमत्ता का कहीं ठिकाना है। वास्तविक रूप

के परिवर्तन की इच्छा मुझे इतनी विषमता में ले आई है'। जिस समय बुद्ध उसके संमुख आते हैं उनसे अपने जीवन की सारी व्यथा निवेदित करके अपना बचा-बचाया आम्र-कानन भी उन्हीं को अर्पित कर देती है।

छलना और शक्तिमती

राजलिप्सा, अधिकार-सुख और महत्त्वाकांक्षा के लिए लालायित छलना और शक्तिमती ऐसी स्त्रियाँ हैं जो अपने अभीष्ट साधन में विवेक का स्पर्श ही नहीं होने देतीं। प्रथम की 'धमनियों में लिच्छवी-रक्त बड़ी तीव्रता से दौड़ रहा है' और वह अपने पुत्र को निरंतर क्रूर और दुर्मद बनाने में ही निरत दिखाई पड़ती है, द्वितीय दासी की पुत्री होकर भी राजरानी बनी है, हठ से ही उसने इस पद को ग्रहण किया है। इसके अतिरिक्त वह अपने पुत्र को महत्त्वाकांक्षा के प्रदीप्त अग्निकुंड में कूदने के लिए पुरुषार्थ करने का उपदेश देती है। दोनों राजसिंहासन पर बैठे हुए अपने पुत्रों से अपनी वंदना कराना चाहती हैं। दोनों के पुत्र अपनी माताओं से उपदिष्ट होकर उद्दंडता और उच्छृंखलता ग्रहण करते हैं—युद्धप्रिय बनते हैं, घायल और पराजित होते हैं। अंत में पुत्रों के विषम स्थिति में पड़ने के कारण दोनों में चिंताजनक वात्सल्य जगता है जो उनके आचरण परिवर्तन का कारण बनता है। छलना और शक्तिमती का प्राय एक-सा चरित्र, आचरण और परिणाम दिखाया गया है।

नाटक का नायक और नामकरण

इस नाटक में अजातशत्रु के न तो कार्य व्यापारों की प्रधानता दिखाई पड़ती है और न उसके व्यक्तित्व का कोई व्यापक प्रभाव ही चित्रित है। उसका अपना कोई चारित्र्य भी नहीं है। वह केवल देवदत्त और छलना का क्रीड़ा कौतुक है। सदैव दूसरों की सहायता के बल पर हिलता-डोलता दिखाई पड़ता है। मल्लिका ने उपदेश दिया तो निश्चय कर लेता है कि कोशल पर आक्रमण नहीं करेगा। छलना और देवदत्त ने डाँटा-डपटा या समझाया तो पुन युद्ध में तत्पर हो जाता है। वासवी का सौम्य व्यवहार देखकर तुरंत द्रवित

और नमित हो जाता है। उसका अपना न तो कोई विवेक-बल है और न व्यक्तित्व। उससे अधिक व्यक्तित्व तो विरुद्धक मे है। सारा कथानक अजात की ही दुर्बलताओं से भरा है। उसमें भारतीय नायक के कोई गुण स्फुट नहीं है। नाटक मे जैसा चारित्र्य और प्रभाव मल्लिका और प्रकारांतर मे गौतम बुद्ध का वर्णित है उसके आधार पर नाटक का नामकरण 'मल्लिका देवी' अथवा 'गौतम बुद्ध' होना चाहिए न कि 'अजातशत्रु'—इस सतर्क जिज्ञासा और प्रश्न का उत्तर आवश्यक है।

लेखक ने नाटक का 'अजातशत्रु' नाम रखकर अपना मतव्य प्रकट कर दिया है। इतिहास का प्रधान पुरुष वही है, नाटक के संपूर्ण कार्यव्यापारों का मूल उद्गमस्थल और केंद्र वही है और फल का उपभोक्ता भी वही है। कोशल और कौशाबी की स्थिति अजात के कार्यों से प्रभावित है। उसी के कारण प्रसेनजित् और विरुद्धक मे विरोधभाव उठ खडा हुआ है तथा मगध-कोशल का सग्राम होता है। इस प्रकार संपूर्ण सघर्ष के मूल में अजातशत्रु है। मल्लिका और बुद्धदेव तो केवल 'शांत पापम्' करते हैं। नाटक का प्राण जो क्रिया-व्यापार है वह तो उसी के व्यक्तित्व पर आश्रित है। इसके अतिरिक्त वही अपने लक्ष्य की प्राप्ति भी करता है। सारा विप्लव मगध राज्याधिकार के लिए ही है। इसलिए उसे अधिकृत करनेवाला अजातशत्रु ही अधिकारी या नेता है। भारतीय दृष्टि से केवल घटनाओं को अभीप्सित परिणाम की ओर अपने व्यक्तित्व या कार्यकलाप से नयन करनेवाला ही नायक नही होता। इन घटनाओं का चक्र जिसके निमित्त परिवर्तित होता है अथवा जो उसके फल का भोक्ता होता है वही नायक होता है। इस आधार पर नाटक का नामकरण सर्वथा उपयुक्त एवं समीचीन है, भले ही नायक में उसके भारतीय धर्मों का पूर्णरूप स्फुट न हुआ हो।

रस-विचार

इस नाटक मे जैसे कार्य की अवस्थाएँ और अन्य अवयव दोषपूर्ण हैं उसी प्रकार समष्टिप्रभाव और रस की निष्पत्ति भी शुद्ध नहीं है। जब वस्तुविन्यास का एक भी अवयव दुर्बल हो जाता है तो प्रायः अन्य सभी अवयव अशक्त हो जाते हैं। लेखक के निर्णय के अनुसार

नाटक का नायक अजातशत्रु है और उसका लक्ष्य है—राज्यप्राप्ति। वह राज्यप्राप्ति तब तक निरापद नहीं समझी जा सकती जब तक शुद्ध अंत.करण से बिंबसार आशीर्वाद नहीं देता। अतएव अजातशत्रु की फलप्राप्ति का विरोधी बिंबसार है, भले ही वह विरक्त होकर उसे राज्याधिकार सौंप चुका है। अजात उस फल को प्राप्त करने का उद्योग बड़े उत्साह के साथ करता है। नाटक का अधिकांश इसी उत्साह के प्रसार में लग गया है और सामाजिक उस उत्साह का रसास्वादन करते है। अतएव नाटक मे वीररस की ही प्रधानता दिखाई पड़ती है।

आश्रय अजातशत्रु है जिसका सारा प्रयत्न उत्साहपूर्ण है। उत्साह ही नाटक का स्थायीभाव है। बिंबसार के कारण यह उत्साह खड़ा होता है—बिंबसार आलंबन है। आलंबन की चेष्टाएँ, जैसे—काशी का उपद्रव, उद्दीपन का काम करती हैं। अजातशत्रु जो युद्ध-संबंधी तैयारी करता है, परिषद् मे देवदत्त को प्रधान बनाता है, बिंबसार और वासवी को पहरे मे रखता है, वह सब अनुभाव के अंतर्गत है। गर्व, उद्वेग इत्यादि संचारी हैं। इस प्रकार वीररस के संपूर्ण अवयवों का संयोग होता है और द्वितीय अंक की समाप्ति तक वह पूर्ण हो जाता है। जो विस्तार तृतीय अंक मे है उसके कारण द्वितीय अंक तक का समष्टिप्रभाव दूर पड़ जाता है और सारी दौड़ निरर्थक सी ज्ञात होने लगती है। यहाँ वीररस की निष्पत्ति मे विरोध आ जाता है। अंतस्थल में वीररस की समष्टि का कोई प्रभाव ही नहीं रह जाता। अत: रस की निष्पत्ति का स्वरूप अस्फुट ही रह जाता है।

तृतीय अंक में शांतरस की प्रधानता दिखाई पड़ती है जिसका संबंध बिंबसार के जीवन से है। निर्वेद स्थायी का धारणकर्ता—आश्रय बिंबसार ही हो सकता है, अजातशत्रु, जो सांसारिक कुचक्रों और हीनता का प्रतिनिधि है इस निर्वेद का आलंबन है, विरुद्धक और प्रसेनजित् का प्रसंग और छलना की कटूक्तियाँ उद्दीपन का काम करती है, बिंबसार के विरक्ति-सूचक संवाद अनुभाव है, दु:ख कुतूहल, निर्वेद इत्यादि संचारी हैं। इस प्रकार शांतरस के सब अवयवों के रहते हुए भी उसकी निष्पत्ति नहीं मानी जा सकती, क्योंकि प्रथम तो बिंबसार सबको क्षमा करते हुए रागी दिखाई देता

है और इस प्रकार संतोषपूर्ण प्रसन्नता से विरक्ति और निर्वेद का भाव ही समाप्त हो जाता है, दूसरे वह नायक नहीं है, अतएव सामाजिकों का वह आलबन नहीं हो सकता। तीसरे भारतीय नाट्यशास्त्र नाटकों मे आठ ही रस मानता है। शांत को नाट्यरस माना ही नहीं गया, क्योंकि उसका साधारणीकरण सभव नही सिद्ध होता। उक्त तर्कों के आधार पर यह स्वीकार करना पडता है कि रस के विचार से यह रचना सफल नही कही जा सकती। रचना के अन्य अवयवों की भाँति यह अवयव भी अस्फुट ही रह गया है।

स्कन्द गुप्त

चद्रगुप्त (द्वितीय) विक्रमादित्य द्वारा शासित विस्तृत साम्राज्य के उत्तराधिकारी कुमारगुप्त (प्रथम) का शासनकाल ईसवी सन् ४१५ के पूर्व आरंभ हो चुका था। इस बात का प्रमाण वहन करनेवाला स्तंभलेख[1] भिलसद से प्राप्त हुआ है। समुद्रगुप्त और विक्रमादित्य ऐसे वीर शासक उसके पूर्वज थे। उनके द्वारा विजित और सुदृढ रूप से नियत्रित साम्राज्य का अधिकारी कुमारगुप्त हुआ। ऐसी अवस्था मे उसे न तो किसी विशेष प्रकार की नवीन व्यवस्था-प्रणाली स्थापित करनी पड़ी और न अन्य कोई राजनीतिक उद्यम प्रकट करने का अवसर मिला। चारों ओर शांति विराज रही थी। प्रजा सुखी और संपन्न थी। यही कारण है कि उस समय कलाकौशल एव साहित्य, धर्म इत्यादि की विशेष श्रीवृद्धि हुई और वह काल भारतवर्ष का स्वर्णयुग कहलाया।

इतना होने पर भी वस्तुविचार का परिणाम यही निकलता है कि कुमारगुप्त (प्रथम) दुर्बल और विलासी शासक था,[2] भले ही उसने पूर्वजों द्वारा प्राप्त शांतिऐश्वर्य का संरक्षण तीन चार दशकों तक किया हो। उसकी दुर्बलता और विलासिता के दो प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। उसकी वीरता एव पराक्रम का कोई भी राजनीतिक प्रमाण नहीं प्राप्त है। यों तो तत्कालीन प्रशस्तिकारो ने अवश्य ही अपने प्रभु के प्रीत्यर्थ बहुत कुछ लिखा है, साथ ही उसके नाम के आगे पीछे विरुदवाही उपाधियों की भी कमी नहीं है[3]। उसके जीवन की दो प्रमुख घटनाएँ है, एक अश्वमेध यज्ञ और दूसरी पुष्यमित्रों का युद्ध। अश्वमेध यज्ञ

---

१. फ्लीट कार्पस इन्सक्रिप्शनम् इडिकारम्, वाल्यूम ३, प्लेट स० १०।

२ आर० डी० बनर्जी द एज आव् द इपीरियल गुप्ताज (१९३३), पृ० ४०।

३. हेमचद्रराय चौधरी पोलिटिकल हिस्ट्री आव् एशिएट इडिया (१९३२) पृ० ३८४ (फुटनोट १)।

की बात उसकी स्वर्ण मुद्राओं[1] से सिद्ध होती है और युद्ध की बात भितरीवाले शिलालेख[2] से।

कुमारगुप्त यथासाध्य सफलतापूर्वक अपने राज्य का नियंत्रण करता रहा। उसके प्रांतपति सदैव उसके सहायक रहे। दशपुर नगरी मालवा प्रांत की राजधानी थी। लाटदेशीय कलाचतुर वैश्यों के नवागमन से यह नगरी श्रीसपन्न हो गई थी। विश्ववर्मा का योग्य और वीर पुत्र नृपति बधुवर्मा वहाँ का शासन करता था। इस विषय में महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री का यह कथन[3] अन्य इतिहास-पंडित[4] नही मानते कि विश्ववर्मा और उसके पिता नरवर्मा ने गुप्तों की अधीनता नहीं स्वीकार की। अधिकतर विद्वान् यही स्वीकार करते हैं कि बधुवर्मा कुमारगुप्त (प्रथम) का प्रतिनिधि शासक था, न कि स्वतंत्र अधिपति, जैसा कि कुमारगुप्त (प्रथम) के मंदसोर वाले शिलालेख से स्पष्ट है[5]। फैजाबाद जिले के करमदडा नामक स्थान से मिले लेख[6] के आधार पर ज्ञात होता है कि पृथिवीषेण पहले मत्रिपद पर था और पीछे कुमारगुप्त (प्रथम) ने उसे महा-बलाधिकृत पद पर आसीन किया। अतिपूर्व में पुड्रवर्धन (उत्तरी बगाल) भी गुप्तसाम्राज्य के अतर्गत था, जिसका उपरिक (प्रांतपति) चिरातदत्त था। इस प्रकार प्रातों के लिए अपने प्रतिनिधि नियुक्त कर कुमारगुप्त बगाल से लेकर सौराष्ट्र तक और हिमालय से नर्मदा तक के साम्राज्य का तैतालीस वर्षों तक शासन करता रहा।

गुप्तकालीन मुद्राओं एवं शिलालेखों[7] से प्रमाणित होता है कि

१ ए कैटेलाग आव् द इडियन क्वायन्स इन द बृटिश म्यूजियम (१९१४) पृ० ४३, और भाग १२, १३, १४।
२ फ्लीट कार्पस इसक्रिप्शनम् इडिकारम्, वाल्यूम ३, स० १३।
३ इडियन एटीक्वैरी (१९१३), पृ० २१८।
४. राधागोविंद बसाक द हिस्ट्री आव् नार्दर्न ईस्टर्न इडिया (१९३४), पृ० ४८-४९।
५. वासुदेव उपाध्याय गुप्त साम्राज्य का इतिहास, द्वि० ख०, प्र० स० पृ० ३४५।
६. राधागोविंद बसाक (१९३५), पृ० ५०-५२।
७. वी० ए० स्मिथ . इडियन एटीक्वैरी (१९०२) पृ० २६६।

कुमारगुप्त (प्रथम) के उपरांत उसका पुत्र और उत्तराधिकारी[1] स्कंदगुप्त राज्य का स्वामी बना। स्कंद की माता के नाम का कहीं उल्लेख नहीं प्राप्त होता। भितरीवाली राजमुद्रा के आधार पर कुमारगुप्त (प्रथम) और महादेवी अनंतदेवी का पुत्र और उत्तराधिकारी पुरगुप्त माना जाता है[2]। कुछ इतिहास के विशेषज्ञों ने विचार किया है कि स्कंदगुप्त सच्चा उत्तराधिकारी नहीं था और इसलिए उनका कहना है कि उसमें और उसके सौतेले भाई पुरगुप्त में राज्य की अधिकार प्राप्ति के विषय में युद्ध हुआ था। इस मत का खंडन अन्य विद्वानों[3] ने किया है। उनका विचार है कि कुमारगुप्त के समय में ही स्कंदगुप्त की योग्यता और पराक्रम की जो धाक जम गई थी उसके कारण इस प्रकार का अंतःकलह एवं युद्ध असंभव था। तत्कालीन इतिहास की सच्ची वस्तुस्थिति का ज्ञान प्राप्त कर लेने पर यह निष्कर्ष अवश्य निकलता है कि स्कंदगुप्त के अंतिम काल में ही गुप्तसाम्राज्य का पतन आरंभ हो गया था और इसका प्रभाव उसके सिक्कों पर स्पष्ट दिखाई पड़ता है। इसके अतिरिक्त यह भी निर्विवाद है कि पुरगुप्त के शासन आरंभ करते ही गुप्तों का बंगाल से लेकर सौराष्ट्र तक का एकछत्राधिपत्य भंग हो गया था। इसका कारण केवल हूणों का आक्रमण रहा हो ऐसा बुद्धिसंगत नहीं मालूम पड़ता। इन स्थितियों के मूल में अवश्य ही अंतर्विद्रोह भी रहा होगा। अवश्य ही यह अंतर्विरोध स्कंदगुप्त के आरंभिक काल में उग्र और

---

१ परमभागवतो महाराजाधिराजश्रीकुमारगुप्तस्य पुत्र तत्पादानुध्याता परमभागवतो महाराजाधिराज श्रीस्कंदगुप्त । बिहार स्टोन पिलर इंसक्रिप्शन आव् स्कंदगुप्त कार्पस इंसक्रिप्शनम् इंडिकारम् वाल्यूम ३, प्लेट १२, पृ० ५० ।

२ महाराजाधिराजकुमारगुप्तस्य तत्पादानुध्यातो महादेव्या अनंतदेव्या उत्पन्नो महाराजाधिराजश्रीपुरगुप्तस्य—भितरी की राजमुद्रा (बंगाल एशियाटिक सोसायिटी का जर्नल, १८८९) ।

३ (क) हेमचंद्र राय चौधरी पोलिटिकल हिस्ट्री आव् एंशिएंट इंडिया (१९३२), पृ० ३८६–८८ ।

(ख) राधागोविंद बसाक हिस्ट्री आव् नार्थ ईस्टर्न इंडिया (१९३४) पृ० ९२–९३ ।

सक्रिय रूप न धारण कर सका हो, जैसा कि राखालदास बैनर्जी का विचार ज्ञात होता है। परतु कालातर मे जब स्कद हूणों से युद्ध करने मे निरंतर व्यस्त रहने लगा हो तो सभव है पुरगुप्त ने उसके विरुद्ध षड्यंत्र रचकर अपने को शासक बनाने का प्रयत्न किया हो। संभवत. इसी अतर्विद्रोह से दुखी होकर महाराजपुत्र गोविदगुप्त पूर्वी प्रात छोड़कर मालवा मे चले आए थे, जहाँ उनके सन् ४६७-६८ ई० तक जीवित रहने का प्रमाण मिलता है[1]। इस विवाद मे इतना तो अवश्य ही सत्य ज्ञात होता है कि दोनों भाइयों मे विरोध था। अतएव यह मान लेने मे आपत्ति नही होनी चाहिए कि वीर और उदार चरित स्कंदगुप्त ने अपने भाई की महत्त्वाकाक्षा की पूर्ति इस रूप मे कर दी हो कि वह दक्षिण बिहार मे एक छोटा-सा राज्य स्थापित कर शासन करे और इस प्रकार वह उस अंत.कलह को शात करके कार्य में तत्पर हुआ हो।

कुमारगुप्त महेंद्रादित्य के अतिम काल मे ही राज्य पर आक्रमण-कारियो के बादल गरजने लगे थे और इससे गुप्त लक्ष्मी विचलित हो गई थी। ये आक्रमणकारी प्रधानत. पुष्यमित्र थे। यों तो भितरीवाले शिलालेख के 'समुदितबलकोशान्पुष्यमित्रांश्च जित्वा' को लेकर श्रीगौरीशकर हीराचंद ओझा और दिवेकरजी ने एक हलका सा विवाद खड़ा करने की चेष्टा की थी, परंतु उनके विरुद्ध सभी इतिहास-पडितों ने एक स्वर से मान लिया है कि शब्द पुष्यमित्र ही है और कुछ नहीं। परंतु इस पुष्यमित्र वश के विषय में विद्वान् एकमत नही हैं। फ्लीट महाशय उन्हे नर्मदा के आसपास का कहते हैं, हार्नली साहब इनका संबंध मैत्रकों के साथ जोड़कर इन्हें बलभी-वंश के आरंभकर्त्ता सेनापति भटार्क की अधीनता में मानते है। हमारे पुराण भी इन्हें गुप्तों से पूर्व विदेशियों के रूप मे स्थान देते है[2]। राखाल-दासजी इन्हे हूणों का प्रथम स्रोत मानते है। हूणों के विषय मे कोई संदेह नही है। पॉचवी शताब्दी के अंत मे यह वंश टिड्डीदल की

---

१ आर० डी० बनर्जी द एज आव् द इपीरियल गुप्ताज (१९३३), पृ० ५२।

२. (क) द अर्ली हिस्ट्री आव् इडिया, पृ० ३२६ (फुटनोट)।
(ख) जे० एलेन क्वायन्स आव् द गुप्ता डायनेस्टीज, पृ० ४५।

भाँति सपूर्ण दक्षिण एशिया में फैला दिखाई देता है। एक दल उस ओर रोम साम्राज्य पर आक्रमण करने गया और दूसरा खिंगिल और तोरमान की अध्यक्षता मे भारत की ओर बढा। यह बर्बर जाति बड़ी निर्दयतापूर्वक अत्याचार करती इस ओर आई और धनधान्य से पूर्ण कपिशा, नगरहार आदि प्रांतों को उच्छिन्न कर डाला। नगर के नगर जला डाले गए, पुरुषवर्ग कुचल डाला गया और वहाँ की स्त्रियाँ दासी के रूप मे गृहीत हुई। इनकी पाशविक क्रूरताओं से गुप्त-साम्राज्य का समस्त पश्चिमी प्रात त्रस्त हो उठा।

इन्हीं पुष्यमित्रो और हूणों का आक्रमण गुप्तसाम्राज्य के पूर्णचद्र के लिये राहु बन गया। कुमारगुप्त (प्रथम) के अतिम काल मे इनके उपद्रवों से गुप्तश्री विचलित हो गई थी। यह साम्राज्य के लिए सकट का काल था और गुप्त शासकों के लिए चुनौती थी। समुद्रगुप्त और चंद्रगुप्त के वंशजो का यह परम कर्तव्य हो गया कि वे इस चुनौती को स्वीकार करे। ऐसी अवस्था मे अतुल पराक्रमी युवराज स्कंदगुप्त अपने पूर्वजों की कीर्ति को अक्षुण्ण बनाए रखने के विचार से और शुद्ध कर्तव्य-बुद्धि से प्रेरित होकर इस राष्ट्रीय महा आपत्ति के उन्मूलन में तत्पर हुआ। महादेव पुत्र स्कद—देवसेनापति कार्त्तिकेय—की भाँति ही वीर स्कंदगुप्त ने म्लेच्छों का पूर्ण विध्वंस किया और संपूर्ण मालवा तथा सौराष्ट्र को ही इस सकट से नहीं बचाया अपितु विचलित हुई कुललक्ष्मी की पुनः स्थापना कर दी। ऐसा करने मे उसे बड़ा कठोर और सयत जीवन व्यतीत करना पड़ा था। वह धन-बल-संपन्न पुष्यमित्रो को पूर्णतया परास्त कर राज्यसिंहासन पर आरूढ हुआ[1]। वह पिता की मृत्यु के कारण शासनभार स्वीकार करके, अपने भुजबल से शत्रुओं को जीत और वंश-गौरव की मर्यादा पुन स्थापित कर आनंदाश्रुपूर्ण अपनी जीवित माता की अभ्यर्थना के लिए वैसे ही पहुँचा जैसे अपने शत्रुओ का हनन कर श्रीकृष्ण ने

---

१ विचलितकुललक्ष्मीस्तम्भनायोद्यतेन, क्षितितलशयनीये येन नीता त्रियामा। समुदितबलकोशान्पुष्यमित्राश्च जित्वा, क्षितिपचरणपीठेस्थापितोवामपादे ॥ भितरी का स्तभलेख, पक्ति १०—कार्पस इसक्रिप्शनम् इडिकारम्, वाल्यूम ७३, पृ० ५३-५४।

देवकी की वंदना की थी। इस प्रकार प्राप्त राज्यश्री को देख ऐसा मालूम हुआ मानो लक्ष्मी ने स्वयं उसे वरण किया[1] है।

इतिहास की इस घटना का साहित्यिक रूप सोमदेव के कथा-सरित्सागर (विषमशील लबक) मे भी प्राप्त होता है। उसमे भी उज्जैन का नृपति महेद्रादित्य कहा गया है। उसका पुत्र विक्रमादित्य—विषमशील—था, जो शिव के प्रसाद-स्वरूप प्राप्त हुआ था, क्योंकि उस समय म्लेच्छों का उपद्रव भीषण रूप मे चल रहा था और उससे लोग त्रस्त थे। इस विक्रमादित्य ने भी म्लेच्छों का सहार किया और यह भी उज्जयिनी नगरी मे आया था[2]। इस कथा और स्कदगुप्त के इतिहास मे अत्यधिक समानता है, भले ही कथा मे काव्यात्मक पद्धति के कारण अन्य असंबद्ध बाते भी हों। कुमारगुप्त के महेद्रादित्य, स्कदगुप्त के विक्रमादित्य होने और स्कंदगुप्त के म्लेच्छ-संहार करने तथा उज्जैन मे उपस्थित होने के विषय मे विवाद नहीं हो सकता। अन्य लेखकों[3] ने भी इस मत का समर्थन किया है।

---

१ (क) पितरि दिवमुपेते विप्लुता वंशलक्ष्मीम्,
भुजबलविजितारिर्य प्रतिष्ठाप्य भूय ।
जितमिति परितोषान्मातर सास्रनेत्राम्,
हतरिपुरिव कृष्णो देवकीमभ्युपेत ।
—भितरी का स्तभलेख, पक्ति १२।

(ख) व्यपेत्य सर्वान्मनुजेन्द्रपुत्रान्, लक्ष्मी स्वय य वरयाचकार।
—जूनागढ का शिलालेख, पक्ति ५।
कार्पस इसक्रिप्शनम्, इडिकारम्, वाल्यूम ३, पृ० ५६।

२ महेद्रादित्य इत्यासीद्राजा ।—सोमदेवकृत कथासरित्सागर, विषमशील लबक, प्रथम तरग, श्लोक ११।
म्लेच्छाक्रान्ते च भूलोके
वही, श्लोक २२।
नाम्नास विक्रमादित्य हरोक्तेनाकरोत्पिता।
तथा विषमशील च महेद्रादित्यभूपति ।
वही, श्लोक ५१।
स राजा विक्रमादित्य प्राप चोज्जयिनी पुरीम्।
वही, विषमशील लबक, तृतीय तरंग, श्लोक ७।

३. (क) एलेन 'ए कैटेलाग आव् द इडियन क्वायस इन द ब्रिटिश म्यूजियम इट्रोडक्शन, पृ० ६६।

पुष्यमित्रों की पराजय के उपरात भी स्कंदगुप्त को साँस लेने का अवसर नहीं मिला। उसके सिंहासन पर बैठते ही बर्बर हूणों के अत्याचार और आक्रमण आरंभ हुए। सारा पश्चिमोत्तर प्रांत त्रस्त हो उठा। इस पर पुन वीर स्कदगुप्त ने अपने अलौकिक पराक्रम का उत्कट प्रदर्शन किया। संभवत. भितरी के स्तभलेख की चौदहवी पक्ति से आगे इसी स्थिति का वर्णन है, क्योंकि मालिनी के उपरात जहा से शार्दूलविक्रीड़ित छंद आरभ होता है वहाँ से ऐसा ही मालूम पड़ता है कि यह कुछ पृथक् विषय ही आरंभ हो रहा है। मालिनी छद तक पुष्यमित्रों के युद्ध और उसके परिणाम प्रभाव का वृत्त चलता है और उसके उपरात ऐसा स्पष्ट ज्ञात होता है कि किसी दूसरे प्रसंग की बात आरंभ हुई है। अपने बाहुबल से पृथ्वी को जीत कर विजितों पर दया की वर्षा कर निरभिमान रूप से स्कद ने वंश-मर्यादा स्थापित की थी, परंतु फिर भी आततायियों की ललकार सुनते ही पुन उठा और अपने कर्तव्य-पालन मे लग गया। उक्त स्तंभलेख की पद्रहवीं पक्ति मे उसके उसी घोर युद्ध का वर्णन है[1]। उस युद्ध मे भी उसी को विजय-लक्ष्मी प्राप्त हुई और एक बार फिर से राष्ट्र का उद्धार हो गया। इसके उपरात भी उसे युद्ध करने पड़े थे और संभवत युद्ध ही में उसकी मृत्यु भी हुई।

स्कंदगुप्त की प्रशस्त विरुदावली के साथ साथ उसकी अनेक उपाधियाँ भी थीं। कुछ रजत मुद्राओं पर उसके दादा द्वारा गृहीत पदवी 'विक्रमादित्य' प्राप्त होती है[2]। इदौर के ताम्रपत्र[3] के अनुसार उसकी पदवी 'परमभट्टारक महाराजाधिराज' थी और कहूम स्तभ-लेख[4] मे उसे 'क्षितिपशतपति' कहा गया है।

(ख) गुप्त साम्राज्य का इतिहास—श्रीवासुदेव उपाध्याय, प्रथम खड, पृ० ११६।

(ग) हेमचद्रराय चौधरी पोलिटिकल हिस्ट्री आव् एशिएट इडिया (१६३२), पृ० ३८६।

१. हूणैर्यस्य समागतस्य समरे दोर्भ्या धरा कम्पिता। —भितरी का स्तभलेख, पक्ति १५।

२. एलेन गुप्ता क्वायस, इट्रोडक्शन, पृ० ४८।

३. फ्लीट सी० आई० आई०, वाल्यूम ३, प्लेट स० १६।

४. फ्लीट : सी० आई० आई०, पृ० ६७, प्लेट स० १५।

गुप्त साम्राज्य के इस यशस्वी सम्राट् ने अपने पिता से प्राप्त विशाल राष्ट्र को शक्ति और बुद्धि-बल से भली भाँति नियंत्रित कर रखा था और अपने विस्तृत राज्य को कई प्रांतों मे विभाजित कर प्रांतपतियों—गोप्ताओं—की देखभाल में रख छोड़ा था[१]। उस समय सौराष्ट्र पर विशेष ध्यान दिया गया था, क्योंकि उसकी राजनीतिक महत्ता थी। अतएव उस प्रांत मे शासन के लिए स्कंदगुप्त को विशेष रूप से विचार करना पड़ा था, ऐसा जूनागढ़-शिलालेख से स्पष्ट है। बहुत सोच विचार के उपरांत वहाँ का गोप्ता पर्णदत्त नियुक्त किया गया था। वह सम्राट् का विश्वसनीय सहयोगी था[२]। इसी के पुत्र और गिरनार के विषयपति चक्रपालित ने सुदर्शन झील का पुनरुद्धार कराया था, जो स्कंदगुप्त के शासनकाल की एक प्रसिद्ध घटना है। गंगा-जमुना के मध्य का प्रांत अंतर्वेदी के नाम से प्रसिद्ध था। इस प्रांत का शासक शर्वनाग था[३] और यह प्रांत सीधे सम्राट् के अधीन माना जाता था। इसी प्रकार कोसम प्रांत भीमवर्मा के अधिकार में था[४]।

स्कंदगुप्त अपने पूर्वजों की भाँति ही वीर एवं पराक्रमी था। भितरी और जूनागढ के लेखों के आधार पर उसकी चरित्र-विषयक विशेषताओं का विशद विवेचन किया जा सकता है। उसमे अलौकिक पराक्रम के अतिरिक्त हृदय की मानव-विभूतियाँ भी वर्तमान थीं। शक्ति के साथ विनय सुनीति, वीरभाव के साथ करुणा-दया, विजय के साथ लोक-संरक्षण की भी अद्भुत प्रवृत्ति उसमें दिखाई पड़ती थी। उसकी देवोपम उदारता, त्याग और कष्ट-सहिष्णुता

---

१ सर्वेषु देशेषु विधाय गोप्तॄन् संचिन्तयामास बहुप्रकारम्।—जूनागढ़ का शिलालेख, पंक्ति ६।
फ्लीट सी० आई० आई०, पृ० ५६, प्लेट सं० १४।

२ आम्। ज्ञातमेकः खलु पर्णदत्तो भारस्य तस्योद्वहने समर्थ।
वही, पंक्ति ८।

३. विषयपतिशर्वनागस्य अंतर्वेद्या भोगाभिवृद्धये वर्तमाने।
इंदौर का ताम्रपत्र, पंक्ति ४।
फ्लीट सी० आई० आई०, पृ० ७०, प्लेट सं० १६।

४ कोसम की प्रस्तर-मूर्ति का लेख।
फ्लीट सी० आई० आई०, पृ० २६७, प्लेट सं० ६५।

इतिहास मे प्रसिद्ध है। उसके राजनीतिक जीवन में धार्मिक उदारता का भाव सर्वत्र मिलता है और उसके हृदय में विभिन्न मतावलबियों के प्रति सद्भाव था।

प्राचीन काल मे गुप्त साम्राज्य अपनी सुखशांति एव कलाकौशल के लिए अत्यत प्रसिद्ध है। उस समय सस्कृत साहित्य की भी विशेष रूप से अभिवृद्धि हुई। अनेक सुदर और श्रेष्ठ कृतिकार साहित्य के क्षेत्र मे अवतीर्ण हुए। उनमे सर्वश्रेष्ठ एव जगद्वंद्य कवि कालिदास की भी गणना की जाती है, परतु आज तक उनके रचनाकाल का निर्णय निर्विवाद रूप में नहीं हो सका है। कुछ विद्वानों का कहना है कि उनकी कृतियाँ ईसवी सन् के पूर्व प्रथम शतक मे निर्मित हुईं, कुछ लोग उन्हें गुप्तकालीन मानते है और तृतीय दल उन्हे और पीछे ले जाकर छठीं शताब्दी मे स्थान देता है[1]। इस प्रकार अपने अपने अनुकूल तर्कों को ढूँढ़कर प्रत्येक दल उन्हे अपनी ओर खींच रहा है।

---

१ इस विषय पर निम्नलिखित ग्रथो से विचार सग्रह किए गए हैं—

(क) भाऊ दाजी आन द सस्कृत पोएट कालिदास, जर्नल आव् द बाबे ब्राच आव् द रायल एशियाटिक सोसायिटी, जनवरी १८६१, पृ० १९-३३, २०७-२३०।

(ख) महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री कालिदास जर्नल आव् द बिहार एड ओरीसा रिसर्च सोसायिटी, वाल्यूम १, १९१५, पृ० १९७-२१२ ओर वाल्यूम २ (१९१६) पृ० ३१-४४, २०७-२३०।

(ग) नदार्गिकर इट्रोडक्शन टु रघुवश।

(घ) वी० ए० स्मिथ द अर्ली हिस्ट्री आव् इडिया (१९२४), पृ० ३२०-२१।

(ङ) एम० आर० काले इट्रोडक्शन टु कुमारसभव, १९-२३।

(च) सस्कृतकविचर्चा—श्रीबलदेव उपाध्याय (कालिदास, मातृ-गुप्ताचार्य और कुमारदास)।

(छ) चद्रगुप्त विक्रमादित्य—श्रीगगाप्रसाद मेहता, १९३२, पृ० १०६, ११५।

(ज) गुप्त-साम्राज्य का इतिहास—श्रीवासुदेव उपाध्याय, द्वितीय खड, पृ० ९१, ११२।

यों तो सभी अपनी तर्कबुद्धि के अनुसार इस कवि के समय-निर्धारण का प्रयास कर रहे हैं, परंतु अभी तक जिस दल को अधिक प्राधान्य मिला है वह कालिदास को गुप्तकाल का मानता है। अनेक पाश्चात्य एवं भारतीय विद्वानों ने इस काल-निर्णय को उचित माना है। देश की सुख-समृद्धि, उद्यम-उत्साह, वैभव-विलास और राजनीतिक व्यवस्था का जैसा रूप गुप्तकाल में था वैसा ही कालिदासकृत काव्यों में वर्णित है। गुप्त लेखों और प्रशस्तियों की अभिव्यंजना-पद्धति पर भी कालिदास की छाप दिखाई पड़ती है। इसके अतिरिक्त अन्य अनेक आधारों पर लोगों का यही विचार है कि इस कविकुल-गौरव की प्रतिभा का आरंभ शकारि चंद्रगुप्त (द्वितीय) विक्रमादित्य के अंतिम शासनकाल में हुआ, चरमोत्कर्ष कुमारगुप्त (प्रथम) महेंद्रादित्य के समय में और अंत सम्राट् स्कंदगुप्त विक्रमादित्य के साथ अथवा उसके कुछ काल उपरांत हुआ। यही युग भारतीय इतिहास का स्वर्णयुग कहलाता है जो कालिदास की काव्य-रचना का अनुकूल क्रीडास्थल हो सकता है। तर्क एवं बुद्धिगत अधिक प्रमाण इसी पक्ष के उपस्थित किए गए हैं और अब तो यह विषय निर्विवाद सा हो चला है। इस विषय में गुप्तकाल को स्वीकार करनेवालों में अनेक पाश्चात्य एवं भारतीय विद्वान् सहमत हैं। साथ ही गुप्तकाल के उक्त सम्राटों की शासनसीमा के भीतर कालिदास की स्थिति स्वीकार करनेवालों में मुख्यतः पूना के के० बी० पाठक, विजयचंद्र मजुमदार, श्री भिडे, श्री काले, विंसेंट स्मिथ प्रभृति लेखक हैं। इनमें भी मजुमदार और भिडे महाशय तो कवि का मुख्य रचना-काल सम्राट् स्कंदगुप्त के शासनकाल को मानते हैं। इस तरह इस कवि का समय ईसवी सन् ३६० से लेकर ४८० तक के भीतर रखा जा सकता है।

(ञ) बी० सी० मजुमदार द डेट आव् कालिदास, जर्नल आव् द रायल एशियाटिक सोसायिटी १९०९, पृ० ७३१–७३९।

(ट) क्षेत्रेशचंद्र चट्टोपाध्याय द डेट आव् कालिदास (१९२६)।

(ठ) एच० बी० भिडे कालिदास एंड गुप्ता किंग्स, फर्स्ट ओरियंटल कांफ्रेंस, पूना, वाल्यूम, १, पृ० १११।

कवि कालिदास के साथ ही मातृगुप्ताचार्य का संबंध जोड़ा गया है, जिसका समय औफ्रेक्ट महाशय ने ई० सन् ४३० ठहराया है। डा० भाऊदाजी का एक पुराना मत इस विषय का है। उनके विचार से कालिदास और मातृगुप्त एक ही व्यक्ति है। अपने मत के समर्थन मे उन्होंने चार बाते कही है। पहली बात उस जनश्रुति पर आश्रित है जिसके अनुसार राजा विक्रमादित्य ने प्रसन्न होकर कालिदास को आधा राज्य दान कर दिया था। दूसरी बात कालिदास और मातृ-गुप्त नामों के अर्थसाम्य को लेकर चलाई गई है। तीसरी बात राज-तरंगिणी मे कालिदास ऐसे श्रेष्ठ कवि का उल्लेखाभाव है। चौथी बात प्राकृतकाव्य 'सेतुबंध' के बल पर उठाई गई है। इस काव्य के टीका-कार ने कहा है कि प्रवरसेन की प्रेरणा से इस काव्य को कालिदास ने निर्मित किया। इस टीकाकार की बात का आंशिक समर्थन बाणभट्ट ने भी अपने हर्षचरित में एक श्लोक—'कीर्त्ति प्रवरसेनस्य प्रयाता कुमुदोज्ज्वला। सागरस्य परं पारं कपिसेनेव सेतुना'—द्वारा किया है। डा० भाऊदाजी के मत के विरुद्ध विद्वानों ने प्रबल प्रमाण उपस्थित किए है। इसके अतिरिक्त उस मत का समर्थक भी कोई नही हुआ और अब तो वह बात बहुत पीछे छूट गई है। फिर भी यह एक मत चला तो अवश्य जिस पर कुछ दिन तर्कवितर्क भी चलते रहे।

इसी प्रकार सिंहल के राजकुमार धातुसेन अथवा कुमारदास का संबंध भी कवि कालिदास के साथ कहा गया है। महावंश के अनु-सार इसका शासनकाल ईसवी सन् ५११ से ५२४ तक माना गया है। यह राजकुमार बड़ा सुंदर कवि था। इसके रचित काव्य 'जानकी-हरण' की प्रशंसा की गई है। कहा जाता है कि इस काव्य को सुन-कर कालिदास ने बड़ी प्रसन्नता प्रकट की थी। इन दोनो कवियों के संबध का स्पष्ट कारण तो यह है कि रघुवंश और जानकीहरण की शैली मे बड़ा साम्य है। कालिदास और कुमारदास की मैत्री का कारण भी यही माना जाता है। इस साम्य का निरूपण थोड़े मे नदगींकर पंडित ने इस प्रकार किया है—

"His Jankiharana is no doubt a close imitation of Kalidasa's great epic, to which we may add, it is

not inferior either in quality or in quantity. Most of his verses are saturated with the legends of Ramayana and with the style of Kalidas Kalidasian words, phrases, metres and Alankaras are interwoven in almost every verse of his poem"

विविध विद्वानों ने इन दोनों की घनिष्ठता एवं मैत्री का उल्लेख किया है, परंतु अन्य विषयों की भाँति इस विषय में भी मत की भिन्नता ही अधिक दिखाई पड़ती है। कुमार धातुसेन और कुमारदास एक ही थे अथवा भिन्न व्यक्ति? वस्तुतः कालिदास और कुमारदास समकालीन थे या नहीं? इन प्रश्नों का कोई एक उत्तर नहीं है।

'दिङ्नागाना पथि परिहरन्स्थूलहस्तावलेपान्' (मेघदूत, १४) के आधार पर विद्वानों द्वारा कालिदास एवं दिङ्नाग के आगे-पीछे की गुरुपरंपरा में यह क्रम स्थापित किया गया है—मनोरथ के शिष्य वसुबंधु (ई० सन ४२० से ५०० तक), उनके शिष्य दिङ्नाग (पाँचवी शताब्दी का उत्तरार्ध), फिर उनके शिष्य परमार्थ (ई० सन ४९९ से ५६९ तक[1])। दिङ्नाग के दादागुरु मनोरथ और गुरु वसुबंधु को ह्वेनत्सांग[2] और परमार्थ ने—जिसने वसुबंधु का बृहत् जीवनवृत्त लिखा है[3]—श्रावस्ती (संभवतः गुप्त सम्राटों का उत्तरी निवासस्थान) के विक्रमादित्य का समसामयिक बताया है। गुप्त शासकों के समय में बौद्ध विद्वानों एवं ब्राह्मण आचार्यों में शास्त्रार्थ तथा विवाद होने के अनेक प्रमाण मिलते हैं। ह्वेनत्सांग ने अपने विवरण में विक्रमादित्य की सभा में ब्राह्मणमंडली के द्वारा मनोरथ की पराजय का उल्लेख किया है[4]। संभवतः उस मंडली में कुमारगुप्त के आश्रित महाकवि कालिदास भी संमिलित रहे हों और इसलिए प्रतिकार रूप में दिङ्नाग ने आगे चलकर उनका विरोध किया हो।

---

१ द जर्नल आव् द बाँबे ब्रांच आव् आर० ए० एस० वाल्यूम २३, पृ० १८५।

२ थामस वाटर्स आन यानच्वांग्स ट्रैवेल्स इन इंडिया, वाल्यूम १, पृ० २१०-२१८।

३ गुप्तसाम्राज्य का इतिहास—श्रीवासुदेव उपाध्याय, द्वितीय खंड, पृ० १४०।

४ नंदर्गीकर इंट्रोडक्शन टु रघुवंश, पृ० ७९-८०।

सामान्य परिचय

रचनापद्धति और नाटकीय गुण के विचार से 'प्रसाद' का सर्वोत्तम नाटक स्कंदगुप्त है। इसमें पाश्चात्य एवं भारतीय नाट्यशास्त्र के विहित सिद्धांतों का व्यावहारिक प्रयोग बड़ा अच्छा हुआ है। वस्तु-तत्त्व, चरित्रांकन, संवाद और देशकाल का चित्रण इसमें बड़ी सूक्ष्मता से किया गया है। स्वयं लेखक को अपनी इस रचना से बड़ा संतोष था। संपूर्ण नाटक में पाश्चात्य सिद्धांत के अनुसार सक्रियता का प्राधान्य है और भारतीय परंपरा के रससिद्धांत का भी सुंदर समन्वय जितना इस कृति में दिखाई पड़ता है उतना और कहीं नहीं। भले ही कुछ लोग काव्यात्मकता के आधिक्य के कारण नाक-भौं सिकोड़ें, परंतु भारतीय नाट्यपरंपरा की विशिष्टताओं से अवगत सहृदय समालोचक अवश्य ही उसका यथार्थ रसास्वादन करते हैं।

कथांश

गुप्तसाम्राज्य का अधिपति कुमारगुप्त कुसुमपुर में अपना विलासी जीवन व्यतीत कर रहा है। युवराज स्कंदगुप्त गुप्तकुल के उत्तराधिकार नियम की अव्यवस्था के कारण अपने पद एवं दायित्व से कुछ उदासीन और चिंतित रहता है, जिससे साम्राज्य का भविष्य अंधकारपूर्ण दिखाई पड़ता है। इसी समय मालवराज्य पर विदेशियों का आक्रमण होता है और एकाकी वीर स्कंदगुप्त ठीक अवसर पर पहुँचकर राज्य की रक्षा करता है। इसके उपरांत राजधानी में सम्राट् का निधन और परिणाम रूप में कौटुंबिक कलह के कारण स्कंदगुप्त मालव का सिंहासन स्वीकार करता है। हूणों के आक्रमण से आर्यावर्त की रक्षा आवश्यक समझकर वह इस अभिषेक के पश्चात् सेना का संगठन करके आक्रमणकारियों का सामना करता है। इसी बीच उसे विमाता से उत्पन्न अपने छोटे भाई के कुचक्र को दबाना पड़ता है। युद्ध में साम्राज्य के सेनापति भटार्क की नीचता के कारण हूणों का बढ़ाव नहीं रोका जा सका और स्कंदगुप्त की सेना आपत्ति के गर्त में पड़ जाती है।

कुभा के रणक्षेत्र में स्कंदगुप्त की सेना विच्छिन्न हो जाती है। तदनंतर बड़ी चेष्टा से फिर एक बार सेना का संगठन होता है और

गुप्तसाम्राज्य के बचेबचाए वीर एकत्र होते हैं। स्कंदगुप्त भी गोपाद्रि से बढ़कर सिंधु के समीप आता है। वहाँ दूसरी बार युद्ध होता है और हूण पूर्णरूप से पराजित होते हैं। इस प्रकार स्कंदगुप्त अपने जीवनकाल में एक बार तो आर्यावर्त को हूणों से निरापद बना ही देता है। नाटक के इस कथांश का समर्थन इतिहास करता है। संपूर्ण घटनाचक्र का उतार-चढ़ाव इतिहाससंमत है।

वस्तुतत्त्व और कार्यावस्थाएँ

सारी वस्तुस्थिति एवं घटनाचक्र का विभाजन पाँच अंकों में इस प्रकार किया गया है कि आरंभ, प्रयत्न, प्राप्त्याशादि कार्यों की विभिन्न अवस्थाओं का स्पष्ट बोध होता चलता है। प्रथम अंक में आरंभ नामक कार्यावस्था का बहुत सुंदर चित्रण है। नाटक का यह अंक परिचयात्मक होता है। इसमें प्रमुख सभी पात्रों की मौलिक विशिष्टताओं का निदर्शन, कुलशीलता का स्पष्ट निर्देश और फलसमस्या का खुला हुआ उल्लेख आवश्यक रहता है। इसीलिए घटनाओं के संघटन का वेगयुक्त होना अत्यंत अपेक्षित रहता है। इस सिद्धांत का निर्वाह प्रस्तुत नाटक में बड़ा सुंदर मिलता है। विभिन्न पात्रों के कुलशील के साथ साथ प्रधान मनोवृत्तियों का परिचय तो मिलता ही है, इसके अतिरिक्त कार्यव्यापार की अधिकता के कारण आद्यंत आकर्षण भी बना रहता है। इसी अंक में नाटक के लक्ष्य-फल अथवा साध्य विषय का परिचय स्पष्ट रूप से प्राप्त हो जाता है।

गुप्तसाम्राज्य की स्थिति बड़ी गंभीर है। गृहकलह, सम्राट् की कामुकता, युवराज की उदासीनता, महाबलाधिकृत वीरसेन की असामयिक मृत्यु और बर्बर हूणों के लगातार आक्रमणों के कारण साम्राज्य एवं आश्रित राष्ट्रमंडलों की रक्षा का प्रश्न जटिल हो गया। ऐसी स्थिति में यह एक समस्या उत्पन्न हो जाती है कि किस प्रकार साम्राज्य और आर्यावर्त का संमान बचे। अत: कौटुंबिक कलह की शांति और राष्ट्रगौरव की रक्षा ही वह फल है जिसकी प्राप्ति स्कंदगुप्त तथा उसके अन्य सहयोगियों का लक्ष्य है। लेखक ने इस अंक में साध्य विषय की विषमताओं एवं प्राप्ति के साधनों का आभास बड़ी सावधानी से दिया है। अनंतदेवी, पुरगुप्त और भटार्क के कुचक्र में

पड़कर सम्राट् का निधन होता है। साथ ही साम्राज्य के परमहितैषी पृथ्वीसेन, महाप्रतिहार और दडनायक आत्महत्या कर लेते है। कर्तव्योन्मुख स्कंदगुप्त की चेष्टाओं पर इन व्याघातों का बडा अनुकूल प्रभाव पडता है। वह महत् उद्देश्य की पूर्ति के निमित्त अग्रसर होकर मालवरक्षा मे सनद्ध होता है। लक्ष्यप्राप्ति के साधन का भी यहीं से आरभ हो जाता है।

अक की समाप्ति भी बडे उत्साहवर्धक स्थल पर हुई है। जिस प्रकार नाटकों का आरभ और अत आकर्षक तथा प्रभावशाली होना चाहिए उसी प्रकार प्रत्येक अक की समाप्ति भी ऐसे स्थलो पर आवश्यक है जो लक्ष्यसाधन के सुदर पडाव प्रमाणित हो सकें, जिन अशों पर पहुँचकर यह स्पष्ट दिखाया जा सके कि उत्कर्ष का यह एक खंड पूरा हुआ। इस स्थल पर आकर जैसे कथानक की खडसमाप्ति का ज्ञान कराना आवश्यक है उसी प्रकार चरित्रविकास की आंशिक पूर्णता का आभास देना भी। प्रथम अक के समाप्ति-स्थल पर इन दोनो विचारों का अच्छा योग है। कार्य की आरभा-वस्था की समाप्ति के साथ-साथ चरित्रविकास और रसपरिपाक के उपक्रम का परिचय प्राप्त हो जाता है। मालव की गौरवप्रतिमा टूटने ही को है, द्वार टूट चुका है, विजयी शत्रुसेनापति का प्रवेश होता है, भीम आकर उसे रोकता है और गिरते-गिरते जयमाला और देवसेना की सहायता से युद्ध करता है। सहसा स्कंदगुप्त सैनिकों के साथ प्रवेश करता है। उसे इस प्रकार टूट पडते देखकर शक और हूण स्तंभित होते हैं। फिर भयकर युद्ध होता है और स्कदगुप्त शत्रुओं को बंदी बनाता है। यहाँ भारत की दुर्दम युद्ध-वीरता का आलोकपूर्ण रूप मुखरित हो उठता है।

इसके अतिरिक्त एक विशेष बात और दिखाई पडती है। आधि-कारिक कथावस्तु की आरंभावस्था की समाप्ति के साथ ही स्कदगुप्त के व्यक्तिगत जीवन से सबद्ध प्रेम की प्रासगिक कथावस्तु का आरभ भी यहीं से हो जाता है। जयमाला और देवसेना के अतिरिक्त विजया की नवीन और अपरिचित मूर्ति का दर्शन होने पर स्कद का उसकी ओर आश्चर्ययुक्त आकर्षण दिखाकर नाटककार ने प्रासगिक कथानक का सूत्रपात किया है। धीरे-धीरे आधिकारिक वस्तु के साथ-साथ

इस प्रेमप्रसंग का उत्कर्षापकर्ष दिखाया गया है। प्रेम की यह एकांत-चर्या स्कंद के अंतरंग जीवन से संबद्ध होकर चली है। कहीं भी वह उसके सामाजिक जीवन पर प्रत्यक्ष प्रभाव नहीं डालती। अतएव इसका सर्वथा पृथक् रूप से ही विचार करना अच्छा होगा, यों तो हमने स्कंद के जीवन की धारा को कभी छोड़ा नहीं है।

द्वितीय अंक में प्रयत्नावस्था है। यह प्रयत्न दो विषयों का है। साध्य के साधन में दो विघ्न हैं। इस अंक में इन्हीं दोनों विघ्नों को हटाने का प्रयत्न हुआ है। प्रथम विघ्न तो गृह-कलह है जो अनंतदेवी और भटार्क के कुचक्र रूप में दिखाई पड़ता है। प्रथम अंक में इन कुचक्रियों ने सम्राट् का जीवन समाप्त किया, अब इस अंक में देवकी की जीवनलीला पूरी करना चाहते हैं। दूसरा विघ्न बर्बर आक्रमण-कारियों का आतंक है, जिससे संपूर्ण देश की रक्षा करनी है। एक ओर इस महान् उद्देश्य की पूर्ति का प्रश्न है और दूसरी ओर स्कंद-गुप्त अपना विरागी मन किस-किस ओर लगाए, यह समस्या है। प्रयत्न रूप में वह कुसुमपुर में पहुँचकर ठीक समय पर अपनी माता देवकी की रक्षा करता है। इस प्रकार षड्यन्त्र का नियन्त्रण होता है। उधर अवंती में राज्याधिकार स्वीकार कर लेना और सहयोगियों के द्वारा शक्ति संचय करता है, जिससे प्रधान लक्ष्य की सिद्धि का योग मिलता है। द्वितीय अंक की समाप्ति प्रभावशाली और आकर्षक है। स्कंदगुप्त का राज्यारोहण और कुचक्रियों का बंदीरूप में सामने उपस्थित होना इसका अंतिम दृश्य है। इसमें प्रयत्न-पक्ष की पूर्णता स्थापित होती है। इस प्रयत्न के रूप का दर्शन होने पर भविष्य स्पष्ट दिखाई पड़ने लगता है।

प्रेम की प्रासंगिक कथा भी आगे बढ़ती है। इस अंक में विजया स्वीकार करती है कि युवराज स्कंद की ओर वह आकर्षित है, परंतु उसके विराग-भाव को देखकर उसकी चंचल वृत्ति विमुख हो जाती है। फलतः वह भटार्क की ओर बढ़ती है। न्यायाधिकरण में वह भी भटार्क और अन्य बंदियों के साथ उपस्थित होती है। स्कंदगुप्त को आश्चर्य और संभवतः दुःख होता है। वहाँ विजया स्वीकार करती है कि 'मैंने भटार्क को वरण किया है'। इस पर स्कंद के विरागी हृदय को चोट पहुँचती है। साथ ही देवसेना स्थिति को स्पष्ट रूप से

समझ लेती है। उसे यह ज्ञात हो जाता है कि वस्तुत स्कंद विजया से प्रेम करता है। अतएव वह अपना कर्तव्य स्थिर कर लेती है।

तृतीय अक मे भी स्कंद की जीवन-धारा का क्रम पूर्ववत् ही रहता है। अनतदेवी, भटार्क और प्रपचबुद्धि का कुचक्र उसी प्रकार चल रहा है और स्कदगुप्त को उसी प्रकार उनसे युद्ध करना पडता है। महादेवी देवकी की ओर से असफल होकर ये लोग देवसेना को अपना लक्ष्य बनाते है। उसी कुचक्र में विजया भी संमिलित हो जाती है। श्मशान मे ठीक अवसर पर पहुँचकर मातृगुप्त और स्कद देव-सेना की रक्षा करते है। इसके पश्चात् बधुवर्मा को महाबलाधिकृत बनाकर समिलित सेना के साथ स्कद पश्चिमोत्तर सीमाप्रांत की गाधार-घाटी मे युद्ध करने बढता है। उसकी सेना मे एक अश मागधी सेना का भी है जिसका नायक भटार्क है। भटार्क रणस्थल मे आने के पूर्व हूण दूत से मिलकर उसके अनुकूल कार्य करने के लिए बचनबद्ध हो जाता है। उस पर बधुवर्मा को सदेह होता है और वह समयानुसार स्कद को सावधान भी करता है, परतु स्कद अपनी स्वाभाविक उदारता और नीति के अनुसार भटार्क को केवल सचेत भर कर देता है। उस महत्त्वपूर्ण अवसर पर भटार्क अपना सच्चा रूप प्रकट करता है। जो दायित्व उसे सौंपा गया था उसके ठीक विरुद्ध आचरण करके स्कद के जीवन को अधकार के गर्त मे डाल देता है। जिस समय स्कद की सेना कुभा पार कर रही थी उसी समय वह बाँध काट देता है, जिससे स्कद और उसके साथ की सेना बाढ मे बह जाती है। भटार्क के कारण फल की प्राप्त्याशा की स्थापना नही हो पाती।

कार्य की भारतीय प्राप्त्याशावस्था की स्थापना नियमत तृतीय अक की समाप्ति के साथ-साथ होनी चाहिए, परतु उस अक के अत मे प्राप्त्याशा का रूप उपस्थित न होकर पाश्चात्य चरमसीमा का रूप स्फुट और स्पष्ट होता है। प्रधान पात्र के लिए आशका, विरोध और कष्ट की यहाँ चरमसीमा दिखाई पडती है। हाँ, फलप्राप्ति की आशा एव सभावना अन्य प्रकार से ध्वनित है। स्कदगुप्त का चरित्रबल इन आपदाओं से हार नही मान सकता, यह विश्वास, प्राप्ति की आशा का रूप है। दूसरी बार वह दुगुने उत्साह से आक्रमण करेगा और

आशा की जा सकती है कि उस फल की सिद्धि होगी। वह भटार्क ऐसे संदिग्ध सैनिकों पर पुन विश्वास करने की भूल कदापि न करेगा। यहाँ यदि ऐसा विश्वास न किया जाय तो इस अंक के अत में आकर फलप्राप्ति की आशा तो नही, हाँ उसके दु खों की चरम-सीमा का बोध अवश्य होता है।

इसके अतिरिक्त अंत सलिला पयस्विनी के समान प्रेम का प्रसंग और अधिक रंग पकडता है। अपना राज्य स्कदगुप्त को अर्पण करके देवसेना ने उसे अपने उपकारों के बोझ से दबा दिया है और इस प्रकार वह विवश होकर अवश्य ही प्रतिदान के रूप मे अपना प्रेम देवसेना को देगा—ऐसा विचार कर विजया देवसेना को अपना शत्रु समझ बैठती है। फलत वह स्कदगुप्त और देवसेना के विरुद्ध और भटार्क तथा अनतदेवी के अनुकूल वेग से दौड पड़ती है। उसके इस कार्य व्यापार का परिणाम यह होता है कि स्कंदगुप्त की प्रेम की मधुर भावनाएँ उसकी ओर से आहत होकर एकमात्र अधिकारिणी देवसेना की ओर बढ़ती हैं। स्थिति भी इसके अनुकूल आ ही जाती है। देवसेना के वध किए जाने की बात स्कंद को ज्ञात हो जाती है और वह ठीक अवसर पर पहुँचकर उसे बचाता है। वह भयभीत दशा मे स्कद का आलिगन करती है। वहीं स्कंदगुप्त को व्यक्त रूप मे यह मालूम होता है कि देवसेना उससे प्रेम करती है। इस अवसर पर मृत्युकाल समीप समझकर ही वह अपना अतस् खोलती है, अन्यथा आगे चलकर वह कभी स्कद से प्रेम की चर्चा करके उसका अपमान नही होने देती। प्रेम-ज्वर पर कठोर नियत्रण करती रहती है। दूसरी ओर विजया भटार्क के साथ रहकर युवराज पुरगुप्त का मनबहलाव करती दिखाई देती है।

भारतीय पद्धति से चौथे अक मे नियताप्ति होनी चाहिए। फल की प्राप्ति नियत-निश्चित हो जानी चाहिए, परतु ऐसा स्पष्ट दिखाई नहीं देता। उसका प्रच्छन्न प्रतिपादन अवश्य है, परंतु जितनी सुदर पाश्चात्य निगति दिखाई पडती है उतनी भारतीय नियताप्ति नहीं। स्कंदगुप्त का एकाकी और नि.सहाय रूप मे बचे रहना, संपूर्ण धर्म-संघों का विरुद्ध हो जाना, उसकी माता देवकी की मृत्यु, समस्त साधनों का विशृंखल होना और सामरिक शक्ति का टूट जाना निगति

का रूप दिखाता है। कुछ स्थितियाँ ऐसी अवश्य आई है जिनसे हम यह समझ ले सकते हैं कि अत अनुकूल होगा। इस अक का आरभ ही विरोधियों में फूट की कथा कहता है। भटार्क को लेकर, विजया और अनतदेवी मे, विरोध होता है। शर्वनाग की बातचीत से विजया और भी प्रभावित होती है और देश के कल्याण मे निरत होना चाहती है। उधर अपनी माता की फटकार और राजमाता देवकी की मृत्यु से भटार्क की आँखे कुछ खुलती है। वह निश्चय करता है। कि अब वह संघर्ष से अलग रहेगा। इस प्रकार विरोधी दल की फूट, भटार्क की मनोवृत्ति मे मगल का प्रवेश और स्कदगुप्त आदि कुछ वीरों का बचे रहना ही नियताप्ति का सूचक है। इसी आधार पर उज्ज्वल भविष्य की आशा निश्चित होती है।

प्रेम के क्षेत्र मे भी परिवर्तन है। विजया पुन एक बार स्कद की ओर बढ़ती है। उसके विचारों में परिवर्तन होता है, परंतु उस समय तक स्कदगुप्त उसकी ओर से असफल होकर देवसेना के प्रति अपना दायित्व स्थिर कर लेता है। हूण से त्रस्त होकर जिस समय देवसेना सहायता की पुकार लगाती है उस समय स्कद पूरी तत्परता से अपने सच्चे मित्रों बधुवर्मा की धरोहर को बचाने के लिए दौड़ता है। नाना प्रकार के दायित्वपूर्ण व्यापारों मे निरत रहने से स्कंद के ऊपर अभी तक जो एक प्रकार की आत्मविस्मृति छाई हुई थी, इस घटना से वह भाग खड़ी होती है और उसमे विजया के प्रति विरक्ति और देवसेना के प्रति दायित्वपूर्ण अनुरक्ति की स्थापना हो जाती है।

नाटक का पचम अक सुदर और प्रभावशाली है। उसमें समष्टि-प्रभाव अथवा प्रभावान्विति की स्थापना बडी महत्त्वपूर्ण है। यदि भटार्क की देश-रक्षा के व्रत की सूचना और साम्राज्य के बिखरे हुए सब रत्नों को एकत्र करनेवाले पर्णदत्त का संकल्प चतुर्थ अक मे आ जाता तो नियताप्ति का सुदर रूप खडा हो गया होता, परतु नाटक-कार इन्ही साधनो के द्वारा फलप्राप्ति कराना चाहता है। अतएव उसने इनको निर्वहण सधि मे रखा है। विजया का रत्नागार लेकर भटार्क पवित्र उत्साह से नवीन सेना का संकलन प्रारभ करता है। अंत मे आकर विरोधियों का एक गढ और टूटता है। प्रख्यातकीर्ति एवं धातुसेन के प्रयत्न से अनंतदेवी और धर्म-संघों मे भी अनबन

हो जाती है। इस प्रकार विरोधी दल के सभी अवयव दुर्बल हो जाते है। उधर पर्णदत्त की साधना से साम्राज्य के सभी बचे रत्न एकत्र होकर स्कदगुप्त की छत्रछाया मे एक बार पुन आर्यावर्त की रक्षा का उद्योग करते है। इस बार का उद्योग सफल होता है। खिगिल वदी किया जाता है, परतु सिधु के इस ओर के पवित्र देश मे न आने का प्रतिबध लेकर स्कदगुप्त उसे मुक्त कर देता है। यह तो आर्यावर्त और उसके गौरव की रक्षा हुई। दूसरी ओर युद्धक्षेत्र ही म पुरगुप्त को रक्त का टीका लगाकर वह गृह-कलह और कौटुबिक अशाति को भी पूर्ण रूप से मिटा देता है। रस-निष्पत्ति का यह भव्य रूप अत मे बड़ा ही प्रभावोत्पादक है।

फलप्राप्ति का यह सामाजिक रूप स्कदगुप्त के व्यक्तिगत जीवन से सर्वथा पृथक् है। वह विरागी राष्ट्रोद्धारक अत मे अपने सामाजिक अनुष्ठान मे पूर्ण सफल होकर भी व्यक्तिगत रूप मे सर्वथा दरिद्र ही रह जाता है। विजया से तो यदि स्वर्ग भी मिले तो वह लेने को तैयार नहीं और देवसेना प्रतिदान मे उसका प्रेम स्वीकार कर मालवराज के समान को गिराना नहीं चाहती। स्कदगुप्त पर अपने जीवन को अर्पित करके भी वह उसके प्राप्य मे भाग नहीं लेना चाहती। ऐसी अवस्था म 'हतभाग्य स्कदगुप्त अकेला' ही रह जाता है। मानव-जीवन का यह कठोर वैषम्य उसकी व्यक्तिगत कथा का मूल भाव है।

अर्थप्रकृति

कार्य की अवस्थाओ के साथ अर्थप्रकृतियो का विनियोग भी स्पष्ट रूप से होता गया है। आरभावस्था मे ही बीज अर्थप्रकृति का स्थापन हो गया है। इस अर्थप्रकृति का आरभ प्रथम दृश्य के उस स्थल पर दिखाई पडता है जहाँ स्कदगुप्त के पूछने पर कि 'अधिकार का उपयोग करें! वह भी किस लिए!' पर्णदत्त ने अधिकारयुक्त वाणी मे उत्तर दिया है—'किस लिए! त्रस्त प्रजा की रक्षा के लिए, शिशुओ को हँसने के लिए, सतीत्व के समान के लिए, देवता, ब्राह्मण और गौ की मर्यादा मे विश्वास के लिए, आतक से प्रकृति को आश्वासन देने के लिए। आपको अधिकारो का उपयोग करना होगा'। इसी स्थल से फलाधिकारी उदात्त कार्य-व्यापारों की ओर

संलग्न हुआ है। अधिकार की मर्यादा ही उस कार्य का बीज रूप है जिसकी सिद्धि के लिए सब व्यापार किए गए हैं। मुख्यफल का हेतु यह कथाभाग क्रमशः वहाँ तक विस्तृत होता जाता है जहाँ स्कंदगुप्त के अवंती पहुँचने की सूचना मिलती है, अर्थात् प्रथम अंक का वह स्थल जहाँ मातृगुप्त अत्याचार में निरत हूणों को आतंकित करता है और सहसा महाराजपुत्र गोविंदगुप्त के आ जाने से हूण भाग जाते हैं। अंतिम दृश्य में बिंदु अर्थप्रकृति का आरंभ हो जाता है क्योंकि मुख्य कथा-वस्तु अविच्छिन्न बनी ही रहती है और अवांतर, जो मालव-विजय का प्रसंग है, वहाँ अग्रसर होता दिखाई पड़ता है। इसके पश्चात् अवांतर कथा तो उत्तरोत्तर अग्रसर होती जाती है और आधिकारिक कथा भी बराबर चलती रहती है। इस प्रकार बिंदु का प्रसार तृतीय अंक के प्रथम दृश्य की समाप्ति तक चलता है। यहाँ तक आकर कथाभाग के बीज का पूरा-पूरा विस्तार हो जाता है और इसके उपरांत फिर किसी नवीन पात्र अथवा नवीन ढंग के व्यापार का योग नहीं आता। पताका अर्थप्रकृति के रूप में बंधुवर्मा का प्रसंग है। जहाँ से यह प्रसंग आरंभ हुआ है वहीं से यह स्पष्ट हो जाता है कि उसका अपना कोई भिन्न लक्ष्य नहीं है। फलाधिकारी के मुख्य कार्य-व्यापार में ही बंधुवर्मा साथ देता जाता है और उसकी सिद्धि का सर्वोत्तम साधन बना हुआ निरंतर उद्योगशील दिखाई पड़ता है। यह प्रसंग जाकर गर्भ संधि के बीच में बंधुवर्मा की मृत्यु के साथ ही समाप्त होता है। इस प्रसंग से संबद्ध देवसेना और भीमवर्मा अवश्य ही आगे तक जीवित रहते हैं, परंतु पताका नायक की समाप्ति के साथ ही उसके द्वारा आरंभ किया हुआ व्रत समाप्त हो जाता है। प्रकरी रूप में प्रसंगागत कई छोटे छोटे वृत्त आए हैं, जैसे शर्वनाग, धातुसेन, मातृगुप्त इत्यादि के प्रसंग। नाटक का मुख्य कार्य है गुप्त-साम्राज्य की विचलित लक्ष्मी को संपन्न और निरापद बनाना। इसीलिए सब प्रयत्न और प्रयास एकत्र किए गए हैं। अतएव इस कार्य के अनुकूल स्थिति जहाँ से उत्पन्न होने लगी है वहाँ से कार्य अर्थप्रकृति का आरंभ हो जाता है। विरोधी दल का नेता भटार्क जहाँ यह निश्चय करता है कि सब भूलकर, अब स्कंदगुप्त की छत्र-

है। मगध मे अनंतदेवी, पुरगुप्त, विजया और भटार्क का जो समेलन होता है उसमे गर्भ संधि का आरंभ हो जाता है, क्योकि फिर तो क्षण-क्षण पर बीज अथवा फल का आविर्भाव और तिरोभाव होने लगता है और कुतूहल की तीव्रता बढ उठती है। अनंतदेवी और भटार्क के कारण फलप्राप्ति मे आशंका उत्पन्न होती है और स्कंदगुप्त के प्रयत्नों को देखकर आशा का उदय होने लगता है। यह द्विधा की अवस्था चतुर्थ अक के द्वितीय दृश्य तक चली है, अतएव वही गर्भ संधि की समाप्ति माननी चाहिए। इसी अक मे आगे चलकर विचित्र अवस्था मे स्कंदगुप्त का जो प्रवेश होता है, वह विमर्श संधि का स्थल है। यह विमर्श विपत्तिमूलक है। विपत्ति मे पड़ा हुआ प्राणी जिस प्रकार अनुभव करता है उसी रूप मे स्कंदगुप्त दिखाई पडता है। 'कर्तव्य विस्मृत, भविष्य अंधकारपूर्ण, लक्ष्यहीन दौड और अनंत सागर का संतरण है, अवलंब दो नाथ!' विपत्ति मे पडे हुए की यह विपन्नावस्था कुछ दूर तक चलती है। इस बीच मे विपक्षी कुछ दुर्बल होने लगते है। उनमे पश्चात्ताप का उदय होता है। इस कारण जब भटार्क भविष्य मे सुधार के लिए कृतनिश्चय होकर सद्भाव से स्कंदगुप्त के पास आता है तब इस विपत्तिकाल की समाप्ति होती है। वहाँ से आगे तो फिर निर्वहण संधि आरंभ हो जाती है, क्योंकि धीरे-धीरे विरोधी वर्ग के लोग या तो मर जाते है या अधिकारी नायक के अनुकूल होने लगते है। इस प्रकार उत्तरोत्तर फलप्राप्ति समीप आने लगती है। विजया आत्महत्या कर लेती है। भटार्क स्कंदगुप्त के अनुकूल हो जाता है, अनंतदेवी और पुरगुप्त बंदी कर लिए जाते हैं। अंत मे खिंगिल की भी पराजय होती है।

पात्र-चरित्र

चरित्रांकन की पद्धति के विचार से स्कंदगुप्त नाटक मे कोई नवीनता नही दिखाई पड़ती। नाटककार ने मनुष्य की तीन विभिन्न स्थितियों और वृत्तियों का जैसा स्वरूप अपने अन्य रूपकों मे उपस्थित किया है उसी प्रकार इसमे भी है। इस व्यावहारिक संसार मे हमे शुद्ध मानव—अपने अच्छे और बुरे रूपों से युक्त, राक्षस—अशुद्ध और असत् मूर्ति और देवता—आदर्श के सच्चे प्रतिनिधि, दिखाई पड़ते है। उसी प्रकार उनमे सत्-असत् मनोवृत्तियाँ भी काम किया

करती है, परंतु राक्षस कभी प्रबल पड़ता नहीं दिखाया गया है। इस विषय में 'प्रसाद' भारत की शुद्ध आध्यात्मिकता का ही प्रतिपादन करते हैं। मंगल विकृत होकर कल्याण का साधन नहीं बन सकता। इसीलिए 'प्रसाद' कुछ पात्रों को दानववृत्ति के कारण दुष्ट मार्ग में पड़ते दिखाकर भी भय, प्रेम, आत्मशोधन, उपदेश इत्यादि के कारण उनमें परिवर्तन दिखाते हैं। भटार्क, अनंतदेवी, प्रपंचबुद्धि और विजयादि की सृष्टि और परिवर्तन इसी आधार पर है। पात्रों की बहुलता में नाटककार ने जिन यथार्थ मनुष्यों के रूप खड़े किए हैं वे प्रकृत और विशेष अनुरंजनकारी हैं, जैसे—शर्वनाग और जयमाला। इनके अतिरिक्त जो देवता हैं वे प्रिय, मनोहर, पूज्य, आदर्शरूप तो हैं परंतु साथ ही हमसे बहुत दूर नहीं हैं। इस प्रकार का देवत्व आकस्मिक नहीं नैमित्तिक है, इसलिए अयथार्थ और बुद्धि के प्रतिकूल नहीं ज्ञात होता। स्कंदगुप्त, देवसेना, पर्णदत्त और बंधुवर्मा उदात्त चरित्र के आदर्श चित्र हैं, पर जीवन-द्वंद्वों के अंतराल से चल रहे हैं। अतएव उनमें विशेष अलौकिकता पुंजीभूत नहीं दिखाई पड़ रही है।

'प्रसाद' के नाटक प्राय प्रधान पात्रों से ही आरंभ होते हैं और उनके जीवन की मूल प्रेरक वृत्ति का अनुकथन आरंभ में ही कर दिया जाता है। यह व्यक्ति-वैलक्षण्य का सूत्र है। इसी के सहारे हम व्यक्ति के समस्त कार्य-व्यापारों की व्याख्या करते हैं। सुरमा की अपरितृप्त वासनाएँ, अजातशत्रु की क्रूरता, स्कंदगुप्त की विराग-भावना और चाणक्य के दायित्वपूर्ण गांभीर्य का परिचय आरंभ में ही मिल जाता है। सत्य बात तो यह है कि नाटक में चरित्र-विकास दिखाने का अवसर अधिक नहीं मिलता, इसलिए आरंभ से ही उस मूल भित्ति का आभास आवश्यक होता है जिसके ऊपर चरित्र का भवन निर्मित होता है। इस शैली का चरित्रांकन अंत में उत्पन्न होनेवाले समष्टि-प्रभाव का प्राण होता है। 'प्रसाद' अपने उदात्त पात्रों में अन्य गुणों के साथ मर्यादापालन का भाव अवश्य दिखा देते हैं। इसमें उनकी सच्ची भारतीयता प्रकट होती है। राज्यश्री, मल्लिका, देवसेना, बुद्धदेव और स्कंद इत्यादि के आधार पर मर्यादा का बड़ा ही भव्य रूप खड़ा किया गया है। उनके नाटकों में पुरुषों और

स्त्रियों के कार्य और भाव-व्यापारों का तारतम्य अच्छा दिखाया गया है। जैसे एक ओर पुरुषों मे कर्म, न्याय, दायित्व और शक्ति की प्रधानता रहती है उसी प्रकार स्त्रियो मे सेवा, ममत्व और त्याग की। जैसे एक ओर दुष्ट पुरुष पात्रो मे दम्भ, उच्छृ खलता और महत्त्वाकाक्षा दिखाई गई है उसी प्रकार दूसरी ओर दुष्टाओ मे अनुदारता, ईर्ष्या, द्वेष और चचलता।

'प्रसाद' के नाटक प्राय उद्देश्यपूर्ण है। अतएव उनके पात्रो के समुख एक लक्ष्य रहता है। इष्ट साधन मे सलग्न पात्रो का एक दल होता है। इस दलवालो की भी वर्गगत कुछ विशिष्टता होती है, जैसे सत्साहस, प्रेम, गाम्भीर्य। विरोधी दल अपनी दुर्बलताओं के कारण सर्वप्रिय लक्ष्य का विरोध करता है। विरुद्ध वर्गवाले अधिकाश सकुचित स्वार्थ और दम्भ से प्रेरित होकर कुचक्र की रचना करते हैं। स्कदगुप्त नाटक मे भी दो विभाग स्पष्ट दिखाई पडते है। स्कद, पर्णदत्त, बंधुवर्मा, देवसेना प्रभृति पात्र इष्ट-साधक है और अनतदेवी, भटार्क, पुरगुप्त और प्रपचबुद्धि इत्यादि इष्ट के विरोधी।

स्कंदगुप्त

इस नाटक का नायक स्कंदगुप्त है। वह सच्चा कर्मवीर और उदात्त चरित्र का व्यक्ति है। उसमे कुल-शील की उत्तमता के साथ शांत प्रकृति और गभीर भावनाओं का सुदर योग प्राप्त होता है। देवोपम मानव-चरित्र की सपूर्ण विभूतियो का उसमे अच्छा समवाय है। वह अपनी निर्लिप्त कर्मवीरता के बल पर हमारी श्रद्धा और भक्ति का आलबन बन जाता है। उसको देखकर इतिहास तो भूल जाता है, परतु उसका व्यक्तित्व हमारे मानस-लोक म अमर हो उठता है। नाटककार ने उसमे पाश्चात्य व्यक्ति-वैचित्र्य और भारतीय साधारणी-करण का सुदर समन्वय किया है। सपूर्ण नाटक मे उसका व्यक्तित्व प्रधान है। अन्य सभी पात्र उसके साथ चलते, साथ विरल होते है। अथवा उसके चरित्र से प्रभावित रहते है।

स्कदगुप्त वीर, निर्भीक, स्वावलबी, उदार, कर्त्तव्यपरायण और व्यवहारकुशल व्यक्ति है। आरभ मे उसका सपूर्ण तेज विरक्तिमूलक भावनाओं से आच्छन्न दिखाई पड़ता है, परतु यह विरक्ति उसकी

व्यक्तिगत विशेषता है। उसने कभी स्कंद के सामाजिक जीवन की प्रकृत धारा में किसी प्रकार की उदासीनता नहीं उत्पन्न होने दी। इसके जो कारण हैं वे सब मानसिक हैं। विचार-गांभीर्य के कारण एक तो स्कंद यों ही शांत स्वभाव का है, दूसरे गुप्तसाम्राज्य का उत्तराधिकार-नियम भी उसे चिंतित बनाए रखता है। आगे चलकर भी वह जीवन की उग्र परिस्थितियों से निरंतर युद्ध करने के कारण शांत होकर अपने जीवन में जब प्रेम की शीतल छाया का भी अभाव ही पाता है तब उसकी यह विरक्ति भी समय समय पर कुछ उद्दीप्त हो उठती है। परंतु इसका यह उद्दीपन व्यक्ति और समाज के लिए किसी प्रकार घातक नहीं बनता, बल्कि स्कंद के व्यक्तित्व को देवोपम बनाने में सहायक होता है। देवसेना की ओर से भी जब वह प्रेम का भौतिक आश्रय नहीं पाता तो वही विरक्ति मंगलमय हो उठती है। तभी वह त्याग की उस उच्च भूमिका में पहुँच सका है जहाँ असाधारण पराक्रम से विजित राष्ट्र को एक तिनके की भाँति पुरगुप्त को दान कर देने की क्षमता उसमें उत्पन्न हो गई है। उस स्थल पर पहुँचकर उसका सच्चा शिवत्व देखने में आता है।

स्कंद में महत्त्व की आकांक्षा नहीं है। उसके जीवन में जहाँ भी पुरुषार्थ और उद्योग दिखाई पड़ता है वह आसक्तिहीन कर्तव्य-पालन के रूप में है। आरंभ में वह अपने अधिकारों के प्रति उदासीन ही रहता है। अधिकार-सुख को मादक और सारहीन समझता है। अपने युवराजत्व का कोई विशेष दर्प उसमें नहीं दिखाई देता। वह अपने को साम्राज्य का सैनिक मात्र समझता है। उसका यह विराग व्यक्तिगत एवं ऐकांतिक है। कहीं भी वह बाहरी लोगों के समुख प्रकट नहीं होता। विराग के अंतरतम प्रदेश से उभरते ही उसका वह सामाजिक स्वरूप सामने आ जाता है जिसमें सक्रियता, क्षात्र-तेज और आत्मविश्वास भरा है। दूत के मुख से मालव पर हूणों के आक्रमण की सूचना और सहायता की प्रार्थना सुनकर उसमें कर्तव्य-ज्ञान और क्षात्रधर्म का उदय होता है। प्रगाढ़ आत्मविश्वास और उदग्र सत्त्व के बल पर ही स्कंद दूत को आश्वासन देता है—'दूत! केवल संधि-नियम ही से हम लोग बाध्य नहीं हैं, किंतु शरणागत की रक्षा भी क्षत्रिय का धर्म है। तुम विश्राम करो। अकेला स्कंदगुप्त

मालव की रक्षा करने के लिए संनद्ध है। जाओ, निर्भय निद्रा का सुख लो। स्कंदगुप्त के जीते जी, मालव का कुछ न बिगड सकेगा'। इस निश्चय में स्वावलबन का भाव भरा है, क्योंकि स्कन्द को भली भाँति ज्ञात है कि 'राजधानी से अभी कोई सहायता नहीं मिलती। हम लोगों को इस आसन्न विपद् मे अपना ही भरोसा है'। इसके उपरात तडित्-वेग से वह अवती-दुर्ग मे ठीक अवसर पर पहुँचकर अतुल निर्भीकता और अपार पौरुष का प्रदर्शन करके शक और हूणों को पराजित करता है। इस रूप मे वह आर्य साम्राज्य के भावी शासक के उपयुक्त ही दिखाई देता है।

यो तो स्कन्दगुप्त मे उदात्त नायक के सभी गुण विद्यमान है, परतु रह-रहकर उसका आतरिक विराग जाग उठता है और उसे अपने सघर्षपूर्ण कार्यकलाप पर चिंता होती है। वह सोचने लगता है—'सम्राट् कुमारगुप्त का आसन मेरे योग्य नहीं है। मै झगडा करना नहीं चाहता, मुझे सिंहासन न चाहिए। पुरगुप्त को रहने दो। मेरा अकेला जीवन है। मुझे , करना क्या है'। इस विराग-भाव मे भी उसके विचार सदैव उन्नत ही रहते हैं। वह चक्रपालित से कहता है—'ससार मे जो सबसे महान् है वह क्या है। त्याग! त्याग का ही दूसरा नाम महत्त्व है'। अतएव अपने जीवन का साध्य वह इसी को समझता है। उसे अधिकार, राज्य और युद्ध मे विशेष तत्त्व नही दिखाई पडता। फिर भी वह पराङ्मुख नहीं होता।

उसे अपनी माता से अनन्य प्रेम है। यह उसकी ललक और भक्ति से सर्वत्र ध्वनित होता है। ठीक अवसर पर पहुँचकर कुचक्रियों से वह अपनी माता के प्राणों की रक्षा करता है। इसके अतिरिक्त ये कुचक्री सदैव उसे कष्ट देते है फिर भी वह अपने उद्वेग का संयमन करता है। जिस अलौकिक दया उदारता से वह उन लोगों को क्षमा करता है और पुरगुप्त को इस जघन्य अपराध पर भी मगध का शासक बनाता है उससे उसमे उच्च कुल शील का भव्य स्वरूप स्पष्ट दिखाई देता है। उसकी इसी विराग मिश्रित उदार वीरता पर मुग्ध होकर बधुवर्मा कहता है—'उदार वीर हृदय, देवोपम सौंदर्य'' अंत करण मे तीव्र अभिमान के साथ विराग है। आँखो मे एक जीवनपूर्ण ज्योति है'। क्षमादान में वह सर्वत्र समभाव से उदार है।

उसके इस व्यापक क्षमा-भाव की मूल भित्ति आत्मविश्वास और चित्त की उदारता है। देवकी के प्राणघात की चेष्टा करनेवाले सर्व-नाग और भटार्क को भी वह क्षमा कर देता है। अंत मे जाकर खिंगिल ऐसे क्रूर शत्रु को भी वह छोड़ देता है। उसके आचरण की यही दिव्यता चरित्र के मगलविधायक अलौकिक भारतीय शील का प्राण है। अतुल पुरुषार्थ के साथ यह उदार क्षमाभाव सोने मे सुगंध है।

अनेकानेक आदर्श गुणों के साथ साथ स्कंद व्यवहार-कुशल भी है। स्थिति की गहनता समझकर अनुकूल आचरण का पूरा उद्योग करता है। उसकी व्यवहार-बुद्धि का रूप दो स्थलों पर दिखाई पड़ता है। गुप्तकुल के अव्यवस्थित उत्तराधिकार नियम को स्कदगुप्त की उदासीनता का कारण बताने पर जिस समय चक्रपालित को पर्णदत्त डॉटता है, उस समय स्कद, चक्र की वकालत करते हुए कहता है—'आर्य पर्णदत्त ! क्षमा कीजिए। हृदय की बातों को राजनीतिक भाषा मे व्यक्त करना चक्र नहीं जानता'। दूसरा स्थल वह है जहाँ युद्धभूमि मे चक्रपालित ने उसे भटार्क की ओर से सावधान रहने और उस पर विश्वास न करने की सलाह दी है। इस अवसर पर स्कद का यह उत्तर देना—'मै भटार्क पर विश्वास तो करता ही नहीं, परतु उस पर प्रकट रूप से अविश्वास का भी समय नही रहा'—उसकी व्यवहार कुशलता का बोधक है।

स्कंदगुप्त मे देश-प्रेम का रूप बड़ा ही दिव्य है। निर्लिप्त रूप मे निरंतर उसकी यही चेष्टा रहती है कि आर्य-साम्राज्य का कल्याण हो। उसका गौरव किसी प्रकार भी विलुप्त न होने पाए। इस साम्राज्य की मंगल कामना के मूल मे उसका कोई अपना स्वार्थ नहीं है। उसके द्वारा स्कंद न तो अपना स्वत्व चाहता और न अधिकार की ही उसे लालसा है। उसकी यह भी इच्छा नहीं कि वही शासन करे। जिस समय भटार्क की पैशाचिक प्रतारणा के कारण विदेशी आक्रमणकारी सफल होते हैं और कुभा के रणक्षेत्र मे स्कंद की सेना असफल होती है उस समय स्कंदगुप्त शक्तिहीन होकर भविष्य की बात सोचने-विचारने लगता है। उसे अपने दु:खों की चिंता नही होती और संसार के आक्षेप-संकेतों की भी लज्जा नहीं होती। उसे केवल ग्लानि इसी बात की है कि 'यह ठीकरा इसी सिर पर फूटने

को था। आर्य-साम्राज्य का नाश इन्हीं आँखों को देखना था। हृदय काँप उठता है। देशाभिमान गरजने लगता है। मेरा स्वत्व न हो, मुझे अधिकार की आवश्यकता नहीं। यह नीति और सदाचारों का महान् आश्चर्य-वृक्ष गुप्तसाम्राज्य—हरा-भरा रहे और कोई भी इसका उपयुक्त रक्षक हो'। इस कथन में कितना उदार और सच्चा देश-प्रेम है। केवल स्कंदगुप्त ऐसा कर्मठ वीर ही इतने निर्लिप्त राष्ट्र-प्रेम का स्वरूप सम्मुख उपस्थित कर सकता है। उसके उक्त उद्गार परिस्थिति से प्रेरित नहीं हैं। इस प्रकार की तटस्थ उदारता उसके जीवन का मुख्य अंग है, अन्यथा अतुल पराक्रम से समार्जित साम्राज्य पुरगुप्त को क्षण भर मे वह कदापि न दे पाता। उसका देश-प्रेम किसी की सहायता अथवा सैन्यबल पर आश्रित नहीं है। उसकी मूल भित्ति आत्म-विश्वासपूर्ण, निःस्वार्थ और मंगलमयी वह अंतःप्रेरणा है जिसके कारण स्कंद का व्यक्तित्व इतना सुंदर हो उठा है। शुद्ध कर्म-योगी की भाँति उसमे विश्वास है कि 'मै कुछ नहीं हूँ, उसका (विश्वनियंता का) अस्त्र हूँ'—परमात्मा का अमोघ अस्त्र हूँ'। शुद्ध बुद्धि से प्रेरित सच्चे कर्मनिष्ठ की नाईं वह जानता है कि न तो किसी से उसकी शत्रुता है और न निज की कोई इच्छा है। इस देश-प्रेम और आत्म विश्वास से भरी कर्तव्य-भावना का उत्तम उदाहरण वहाँ मिलता है जहाँ उसने कहा है—'भटार्क! यदि कोई साथी न मिला तो साम्राज्य के लिए नही जन्मभूमि के उद्धार के लिए मै अकेला युद्ध करूँगा'। पुरगुप्त को युवराजत्व का टीका लगाते समय यदि कोई सत्कामना उसके मन में उत्पन्न होती है तो केवल इतनी ही कि 'देखना, मेरे बाद जन्मभूमि की दुर्दशा न हो'।

स्कंदगुप्त केवल आदर्श देवता ही नहीं है। हम मानवों के समान उसमे भी अभिमान का रूप है। भले ही उसका वह समान-भाव उसके जीवनव्यापी वैराग्य-भाव से आक्रांत हो, परंतु उसके सच्चे मित्र बंधुवर्मा को इसका स्पष्ट बोध हो जाता है। उसने विचार किया कि स्कंद के अंतःकरण मे तीव्र अभिमान के साथ विराग है। इस आलोचना का स्पष्टीकरण स्वयं स्कंदगुप्त के संवादों से हो जाता है जब स्कंद को सब प्रकार से निरीह एवं एकाकी पाकर विजया उसके सम्मुख अपना प्रेम-प्रस्ताव रखते हुए अपने रत्नागार का प्रलोभन

देती है और उस असहाय अवस्था में इस द्रव्य से राष्ट्रोद्धार के अनेक उपायों की संभावना भी है फिर भी इस प्रस्ताव के मूल में जो हीन वृत्ति बैठी है उसको वह परख लेता है। उस समय उसका आत्माभिमान जागता है और वह निरादरपूर्वक उत्तर देता है—'साम्राज्य के लिए मैं अपने को नहीं बेंच सकता'। अर्थलोभी हूण दस्युओं को धन देकर मालव और सौराष्ट्र को स्वतंत्र कराने में उसके आत्मसम्मान को कड़ा धक्का लगेगा इसको वह अच्छी तरह जानता है और यह भी समझता है कि इस प्रकार के किसी प्रस्ताव को स्वीकार करने में उसका आजीवन-पालित व्यक्तित्व ही नहीं रह जायगा। अतएव स्पष्ट रूप से वह इसे अस्वीकार करता है—'सुख के लोभ से, मनुष्य के भय से, मैं उत्कोच देकर क्रीत साम्राज्य नहीं चाहता'। इस कथन में जो प्रकृत गर्व और आत्मसम्मान का भाव निहित है वह स्कंद के व्यक्तित्व को यथार्थ भूमि पर ला खड़ा करता है।

देवसेना

देवसेना का चरित्र आदर्श होने पर भी व्यक्तित्व से आपूर्ण है। उसकी सारी अलौकिकता—त्याग, देशप्रेम, सेवा, सहिष्णुता और रहस्योन्मुखी भावनाएँ—गांभीर्य से आच्छादित दिखाई पड़ती है। गांभीर्य की सहयोगिनी दृढता भी उसमें उच्चकोटि की है। प्रथम अंक के अंतिम दृश्य में, जब वह हमारे संमुख पहली बार आती है तभी, 'देश के मान का, स्त्रियों की प्रतिष्ठा का, बच्चों की रक्षा का विचार' उसमें दिखाई देता है। वह अपने सामाजिक दायित्व के प्रति सजग है। अतएव वह केवल कल्पना लोक की वस्तु नहीं है और अँगरेज कवि शेली की चिड़िया की भाँति यथार्थ जगत् से सर्वथा परे रहकर आकाश में ही विचरण नहीं करती, वरन् वर्ड्सवर्थ की कल्पना की भाँति धरातल पर स्थित अपने नीड़ की भी सुध बनाए रहती है।

उसका चरित्र अपने ढंग का निराला है जगत् के व्यावहारिक जीव से उसमें भिन्नता है। उसकी विचारधारा ही कुछ ऊँची भूमिका पर बहती है। संगीत की वह अनन्य प्रेमिका जीवन और जगत् के कण-कण में एक लय और एक तान देखती है। वह भीतर-बाहर एक सी अखंड है। प्रत्येक स्थिति में निश्चित रहनेवाली वह रमणी

अपनी ऐकांतिक संपूर्णता में डूबी रहती है। उसके जीवन का आदर्श 'एकांत टीले पर, सबसे अलग, शरद् के सुन्दर प्रभात में फूला हुआ, फूलों से लदा हुआ, पारिजात वृक्ष, है। उसके व्यक्तित्व का स्वरूप समझने के लिए प्रथम तो ऐसे वृक्ष का अनुसंधान आवश्यक है। फिर उस वृक्ष की सभी विभूतियों का विहार देवसेना में देखना होगा। उसके जीवन की ऐकांतिकता और निरालापन अन्यत्र दुर्लभ है। वह अपने आंतरिक अद्वैत की मधुर अनुभूति से ही प्रेरित हुआ करती है। इसी लिए बाह्य जगत् में भी वह उसी एकरस संगीत का प्रसार पाती है। उसके लिए 'प्रत्येक परमाणु के मिलन में एक सम है, प्रत्येक हरी-हरी पत्ती के हिलने में एक लय है × × पक्षियों को देखो, उनकी चहचह, कलकल, छलछल में, काकली में, रागिनी है'। इसी आंतरिक समत्व के कारण वह विश्व के प्रत्येक कंप में एक ताल देखती है, युद्ध और प्रेम में संगीत का योग चाहती है। श्मशान से भी भयभीत नहीं होती, उसमें भी सत्, एवं सुंदर का ही दर्शन करती है।

देवसेना की इस रहस्य-भावना के मूल में हृदय-पक्ष की ही प्रधानता दिखाई पड़ती है। इस विचार से देवसेना भावुकता की जीती-जागती प्रतिमा है। गांभीर्य का योग पाकर यही भावुकता रहस्योन्मुख बन गई है और प्रेम के क्षेत्र में पहुँचकर यही संयम, त्याग और दृढ़ता और मंगलकारी स्वरूप खड़ा करती है। प्रथम अंक के अंतिम दृश्य में स्कंदगुप्त को विजया की ओर आकृष्ट देखकर वह अनन्य प्रेमिका जाग सी पड़ती है। स्कंद के प्रति उसका जो अनुराग आगे से चला आता है वह इस स्थल पर पहुँच कर संपूर्णतः चेतन बनकर उठता है। वही प्रेम महत्तम की सृष्टि करने लगता है। भौतिकता के स्थान पर आध्यात्मिकता आसन जमाती है। वह अब स्थूल को छोड़कर सूक्ष्म में आत्मसंतोष देखने लगती है। कुतूहल और रूप-चमत्कार के कारण ही क्यों न हो यदि एक बार भी स्कंद विजया की ओर खिंचता है तो देवसेना भावना से कर्तव्य को अधिक महत्त्व-पूर्ण मानकर अपनी भौतिक लालसा एवं वासना को उस मार्ग से हटा लेती है। अपने प्रिय के सुख के लिए अपनी कोमलतम कामनाओं की आहुति दे देती है। इस मूक आत्मसमर्पण में देवत्व है।

इस स्थल पर पहुँचकर देवसेना का रूप सामान्य मानव-भूमि से ऊपर उठता दिखाई देता है।

विद्रोहियों के साथ विजया को देखकर जिस समय स्कंदगुप्त आश्चर्य में पड़कर कहता है—'परंतु विजया, तुमने यह क्या किया'। उस समय देवसेना की धारणा निश्चय में परिणत हो जाती है—'आह! जिसकी मुझे आशंका थी वह है। विजया! आज तू हारकर भी जीत गई'। यहीं से उसके प्रेम की भौतिकता खंडित हो जाती है और उसमें मंगल और त्याग का आरंभ होता है। विजया का विद्वेष से भरा उपालंभ—'उपकारों की ओट से मेरे स्वर्ग को छिपा दिया'—पाकर उसके भीतर स्त्रीसुलभ आत्मसम्मान उबल पड़ता है। वहीं वह अपने जीवन की इस जटिल समस्या को सुलझाकर अंतिम निश्चय पर पहुँच जाती है। 'अपना राज्य देकर देवसेना ने स्कंद का प्रणय खरीद लिया'—यह उसके और उसके प्रियतम के लिए मानहानि का विषय है। अतएव उसने अपने ऊपर पूरा विश्वास करके कहा—'देवसेना मूल्य देकर प्रणय नहीं लिया चाहती'। इसके उपरांत फिर तो अंत तक वह अपने वचनों पर दृढ़ बनी रहती है।

यहाँ से देवसेना में अंतर्द्वंद्व का स्वरूप दिखाई पड़ने लगता है, क्योंकि उसके भीतर 'हाँ' और 'ना' का संघर्ष आरंभ होता है। जिस स्कंद का प्रेम उसके अंतर्जगत् को स्वर्ग बना रहा है और उसके घोर मानसिक विप्लव का एकमात्र कारण है उसी स्कंद को अपना सब कुछ देकर परिवर्तन में उससे कुछ भी नहीं लिया चाहती। केवल यही भावना कि 'मैंने उन्हें प्यार किया है' उसके संपूर्ण जीवन के लिए अमृत-पाथेय है। इसके अतिरिक्त उसके भीतर कोई भौतिक कामना नहीं है। फिर भी इस स्थूल विछोह में मचलन और कचोट की वेदना है जिसका नियंत्रण वह सदैव किया करती है। उसके कर्म और वचन से उसके हृदय की आँधी का आभास न लग जाए इसका कड़ाई से विचार करती रहती है। केवल एक बार अपनी सखियों से परिवेष्टित रहने पर उसके अंतस् का स्वरूप प्रकट हो सका है। 'मैंने उनसे (स्कंद से) प्रेम की चर्चा करके उनका अपमान नहीं होने दिया है × × आज ही मैं प्रेम के नाम पर जी खोलकर रोती हूँ, बस, फिर नहीं। यह एक क्षण का रुदन अनंत स्वर्ग का सृजन करेगा × ×

जब हृदय मे रुदन का स्वर उठता है, तभी मैं सगीत की वीणा मिला लेती हूँ। उसी मे सब छिप जाता है'। इतना ही तो देवसेना के प्रेम की गभीरता का वाचक है। साथ ही प्राणसकट के समय अपनी गर्दन पर खड्ग तना देखकर, अपने ईश्वर से एकमात्र यही कामना और याचना प्रकट करती है—'प्रियतम! मेरे देवता युवराज! तुम्हारी जय हो'। इसके उपरात उसकी तपस्या आरंभ हो जाती है। फिर तो सच्चे कर्मनिष्ठ की भाँति वह निश्चय कर लेती है—'कूलों मे उफनकर बहनेवाली नदी, तुमुल तरग, प्रचड पवन और भयानक वर्षा, परंतु उसमे भी नाव चलानी ही होगी'। इस निश्चय मे विवशता एवं करुणा के साथ निर्लिप्त उत्साह का अद्भुत समिश्रण है। इसी समरसता मे देवसेना का व्यक्तित्व है। चरित्र का यह निरालापन 'प्रसाद' की सर्वोत्तम उद्भावना है। जो इस सृष्टि को अलौकिक कहकर यथातथ्य अथवा यथार्थवाद के दम भरने का ढोंग करें उनके लिए देवसेना का केवल इतना ही कहना पर्याप्त है—'परतु ससार मे ही नक्षत्र से उज्ज्वल किंतु कोमल स्वर्गीय सगीत की प्रतिमा तथा स्थायी कीर्ति सौरभवाले प्राणी देखे जाते हैं। उन्ही से स्वर्ग का अनुमान कर लिया जा सकता है'।

उसमे निर्लिप्त ममत्व और उत्साह भर रह जाता है। जिस समय भीमवर्मा ने उससे कहा—'सम्राट् ने तुम्हे बचाने के पुरस्कार-स्वरूप मातृगुप्त को काश्मीर का शासक बना दिया है'। उसने केवल इतना ही कहा—'सम्राट् की महानुभावता है। भाई! मेरे प्राणों का इतना मूल्य'। इसके अतिरिक्त जिस समय उसके संमुख स्कद द्वारा आर्य-साम्राज्य के उद्धार की चर्चा की गई उसका उत्तर भी बड़ा संक्षिप्त और तटस्थ रूप का है—'मंगलमय भगवान् सब मंगल करेंगे। भाई! साहस चाहिए, कोई वस्तु असभव नही'। इन उत्तरो में किसी प्रकार की आसक्ति या उल्लास नहीं दिखाई पडता। अतस् का कठोर गाभीर्य प्राय निर्जीव कर दिया गया है। यहाँ से लेकर अंत तक देवसेना मे शुद्ध कर्मयोग ही मिलता है। अब उसकी दृष्टि स्व से सर्वथा पृथक् होकर परम की ओर बढ गई है।

'साम्राज्य तो नही है, मैं बचा हूँ। वह अपना ममत्व तुम्हे अर्पित करके उऋण होऊँगा और एकातवास करूँगा ..... देवसेना! किसी

कानन के कोने मे तुम्हे देखता हुआ जीवन व्यतीत करूँगा। साम्राज्य की इच्छा नही—एक बार कह दो'। स्कंदगुप्त के ममत्व भरे इस आत्मनिवेदन ने उसकी आध्यात्मिक लालसा परितृप्त कर दी, इससे उसके हृदय की भूख शात हो गई। परतु दृढ स्वभाव की वह गभीर रमणी बहुत ऊँचे स्तर पर खडी होकर उत्तर देती है—'क्षमा हो सम्राट्! उस समय आप विजया का स्वप्न देखते थे, अब प्रतिदान लेकर मै उस महत्त्व को कलकित न करूँगी। मै आजीवन दासी बनी रहूँगी, परतु आपके प्राप्य मे भाग न लूँगी × × इस हृदय म × × आह! कहना ही पडा, स्कंदगुप्त को छोडकर न तो कोई दूसरा आया और न वह जायगा। नाथ! मै आपकी ही हूँ मैने अपने को दे दिया है, अब उसके बदले कुछ लिया नही चाहती'। इस उत्तर-प्रत्युत्तर मे जहाँ एक ओर स्कद मे कर्तव्य और दायित्व से भरा ऐकांतिक प्रेम है वहाँ दूसरी ओर देवसेना मे आत्मसमान एवं अभिमानी भक्त की सी निष्काम उपासना है। कल्याण की साधना मे दोनो साधकों का तुल्ययोग है।

मर्यादा और आत्मसंमान प्रिय होने के कारण अथवा दृढव्रत और स्वभावत गभीर होने के कारण देवसेना का बाह्य रूप भले ही कुछ कठोर हो गया हो परंतु भीतर प्रेम की मधुर भावना ने हृदय को रमणीय रूप दे रखा है। बाहर तो अवश्य ही नियत्रण और सयम से भरे उक्त वचन निकले परतु भीतर कामना का मधुर उच्छ्वास रह-रहकर सिर उठाता रहा। बाहर वह भले ही देवता का रूप बनाए रहती है, परतु भीतर मानव-भावनाएँ भी तरगित होती रहती है। द्वद्व का वही रूप देवसेना के व्यक्तित्व का प्राण है। 'हृदय की कोमल कल्पना! सो जा। जीवन मे जिसकी सभावना नही, जिसे द्वार पर आए हुए लौटा दिया था, उसके लिए पुकार मचाना क्या तेरे लिए अच्छी बात है'। इस पुकार मचाने मे जो सुदर और प्रकृत मानव है वह देवसेना को पाषाण-देवी होने से बचा लेता है। इस आदर्शोन्मुख यथार्थ मे ही तो उसके चरित्र का विकास हुआ है। अंत में भी यही दिखाई पडता है कि वह केवल 'नंदन की वसंतश्री, अमरावती की शची और स्वर्ग की लक्ष्मी ही नही' है वरन मृत्युलोक की कामना एवं आशामयी मानवी भी है। स्कंदगुप्त को क्षोभ और दु.ख से विह्वल देखकर 'वह मेरे इस जीवन के देवता' ही कहकर रुक नही

जाती, आगे 'और उस जीवन के प्राप्य' भी कहती है। यही उसके चरित्र की विशिष्टता है।

देवसेना अपने ही मे डूबी अनन्य प्रेमिका के रूप मे ही रह गई हो ऐसी बात नही है। अपनी रहस्य भावना और सगीत को लेकर केवल कल्पना-लोक मे ही विचरती रही हो यह बात भी नही रह जाती है। वह अपनी वर्गगत विशेषता का भी अच्छा प्रतिनिधित्व करती है। वह सच्ची क्षत्राणी के रूप मे भी सामने आई है। आसन्न विपत्ति मे निर्भीक रहकर अपने कुल की मर्यादा के लिए अपने कोमल शरीर को भी नष्ट कर सकती है। हूणो के आक्रमणकाल मे छुरी लेकर अपने शरीर तथा अत पुर की रक्षा म योग देती है। युद्ध मे रचमात्र त्रस्त अथवा उद्विग्न नही दिखाई पडती। उस समय भी उसमे स्वभावज शांति, गाभीर्य एव भावुक निरालापन वर्तमान रहता है। अपने दायित्व का विचार कर दृढतापूर्वक अत पुर की रक्षा मे तत्पर होकर कहती है—'भइया ! आप निश्चित रहिए'।

इसके अतिरिक्त उसमे देश प्रेम का बडा त्यागपूर्ण प्रसार दिखाई पडता है। देश की संमान-रक्षा मे जिस सहिष्णुता, सेवा, त्याग और निष्ठा की आवश्यकता रहती है, उसमे वे सभी गुण वर्तमान है। आत्मसमर्पण पूर्ण उदारता की उसमे कमी नही है। देश-कल्याण के निमित्त राज्य-त्याग मे जयमाला को हिचकते पाकर उसे उत्साहित करती है—'क्षुद्र स्वार्थ, भाभी, जाने दो, भइया को देखो ! कैसा उदार, कैसा महान और कितना पवित्र'। परतु अत तक जयमाला को अपने मंतव्य मे स्थिर देखकर देश-भक्तों की मंडली मे स्वय भी मिल जाती है। राज-वैभव और आनद-लालसा उसे विचलित नही करती। देश-रक्षा मे सनद्ध वीरों की सेवा का कार्य स्वीकार कर लेती है। जयमाला को राज्य-भार देकर जाते हुए बधुवर्मा से वह कहती है—'चलो भाई, मै भी तुम लोगों की सेवा करूँगी'। तदनतर फिर तो वह महादेवी की समाधि परिष्कृत करती और गाकर भीख माँगती दिखाई पडती है। अब वह राज-रूप से सर्वथा तटस्थ है। विलास और नीच वासना से भ्रष्ट साधारणजन भी उस पर कुरुचि-पूर्ण व्यग्य बोलते और परिहास करते है। यह दशा देखकर पर्णदत्त भले ही क्रुद्ध होता है परतु वह महनीय आर्य बाला सहिष्णुता की पराकाष्ठा ही दिखाकर रह जाती है। नीचो की बातों का तनिक भी

बुरा नहीं मानती। क्रुद्ध पर्णदत्त को समझाते हुए वह कहती भी है—'क्या है बाबा ! क्यों चिढ़ रहे हो। जाने दो, जिसने नहीं दिया उसने अपना, कुछ तुम्हारा तो नहीं ले गया'। इस घोर संतोष और पवित्र सहिष्णुता के मूल में देश-प्रेम है। उच्च लक्ष्य की साधना में अपने पन को भूल ही जाना पड़ता है। वह भीख भी अपने लिए तो माँगती नहीं, माँगती है साम्राज्य के निरवलंब बिखरे हुए रत्नों की रक्षा के निमित्त। देश के लिए वह सब कुछ करने को प्रस्तुत है। देश प्रेम से ही प्रेरित होकर वह स्कंदगुप्त के उस प्रस्ताव का विरोध करती है जिसमें उन्होंने एकांत में, किसी कानन के कोने में, उसे देखते हुए जीवन व्यतीत करने की इच्छा प्रकट की है। देश का एक-मात्र सहारा, उसके निमित्त अपने पुण्य आचरण को छोड़ दे, इससे बढ़कर हीनता की बात उसके लिए और क्या हो सकती है। इसके अतिरिक्त अपने प्रियतम को देश प्रेम ऐसे उदात्त कर्म से वह स्वयं विमुख करे यह असंभव ही है। उसने प्रस्ताव का विरोध करते हुए कहा—'मालव का महत्त्व तो रहेगा ही, परंतु उसका उद्देश्य भी सफल होना चाहिए। आपको अकर्मण्य बनाने के लिए देवसेना जीवित नहीं रहेगी।

पर्णदत्त

पर्णदत्त उन व्यक्तियों में है जो अपने निर्मल चरित्र की झलक मात्र दिखाकर मानव-हृदय को मुग्ध कर लेते हैं। संपूर्ण नाटक में केवल दो ही स्थलों पर उसके कार्य और चरित्र को देखने का अव-सर मिलता है। वह गुप्त साम्राज्य का प्रमुख योद्धा और सेनापति है। उसकी वीरता की लेखमाला शिप्रा और सिंधु की लोल लहरियों से लिखी जाती है, शत्रु भी उसकी वीरता की सराहना करते सुने जाते हैं। इस आज्ञाकारी सेवक ने वृद्ध होने पर भी गरुडध्वज लेकर आर्य चंद्रगुप्त की सेना का संचालन किया है। अभी तक उसके मन में यह वीरोचित कामना बनी है कि गुप्त-साम्राज्य की नासीर सेना में उसी गरुडध्वज की छाया में पवित्र क्षात्रधर्म का पालन करते हुए उसके मान के लिए मर मिटे। गुप्त-साम्राज्य पर आपत्ति के बादल मँड़रा रहे हैं और कोई योग्य कर्णधार सामने नहीं आता यह देख-कर पर्णदत्त बड़ा क्षुब्ध और अधीर हो रहा है। युवराज स्कंदगुप्त

को राज्याधिकार की ओर से उदासीन पाकर वह और भी निराश हो जाता है। उसे अनेक प्रकार से उदबोधन देता है, उत्साहित करता है और अंत मे सच्चे हितैच्छु की भाँति उसी समय हृदय से प्रसन्न होता है जब स्कंद कहता है—'अकेला स्कंदगुप्त मालव की रक्षा करने के लिए सनद्ध है'। गुप्त-साम्राज्य के हित के विरुद्ध अपने पुत्र तक को बोलता पाकर उसे डाँट देता है—'हम लोग साम्राज्य के सेवक हैं। असावधान बालक! अपनी चचलता को विष-वृक्ष का बीज न बना देना'। साम्राज्य-हितेच्छा के अतिरिक्त वह शुद्ध वीर है, उसमे उत्साह है और अपने बाहुबल पर उसे बड़ा भरोसा है। युवराज से यह सुनकर भी कि 'अभी राजधानी से सहायता की कोई आशा नही है और इस आसन्न विपद् मे अपना ही भरोसा है' उसके उत्साह मे कोई कमी नहीं होने पाती। वह उसी प्रकार साहस बनाए रहता है और स्कद से कहता है—'कुछ चिता नहीं युवराज! भगवान् सब मंगल करेंगे। चलिए, विश्राम करें'।

इसके उपरात पर्णदत्त का फिर कुछ पता ही नही रहता। स्कद के राज्यारोहण के अवसर पर इस बात की सूचना भर मिल जाती है कि वह सौराष्ट्र की चचल राष्ट्र-नीति की देखरेख मे लगा है। इससे भी इतना तो अवश्य ही विदित हो जाता है कि ऐसे आनद के समय में भी वह तन्मय होकर अपनी ध्येय-प्राप्ति और कर्तव्य-पालन मे तत्पर है। इस अवसर के बाद तो फिर वह भी देवसेना के साथ भीख माँगता दिखाई पड़ता है। जिस समय कुभा पार करते हुए ससैन्य स्कदगुप्त प्रवाह मे बह जाता है और उसके उपरात कुछ दिनों तक सपूर्ण साम्राज्य की सैनिक स्थिति अशृखलित हो जाती है उस समय इस वृद्ध सेनापति के समुख केवल एक कर्तव्य रह जाता है कि वह टूटी-फूटी सेना की रक्षा करे और पुन जब तक सुअवसर न आए तब तक बचे-बचाए सैनिकों का जीवन-निर्वाह करता रहे। राज्यक्रांति और दारिद्र्य के कारण अन्न के लाले पड़े है, लोग भूख से तड़प रहे हैं, ऐसी अवस्था मे पर्णदत्त ने जो कार्य-भार अपने ऊपर लिया है वह मनुष्यता के नाते और राजनीतिक विचार से भी आवश्यक है। अपनी दुर्दशाग्रस्त परिस्थिति का वह स्वय उल्लेख इस प्रकार करता है—'सूखी रोटियाँ बचाकर रखनी पड़ती है। जिन्हें

कुत्तों को देते हुए भी सकोच होता था। उन्हीं कुत्सित अन्नों का संचय। अक्षय निधि के समान उन पर पहरा देता हूँ। क्योंकि उसके ऊपर सैकड़ा अनाथ वीरों के बालकों का भार है। वे युद्ध मे मरना जानते है, परन्तु भूख से तड़पते हुए उन्हें देखकर आँखों से रक्त गिर पड़ता है'। उसे दुःख तो तब होता है जब देश की दुर्दशा होते देखकर भी देश के युवक विलासिता और वासनाओं मे ही लिप्त दिखाई पड़ते है। फिर भी अपना कर्तव्य तो पालन करना ही पड़ेगा यह समझकर अपना काम करता चलता है—'भीख दो बाबा, देश के बच्चे भूखे हैं, नगे है, असहाय है, कुछ दो बाबा'।

इस स्थिति मे उसे अपना जय-जयकार भी प्रिय नहीं है, क्योंकि उसके लक्ष्य-साधन मे वह किसी प्रकार सहायक नही हो सकता है। वह तो देश की मुक्ति चाहता है जिसके लिए प्राणों का उत्सर्ग करनेवाले वीरों की आवश्यकता है, अथवा द्रव्य चाहता है जिसके योग से वह अपनी सिद्धि प्राप्त कर सके। अतः जयध्वनि से वह चिढ़ उठता है—'मुझे जय नही चाहिए, भीख चाहिए। जो दे सकता हो अपने प्राण, जो जन्मभूमि के लिए उत्सर्ग कर सकता हो जीवन, वैसा वीर चाहिए, कोई देगा भीख मे'। सच्चे हृदय की पुकार निष्फल नहीं जाती। उसे भीख मागते हुए स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य सरीखे वीर मिल जाते हैं और उसके जीवन का चरम लक्ष्य पूर्ण हो जाता है। इस प्रकार पर्णदत्त आजन्म सच्चे वीर योद्धा की भाँति साम्राज्य की हित कामना मे लगा रहता है। संकट-काल मे अनेक विकट समस्याओं का सामना करता है, परन्तु अपने कर्तव्य-पथ से डिगता नहीं। वह सच्चा देशभक्त है।

बंधुवर्मा

बधुवर्मा उन पात्रों मे है जिसका संबंध कथानक के बीच से आरंभ होता है और कुछ काल तक योगवाही रूप मे चलकर समाप्त हो जाता है। यों तो ऐसे पात्रों को प्रमुख स्थान नही मिलता, पर बधुवर्मा मे एक विशेषता है। उसके युद्ध मे प्राण विसर्जन कर देने के उपरांत भी उसकी शक्ति और प्रभाव जीवित बने रहते है। उसकी समाप्ति तो वस्तुतः उसी समय होती है जब उसके सहयोगी उस लक्ष्य की प्राप्ति कर लेते है जिसके लिए उसका जीवन समर्पित था।

थोड़े काल के लिए ही इस भव में आकर बंधुवर्मा अमर हो जाता है। नाटक के वस्तु विन्यास में उसकी चरितावली का एक चमत्कार है। उसकी उदारता और त्याग विशेष प्रकार के हे। वह फल-प्राप्ति के प्रासाद की दृढ नींव बन जाता है। उसमे सच्ची क्षात्र भावना का उज्ज्वल स्वरूप दिखाई पड़ता है।

विजया पर किया हुआ जयमाला का व्यग्य उसे अप्रिय लगता है। अपने आश्रित के प्रति कठोर और अप्रिय सत्य का प्रयोग भी साधारण सौजन्य के विरुद्ध है। अपनी पत्नी के अप्रिय व्यग्य के कारण उसकी व्यावहारिक शिष्टता को चोट लगती है—'प्रिये! शरणागत और विपन्न की मर्यादा रखनी चाहिए'। जब कि सम्भवत शक और हूणों की सम्मिलित वाहिनी से आज दुर्ग की रक्षा न कर सकेगा—ऐसी जटिल समस्या सामने खड़ी हो उस समय भी उक्त बात पर इतना ध्यान, उसकी सुजनता का द्योतक है। उसका व्यवहार-ज्ञान दूसरे रूप मे भी दिखाई पड़ता है। अल्प काल में ही वह भली-भाँति समझ जाता है कि 'आर्यावर्त्त का एकमात्र आशा-स्थल युवराज स्कन्दगुप्त है'। किससे सहयोग करे, किस पर अपने सर्वस्व को निछावर करके वह इस आपत्ति-काल मे साम्राज्य की रक्षा एवं देश का कल्याण कर सकता है इसका निर्णय वह तुरत कर लेता है। निर्णय के अनुसार अपना कर्तव्य भी स्थिर कर लेता है—'मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि अब से इस वीर परोपकारी के लिए मेरा सर्वस्व अर्पित है'।

परिस्थिति की गहनता से प्रेरित होकर यही प्रतिज्ञा उस पुण्य महापर्व का कारण बन जाता है जो बधुवर्मा के जीवन मे मगल का रूप है। स्कंदगुप्त अपनी राजधानी म शक्ति-सचय नहीं कर सकता। पारिवारिक दुरभिसन्धि के फेर में पडने से देश का अहित हो सकता है। इसलिए आवश्यक समझकर महात्याग के लिए वह अपने को प्रस्तुत कर लेता है। इसके लिए उसे आधार और तर्क भी मिल जाते है—'महाराज सिंहवर्मा ने एक स्वतन्त्र राज्य स्थापित किया था। अब उनके वंशधर ही उस राज्य के स्वत्वाधिकारी हैं, परतु उस राज्य का ध्वंस हो चुका था, म्लेच्छों की सम्मिलित वाहिनी उसे धूल मे मिला चुकी थी × × तब इन्हीं स्कंदगुप्त ने उसकी रक्षा की थी,

वह राज्य अब न्याय से उन्ही का है'। इस प्रस्ताव का विरोध जब जयमाला करती है तो वह समझता है और अपना मंतव्य स्पष्ट कर देता है—'आर्यावर्त्त का जीवन स्कंदगुप्त के कल्याण से है और उज्जयिनी मे साम्राज्याभिषेक का अनुष्ठान होगा, सम्राट् होंगे स्कंदगुप्त'। देश के उपकार की तुलना मे अपने राज्य का ममत्व वह कुछ नही मानता। राजसिंहासन सुख और शारीरिक विलासिता का केन्द्र है और क्षत्रियों का कर्तव्य है—'आर्तत्राण परायण होना, विपद् का हँसते हुए आलिगन करना, विभीषिकाओं की मुसक्याकर अवहेलना करना, और—विपन्नो के लिए और अपने धर्म के लिए, देश के लिए प्राण देना'। इसी विचार के अनुसार अपना राज्य-त्याग कर वह सैनिक पद स्वीकार करता है—'बंधुवर्मा तो आज से आर्य-साम्राज्य-सेना का एक साधारण पदाति सैनिक है'। इसी आन पर अंत तक वह अड़ा रहता है और यही प्रचारित करता है कि 'मालव का राज-कुटुब, एक-एक बच्चा, आर्य-जाति के कल्याण के लिए जीवन उत्सर्ग करने को प्रस्तुत है'।

वह उत्साह से भरे सच्चे सैनिक और योद्धा के रूप में ही अमर है। वह कोई राजनीतिक पुरुष नही है। वह स्वयं अपनी शक्ति को जानता है—'बंधुवर्मा मरने मारने मे जितना पटु है, उतना षड्यंत्र तोड़ने में नहीं'। सच्चे वीर की भाँति कर्तव्यपालन के लिए अपने प्रिय स्कद के सामने भी अड़ जाता है—'यहाँ हूणों को रोकना मेरा ही कर्तव्य है, उसे मै ही करूँगा' इसी कर्तव्यपालन में उसकी मृत्यु होती है और वह त्यागवीर दम तोड़ते-तोड़ते भी 'आर्य-साम्राज्य की जय !' गाता जाता है।

जयमाला

जयमाला मे सच्ची क्षत्राणी का यथार्थ एवं प्रकृत रूप मिलता है। वह 'आग की चिनगारी और ज्वालामुखी की सुदर लट के समान है'। दो-चार ही स्थलों पर वह सम्मुख आती है, परंतु उसके व्यक्तित्व-पूर्ण चरित्र में उज्ज्वलता भरी है। उसमें उत्साह, स्वावलंबन और गौरव का विचार है—'हम क्षत्राणी है, चिरसंगिनी खड्गलता का हम लोगों से चिर स्नेह है'। केवल इसी कथन मे उसका संपूर्ण तेज झलकता दिखाई पड़ता है। वह युद्ध को गान समझती है, और उसे

ध्वसमयी महामाया प्रकृति का निरतर संगीत मानती है। क्षत्रियोचित स्वाभिमान का उसमें उग्र स्वरूप दिखाया गया है। युवराज की सहायता पर आशा लगाए अपने पति को उपालभ देती हुई वह उसे उत्साहित करती है साथ ही अपने दायित्व का विचार कर पति के कर्तव्यपालन मे योग भी देती है। एक साथ ही उसमे निर्भीकता, गर्व, स्वावलंबन, उत्तरदायित्व, वीरता आदि गुण झलक उठते हैं। आसन्न विपत्ति मे भी वह सदैव की भॉति स्थिर भाव से तत्पर दिखाई पड़ती है—'क्या मालवेश को दूसरे की सहायता पर ही राज्य करने का साहस हुआ था। जाओ प्रभु! सेना लेकर सिंहविक्रम से सेना पर टूट पडो। दुर्गरक्षा का भार मै लेती हूँ'। उसके इस कथन मे गर्व और आत्मविश्वास भरा हुआ है।

जयमाला देवसेना की भॉति भावना-लोक की दूती नही है। वह यथार्थ जगत् की मानवी है। उसमे स्त्री-सुलभ व्यंग्य, वेदना, स्पष्टवादिता और पार्थिव ममत्व भी है। विजया को भयभीत होते देखकर वह उसकी भर्त्सना मे व्यग्य का भी प्रयोग करती है। परिस्थिति के विचार से उसका व्यग्य कटु होने पर भी यथार्थ है—'स्वर्ण-रत्न की चमक देखनेवाली ऑखें बिजली सी तलवारों के तेज को कब सह सकती हैं'। इसके अतिरिक्त बधुवर्मा के राज्य-दान का प्रस्ताव भी उसे अच्छा नहीं लगता। पैतृक संपत्ति का ममत्व वह सरलता से नहीं छोड सकती। अपना राज्य छोड़कर दूसरों की सेवा करनी पडेगी यही आशका उसे चिंतित करती है। चिंता का यह रूप शुद्ध मानवीय है। इसे जयमाला के चरित्र की दुर्बलता नही कहा जा सकता। इसी बल पर वह व्यावहारिक जगत् की सच्ची प्रतिनिधि है। स्कदगुप्त और देवसेना को सभवत: सामान्य मानवों की पंक्ति मे स्थान न मिलेगा, परतु उसे हम अवश्य अपने बीच मे देख सकते है। देवसेना की उदार वाणी का भी वह स्पष्ट शब्दों में विरोध करती है—'विश्वप्रेम, सर्वभूत-हित-कामना परम धर्म है, परतु इसका अर्थ यह नहीं हो सकता कि अपने पर प्रेम न हो'।

वह विरोध करती है परंतु उसमे दुराग्रह का रूप नही है। जब उसने देखा कि प्रस्ताव के पक्ष मे सभी की सम्मति है तो मर्यादा और पद का विचार करके आग्रह छोड़ देती है—अब सभी लोगों की

ऐसी इच्छा है, तब मुझे क्या'। इन शब्दों मे सब के सम्मुख वह अपनी हार स्वीकार कर लेती है। उक्त प्रस्ताव का गुरुत्व और उसके मूल मे जो आत्मत्याग है उसका विचार करती है, साथ ही देशहित की बात भी सोचती है। पति के प्रति अपने कर्तव्य-भाव का भी वह ध्यान करती है—'पतिदेव! आपकी दासी क्षमा माँगती है। मेरी आखें खुल गई। आज हमने जो राज्य पाया है वह विश्व-साम्राज्य से भी ऊँचा है'। इस कथन मे जो प्रणति और आत्म-समर्पण है वह वस्तुत उसी कर्तव्यभाव से प्रेरित है। आगे चलकर तो इसी आत्मसमर्पण का स्थूल रूप भर रह जाता है। राज्यारोहण उत्सव मे स्कंदगुप्त से वह स्वय प्रस्ताव करती है—'देव! यह सिहासन आपका है, मालवेश का इस पर कोई अधिकार नही—आर्यावर्त के सम्राट् के अतिरिक्त अब दूसरा कोई मालव के सिहासन पर नहीं बैठ सकता'।

भटार्क

गुप्त-साम्राज्य का नवीन महाबलाधिकृत भटार्क विचारशील, चतुर, स्वाभिमानी, षड्यत्र मे पटु, महत्त्वाकाक्षी एवं वीर योद्धा है। उसमे भारतीय धीरोद्धत नायक का अच्छा रूप दिखाई पडता है। उसे अपनी तलवार का विश्वास है और अपनी वीरता का अभिमान है—'क्या मेरी खड्गलता आग के फूल नहीं बरसाती। क्या मेरे रणनाद वज्रध्वनि के समान शत्रु के कलेजे नहीं कँपा देते। क्या भटार्क का लोहा भारत के क्षत्रिय नहीं मानते'। वह दृढनिश्चयी भी है। साध्य और साधन का रूप एक बार स्थिर कर लेने पर कड़ाई से काम लेता है। शर्वनाग को इधर-उधर करते देखकर उसने स्पष्ट कह दिया—'इस चक्र से तुम नही निकल सकते, या तो करो या मरो। मै सज्जनता का स्वाँग नही ले सकता, मुझे वह नही भाता। मुझे कुछ लेना है, वह जैसे मिलेगा लूँगा। साथ दोगे तो तुम भी लाभ मे रहोगे'।

गुण भी कुत्सित भावना से प्रेरित होकर विनाशक बन जाते है। भटार्क ऐसा वीर भी अपनी महत्त्वाकांक्षा और प्रतिशोध की भावना से नियन्त्रित होने के कारण अनंतदेवी के पाश मे फँस जाता है। फिर तो ऐसा जकड़ जाता है कि अत करण की प्रेरणा होने पर भी

षड्यंत्र से निकल नहीं पाता। इसे वह अपना दुर्भाग्य ही मानता है। उसकी स्थिति बडी विषम हो गई है। अन्यथा वह इतना नीच नहीं है, परतु वह विवश है। एक बार हाँ करके अब मुकरे कैसे। वह अनतदेवी के उपकार को मानता है। उसी ने उसे महत्त्व का पद दिलाया है। उसी की कृपा से वह साम्राज्य का महाबलाधिकृत बन सका है। एक तो यह भी कारण है जिससे वह अनतदेवी के कुचक्र मे पडता है। उसने आश्वासन-भरे शब्दों मे अपनी कृतज्ञता प्रकट की है—'मै कृतघ्न नही हूँ। महादेवी ! आप निश्चित रहें'। दूसरा कारण प्रतिशोध का विचार है। पुष्यमित्रों के युद्ध मे उसे सेनापति की पदवी नही मिली। उस पर विरोधियों ने व्यंग्यपूर्ण आक्षेप किए हैं। यह वह सहन नहीं कर सकता। उसके मन मे विद्वेष उत्पन्न होता है। अपने हृदय की इस कटु स्थिति को उसने अनतदेवी के सम्मुख प्रकट किया है—'महादेवी ! कल सम्राट् के समक्ष जो विद्रूप और व्यंग्य-बाण मुझ पर बरसाए गए हैं, वे अतरतल मे गड़े हुए है। उनके निकालने का प्रयत्न नही करूँगा, वे ही भावी विप्लव मे सहायक होगे × × मेरा हृदय शूलों के लौहफलक सहने के लिए है, क्षुद्र विप-वाक्य-बाण के लिए नही'। इसी व्यंग्य से उत्तेजित होकर वह पृथ्वीसेन, महाप्रतिहार इत्यादि को आत्महत्या के लिए विवश करता है। इस अनर्थकारी कार्य-व्यापार से भी वह एक प्रकार से दुखी ही दिखाई पडता है। उसके भीतर का मानव-हृदय कराह उठा है—'परंतु भूल हुई। ऐसे स्वामिभक्त सेवक'। परंतु कृतनिश्चय की कठोरता उस कराह को दबा देती है। वह अपने को सांत्वना दे लेता है—'तो जाँय, सब जाँय, गुप्त साम्राज्य के हीरों के से उज्ज्वल हृदय, वीर युवकों का शुद्ध रक्त, सब मेरी प्रतिहिंसा राक्षसी के लिए बलि हों'।

असत् का पलड़ा सदैव हलका रहता है। भटार्क ऐसा वीर योद्धा भी कुमार्गियों के चक्र मे पड़कर गिरता है। उसकी कृति बिगड़ती है। उसकी आत्मा का हनन होता है और उसका सारा तेज नष्ट हो जाता है। परिणाम-रूप में उसे कई बार मुँहकी खानी पड़ती है। महादेवी देवकी की हत्या करते समय स्कदगुप्त से पराजित होता है,

गोविंदगुप्त के सामने तलवार निकालते ही तलवार छीन ली जाती है और अंत मे स्कंदगुप्त के संमुख बंदी होकर आता है। उस समय स्कंदगुप्त जो अपनी माता की इच्छा के अनुसार सब को मुक्त कर देता है उसका प्रभाव भटार्क पर भी पड़ता है। इस कारण सद्भावना एक बार उसमे पुन. उमड़ती है और देवसेना की हत्या के समय वह एक बार फिर विचार करता है—'मै कृतघ्नता से कलंकित होऊँगा और स्कंदगुप्त से मै किस मुँह से...नहीं नही .' परंतु प्रपंचबुद्धि के स्मरण दिलाने पर कि वह पहले अनंतदेवी और पुरगुप्त से प्रतिश्रुत हो चुका है विवश हो जाता है। उसमे सद्बुद्धि एकदम विलुप्त नही हो गई है, प्रत्यावर्तन चाहता है पर कर नही पाता और इसी प्रकार असकल्पित पाप करता चलता है। इसे वह अपना दुर्भाग्य ही मानता है—'पाप-पंक मे लिप्त मनुष्य को छुट्टी नही। कुकर्म उसे जकड़कर अपने नाग-पाश मे बाँध लेता है। दुर्भाग्य!' इसी तरह जब वह स्कद द्वारा अपने ऊपर किए उपकारों का अनुकथन करने लगता है और प्रपचबुद्धि उससे कहता है—'तुम मूर्ख हो! शत्रु से बदला लेने का उपाय करना चाहिए न कि उसके उपकारों का स्मरण'। तब उसे यह हीनता खलती है और वह स्पष्ट विरोध करता है—'मै इतना नीच नही हूँ'। परतु वह अपने को उस खल-मंडली के विषाक्त वातावरण से मुक्त कर नही पाता; यही विवशता उसकी बेड़ी बन जाती है।

विवश होकर ही क्यों न हो जब एक बार स्कदगुप्त का विरोध करने और अनतदेवी का साथ देने का निश्चय कर लेता है तब कोई बात उठा नहीं रखता। विजया के कहने पर—'अहा! यदि आज राजाधिराज कहकर युवराज पुरगुप्त का अभिनदन कर सकती' वह तुरंत उत्तर देता है—'यदि मै जीता रहा तो वह भी कर दिखाऊँगा'। इसके उपरात तो वह उबल पडता है, चेष्टा करता है कि अपने लक्ष्य की प्राप्ति कर ले। खिगिल के दूत से अपना अंतरग अभिप्राय कहता है—'हूणों को एक बार ही भारतीय सीमा से दूर करने के लिए स्कदगुप्त ने समस्त सामतों को आमंत्रण दिया। मगध की रक्षक सेना भी उसमें संमिलित होगी और मै ही उसका परिचालन करूँगा। वही इसका (खिगिल के प्रति सचाई का)

प्रत्यक्ष प्रमाण मिलेगा'। इसी प्रत्यक्ष प्रमाण के लिए—'मेरा खड्ग साम्राज्य की सेवा करेगा'—कहकर भी वह स्कंदगुप्त के साथ विश्वासघात करता है। हूण-सेना के इस पार आने पर उसका मार्ग-प्रदर्शन करता है और कुभा का बाँध इस प्रकार काट देता है कि सेनासहित स्कद उसमे बह जाता है। जहाँ तक हो सका है अनत-देवी की सहायता के निमित्त वह अपने व्यक्तित्व को गिराने मे भी हिचकता नही। वह सब कुछ करता है, परतु सदैव स्कंदगुप्त के व्यक्तित्व से प्रभावित होता रहता है। अपनी अतिम करनी के कारण पीछे उसमे ग्लानि उत्पन्न होती है। वह विचार करता है—देश और देश के सच्चे उद्धारक का इतनी नीचता से विरोध करके उसने क्या लाभ किया। थोडे से भौतिक लाभ के लिए इतना जघन्य जीवन उसे प्रिय नही लगता।

ग्लानि से प्रायश्चित की भावना उत्पन्न होती है और प्रायश्चित्त से आत्म-परिष्कार आरभ होता है। भटार्क ऐसे दृढ़निश्चयी, वीर योद्धा के मन मे यदि अपने प्रति ग्लानि उत्पन्न होती है तो परिणाम का सुदर होना अनिवार्य हो जाता है। यों तो बीच-बीच मे सद्भाव-नाएँ उसके भीतर उठती हैं परतु परिस्थिति से आबद्ध रहने के कारण वह उनका अनुसारी परिणाम उपस्थित नहीं कर पाता। अपनी अंतिम नीचता से वह स्वयं सिहर उठता है। गिरिव्रज के युद्ध के उपरांत उसमे परिवर्तन उत्पन्न होता है। फिर तो जिस सचाई के साथ उसने विरोधी-दल का साथ दिया था उसी निश्चय के साथ इस ओर मुड़ता है और देश के त्राण मे सहायक बनता है। अपनी माता की भर्त्सना पाकर वह कहता है—'माँ, क्षमा करो! आज से मैने शस्त्र त्याग किया। मै इस संघर्ष से अलग हूँ, अब अपनी दुर्बुद्धि से तुम्हें कष्ट न पहुँचाऊँगा'। यहीं से उसमे पुण्य-प्रवृत्ति जगती है जिससे प्रेरित होकर तुरंत वह सैनिकों को आज्ञा देता है—'महादेवी की अंत्येष्टिक्रिया राजसंमान से होनी चाहिए। चलो, शीघ्रता करो'। भटार्क का यह प्रत्यावर्तन प्रकृत है, क्योंकि मातृभक्ति उसमे आरभ से ही दिखाई पड़ी है। कमला के पूछने पर कि 'तू मेरा पुत्र है कि नही' वह स्पष्ट स्वीकार करता है—'माँ! संसार में इतना ही तो स्थिर सत्य है और मुझे इतने ही पर विश्वास है। ससार के समस्त लांछनों का मैं तिरस्कार करता हूँ,

किसलिए। केवल इसलिए कि तू मेरी माँ है और वह जीवित है'। अपनी ऐसी माता के संमुख वह असत्य नही बन सकता। उसके सामने अपना निश्चय प्रकट करने पर अब फिर वह मुख नही मोड़ सकता।

अपने जीवन की घटनाओं और उनके मूल में बैठी अपनी वृत्तियों की आलोचना जब वह स्वयं करने लगता है तो अपनी भूल की भीषणता से दुखी हो उठता है—'ऐसा वीर, ऐसा उपयुक्त और ऐसा परोपकारी सम्राट्! परंतु गया, मेरी ही भूल से सब गया × × मेरी उच्च अकांक्षा, वीरता का दंभ पाखंड की सीमा तक पहुँच गया, अनंतदेवी! एक क्षुद्र नारी—उसके कुचक्र में, आशा के प्रलोभन मे, मैने सब बिगाड़ दिया। सुना है कि कही यहीं स्कदगुप्त भी है, चलूँ उस महान् का दर्शन तो कर लूँ।' इस सुदर निश्चय को लेकर इधर आकर देखता है कि विजया स्कद के सामने प्रेम का नाट्य कर रही है। ग्लानि से दुखी भटार्क क्षुब्ध हो जाता है। जिसके ऊपर अत्याचार करके वह भी लज्जित है और जिससे क्षमा-याचना करने वह स्वयं आया है उसी के प्रति अपनी पत्नी को अपराध करते पाकर और भी दुखी हो जाता है। आत्महत्या ही उसे अपने प्रायश्चित्त का सरल उपाय दिखाई पड़ता है। वह स्कंद को संबोधित करके कहता है—'देव! मेरी भी लीला समाप्त है'। छुरी निकालकर अपने को मारना ही चाहता है कि स्कद हाथ पकड़ लेता है और उसे संप्रबोधन देता है—'तुम वीर हो, इस समय देश को वीरों की आवश्यकता है × × आत्महत्या के लिए जो अस्त्र तुमने ग्रहण किया है, उसे शत्रु के लिए सुरक्षित रक्खो'। इस प्रकार उसे उचित मार्ग का निर्देश मिल जाता है और वह तुरत स्वीकार करता है—'जो आज्ञा होगी, वही करूँगा'। यहाँ आकर अब वह स्कद का पूर्ण सहयोगी बन जाता है। विजया का रत्नगृह प्रकट होने पर स्कंदगुप्त कहता है—'भटार्क! यह तुम्हारा है'। परंतु भटार्क तो देश का हो चुका है, अतः वह तदनुकूल उत्तर देता है—'हाँ सम्राट्! यह हमारा है, इसलिए देश का है। आज से मै सेना-सकलन मे लगूँगा'। भटार्क का यह प्रत्यावर्तन बड़ा भव्य और मंगलमय है।

विजया

मालव के धनकुबेर की कन्या विजया के जीवन का प्रेय और श्रेय सौंदर्य और महत्त्व है। वर्गगत विशेषता के रूप मे धन का प्रेम भी उसमे दिखाई पडता है। राजनीतिक विप्लव मे भी उसको केवल अपने धन की रक्षा का ध्यान है। उसकी सपत्ति की ओर यदि किसी की दृष्टि लगती है तो वह स्वार्थ रक्षा के विचार से व्यावहारिक व्यग्य से भी काम लेती है। जयमाला के प्रस्ताव पर उसका उत्तर—'किंतु इस प्रकार अर्थ देकर विजय खरीदना तो देश की वीरता के प्रतिकूल है'—इस बात का साक्षी है। वह वणिक्-कुमारी शुद्ध क्षत्रियत्व की भावना और तेज को समझने मे सर्वथा असमर्थ रहती है। 'स्वर्ण-रत्न की चमक देखनेवाली आँखें बिजली सी तलवारों के तेज को कब सह सकती हैं'। इसीलिए जयमाला के कहते ही—'दुर्ग-रक्षा का भार मै लेती हूँ'—वह त्रस्त हो उठती है और तुरत बधुवर्मा को संबोधित करके कहती है—'महाराज यह केवल वाचालता है। दुर्ग-रक्षा का भार किसी सुयोग्य सेनापति पर होना चाहिए'। देवसेना को युद्ध-काल में भी गाने का प्रस्ताव करते देखकर उसे बडा आश्चर्य होता है—'युद्ध और गान'! क्योंकि ऐसी भावना से उसका सहज विरोध है। इसी प्रकार बाहर कोलाहल और भयानक शब्द होते सुनकर ही घबड़ा उठती है। जयमाला से कहती है—'महारानी किसी सुरक्षित स्थान मे निकल चलिए'। छुरी लेने की बात सुनते ही उसके प्राण छूटने लगते हैं—'न न न, मैं लेकर क्या करूँगी, भयानक'! छुरी मे भी कहीं सौंदर्य है इसके समझने की सहजशक्ति ही उसमे नहीं है।

विजया के चरित्र की दुर्बलता का प्रधान कारण है चचलता। दृढ़ता, स्थिरता और विवेक-बुद्धि की उसमे अतीव न्यूनता है। प्रणय के क्षेत्र मे इसी चचलता ने उसे व्यभिचारिणी बना दिया है। पहले तो उसने स्कदगुप्त की सुदर मूर्ति देखी और उस पर लुभाई, परतु इस अनुराग-भावना मे महत्त्व की आकांक्षा संनिहित थी। उसने देवसेना से स्वीकार किया है—'मुझे तो आज तक किसी को देखकर हारना न पड़ा। हाँ, एक युवराज के सामने मन ढीला हुआ, परंतु मैं

उसे कुछ राजकीय प्रभाव भी कहकर टाल दे सकती हूँ'। स्कंद को स्वीकार करने मे तुरत ही उसे एक बाधा भी दिखाई देती है—'युवराज तो उदासीन है × × दुर्बलता इन्हे राज्य से हटा रही है'। स्कंद की विरक्ति-मूलक प्रवृत्ति देखकर वह भी उस ओर से विरक्त ही हो उठती है, क्योंकि उसके प्रणय का लक्ष्य शारीरिक स्वास्थ्य एव सौंदर्य के साथ साथ महत्त्व भी है। जहाँ इन दोनों का योग हो वहीं वह रम सकती है। स्कंद मे एक पक्ष की न्यूनता उसे खटकी और वह घूम पडती है। समीप ही दूसरे व्यक्ति चक्रपालित को देख कर कह उठती है—'चक्रपालित क्या पुरुष नहीं है। है अवश्य। वीर हृदय है। प्रशस्त वक्ष है, उदार मुखमंडल है'। उसमे बचे हुए अंश की पूर्ति उसकी अतरग सखी देवसेना कर देती है—'और सबसे अच्छी बात एक है। तुम समझती हो कि वह महत्त्वाकांक्षी है। उसे तुम अपने वैभव से क्रय कर सकती हो'। प्रणय के अपने इसी मानदड को लेकर वह आगे बढ़ती है।

भटार्क मे उसे दोनों वस्तुएँ एकत्र मिल जाती हैं—'अहा! कैसी वीरत्व-व्यजक मनोहर मूर्ति है और गुप्त-साम्राज्य का महाबलाधिकृत'। इसके अतिरिक्त उसे और कुछ नही चाहिए। उसमे स्त्री-सुलभ संदेह और प्रतिहिंसा का भाव बड़ा प्रबल है। वह सोचती है—'मै मालव मे अब किस काम की हूँ, जिसके भाई ने समस्त राज्य अर्पण कर दिया है कहाँ वह देवसेना और कहाँ मै'। प्रेम-प्रणय को भी एक आवेश माननेवाली उस साधारण रमणी मे वह विवेक कहाँ जिसके बल पर वह विचार कर सकती कि देवसेना और स्कंदगुप्त की यथार्थ स्थिति क्या है। स्थूल और प्रत्यक्ष को ही महत्त्व देने की शक्ति उसमें है। अकारण ही स्कंद की ओर बाधा देखकर वह निर्णय कर लेती है कि भटार्क ही सही। इस पर उसके साथ वह भी बंदिनी बनती है और न्यायाधिकरण मे सबके संमुख स्वीकार कर लेती है—'मैने भटार्क को वरण किया है'। इतने ही से देवसेना के प्रति उसकी प्रतिहिंसा पूरी नहीं होती। आगे चलकर यही विरोध-भाव और भी उग्र हो उठता है—'राजकुमारी! आज से मेरी ओर देखना मत! मुझे कृत्या अभिशाप की ज्वाला समझना और × × मुझे न छेड़ना मै तुम्हारी शत्रु हूँ × × उपकारों की ओट से मेरे स्वर्ग को छिपा दिया,

मेरी कामना-लता को समूल उजाड़कर कुचल दिया'। इसके प्रतिदान मे वह देवसेना को श्मशान के बलि-स्थान पर ले जाकर कापालिक प्रपंचबुद्धि के समुख छोड़कर भाग जाती है। भ्रांति के गर्त में पड़ी विजया इस प्रकार अपने कोमल आवरण मे छिपे हुए विषाक्त और कठोर हृदय को सामने रख देती है।

भटार्क की मंडली मे पहुँचकर भी विजया को शांति नही मिलती। कुछ दिनों तक अवश्य ही पुरगुप्त को राजाधिराज के रूप मे अभिनंदन करने की कामना लिए हुए पात्र भर-भरकर पिलाती और इस प्रकार युवराज का मन बहलाती रहती है परंतु यह स्थिति भी अधिक दिनों तक नहीं चलती। अनंतदेवी भटार्क को अपने चंगुल से नहीं निकलने देती और विजया को पुरगुप्त की ओर लगाए रहती है, यह भेद उसकी समझ मे आते ही उसमे फिर संदेह उत्पन्न होता है। अतएव अब उसका विरोध अनंतदेवी से आरंभ होता है। यहाँ भी असफलता ही मिलती है। वह क्षुब्ध हो उठती है—'प्रलोभन से, धमकी से, भय से, कोई भी मुझको भटार्क से नहीं वंचित कर सकता × × मुझे तुम्हारा सिंहासन नहीं चाहिए। मुझे क्षुद्र पुरगुप्त के विलास-जर्जर मन और यौवन मे ही जीर्ण शरीर का अवलंब वांछनीय नहीं'। परंतु अब क्या करे। यह समस्या उसके सामने आती है—'मै कही की न रही। इधर भयानक पिशाचों की लीला-भूमि, उधर गंभीर समुद्र। दुर्बल रमणी हृदय × × अपना अतुल धन और हृदय दूसरों के हाथ में देकर चलूँ कहाँ! किधर'! इत्यादि विचार करते करते उन्मत्त हो उठती है, अपनी चिंता-तरंगों मे उलझी हुई और भी सोचती है—'स्नेहमयी देवसेना का शंका से तिरस्कार किया, मिलते हुए स्वर्ग को घमंड से तुच्छ समझा, देव तुल्य स्कंदगुप्त से विद्रोह किया, किस लिए! केवल अपना रूप, धन, यौवन दूसरे को दान करके उन्हे नीचा दिखाने के लिए'। इसी अन्तर्जागर्ति का यह फल होता है कि शर्वनाग की प्रेरणा से उसमे परिवर्तन उपस्थित होता है और वह भी स्वीकार करती है—'तुमने सच कहा। सब को कल्याण के शुभागमन के लिए कटिबद्ध होना चाहिए। चलो'।

वस्तुत. क्रय-विक्रय और लेन-देन के विचार से अभी भी वह मुक्त नहीं हुई है। वणिक्-वृत्ति अभी तक उसमें जीवित है। उसका यह

परिवर्तन सच्चा नहीं कहा जा सकता। उसकी इस कल्याण-कामना के मूल मे भी एक क्षुद्र और भौतिक स्वार्थ लगा ही है--'देवसेना ने एक बार मूल्य देकर खरीदा था। परतु विजया भी एक बार वही करेगी × × मेरा रत्नगृह अभी बचा है उसे सेना सकलन करने के लिए सम्राट् को दूँगी और एक बार बनूँगी महादेवी × × इसमें दोनों होगा स्वार्थ और परमार्थ'। इसी भावना से प्रेरित होकर वह फिर एक बार स्कंद के समीप पहुँचती है और उसके संमुख अपने प्रेम का प्रस्ताव रखती है—'तुम्हारे लिए मेरे अतस्तल की आशा जीवित है × × मेरे पास अभी दो रत्नगृह छिपे है, जिनसे सेना एकत्र करके तुम सहज ही इन हूणों को परास्त कर सकते हो × × केवल तुम स्वीकार कर लो × × हमारे साथ बचे हुए जीवन का आनद लो' इत्यादि। जब इसका कठोर अस्वीकारात्मक उत्तर स्कद की ओर से पाती है और उसी समय भटार्क भी वहाँ सहसा पहुँचकर उसे भर्त्सना देता है तो घोर अपमानित होकर, सब प्रकार से अपने को पराजित मानकर, वह आत्महत्या कर लेती है। इस प्रकार जीवन मे उसे केवल हार ही हार मिली। इसका प्रधान कारण था उसके चरित्र की मानवीय दुर्बलताएँ—दंभ, अभिमान, लालसा, चचलता और अविवेक।

शर्वनाग

यों तो शर्वनाग नाटक के प्रमुख पात्रों में स्थान नही पा सकता परंतु उसका चरित्र-चित्रण प्रकृत एव यथार्थ है, उसका नाटकीय जीवन छोटा और व्यक्तित्व साधारण है, फिर भी उतार-चढ़ाव के विचार से आलोच्य विषय बन गया है। हमारे सामने सर्वप्रथम वह सच्चे सैनिक के रूप मे आया है और केवल दो बातें जानता है--'सुदरी खड्ग-लता' जिसकी प्रभा पर वह सदैव मुग्ध है और 'उसकी स्त्री' जिसके अभावों का कोष कभी खाली नहीं, जिसकी भर्त्सनाओं का भाडार अक्षय है, साथ ही जिससे उसकी अतरात्मा कॉप उठती है। जिस समय रामा उसे डाँटती है वह घबड़ा उठता है—'मै क्रोध से गरजते हुए सिह की पूँछ उखाड़ सकता हूँ, परंतु सिहवाहिनी! तुम्हे देखकर मेरे देवता कूच कर जाते हैं × × परंतु मुझे घबराओ मत, समझाकर कहो'।

वह सीधा-सच्चा वीर योद्धा है। छल-कपट और षड्यन्त्र से उसका कोई संबंध नहीं। शुद्ध हृदय को न तो किसी प्रकार का भय व्यापता और न चिंता। उसे केवल अपनी शक्ति पर अखंड विश्वास बना रहता है। इसी विश्वास पर उसके समस्त व्यापार टिके रहते हैं और उसमे स्पष्टवादिता का प्रधान गुण भी विद्यमान रहता है। प्रपंचबुद्धि को अत्यंत सावधान और सशंक देखकर शर्व को आश्चर्य होता है। सशंक दृष्टि से फूँक-फूँककर पैर रखना उसकी वीर प्रकृति के लिए अस्वाभाविक है—'परतु आप इतना चौंकते क्यों हैं। मै तो कभी यह चिंता नही करता कि कौन आया है या कौन आवेगा × × × मै खड्ग हाथ मे लिए प्रत्येक भविष्यत् की प्रतीक्षा करता हूँ। जो कुछ होगा, वही निबटा लेगा। इतने डर की, घबराहट की, आवश्यकता नहीं। विश्वास करना और देना, इतने ही लघु व्यापार से संसार की सब समस्याएँ हल हो जायँगी'। उसे केवल अपने खड्ग और पुरुपार्थ पर भरोसा है। उसके कथन से स्पष्ट ज्ञात होता है कि वह शुद्ध और वीर सैनिक है। उसके दृढ आचरण को देखकर ही प्रपंचबुद्धि और भटार्क ने उसे अपनी मडली मे मिलाने का प्रयत्न किया है। जब तक कुसंगति का विष उस पर नहीं चढ़ा तब तक वह निर्मल और निर्भय था। भटार्क ने जिस समय महादेवी के वध का प्रस्ताव उसके समुख रखा उस समय उसने जिस धैर्य और दृढता से उसका विरोध किया उससे उसका चरित्रबल स्पष्ट झलकता है—'नाप तोल मै नही जानता, मुझे शत्रु दिखा दो। मैं भूखे भेडिए की भाँति उसका रक्तपान कर लूँगा, चाहे मै ही क्यों न मारा जाऊँ, परतु निरीह हत्या—यह मुझसे नहीं × × तुम सैनिक हो, उठाओ तलवार! चलो, दो सहस्र शत्रुओं पर हम दो मनुष्य आक्रमण करें। देखे मरने से कौन भागता है। कायरता! अबला महादेवी की हत्या। किसी प्रलोभन मे तुम पिशाच बन रहे हो × × × नहीं भटार्क! लाभ ही के लिए मनुष्य सब काम करता तो पशु बना रहना ही उसके लिए पर्याप्त था। मुझसे यह काम नहीं होने का'। परतु वही शर्वनाग मदिरा के प्रभाव मे पड़कर ऐसा गिरता है कि बुद्धि और विवेक से शून्य हो जाता है। फिर तो भटार्क के ही रंग मे रँग जाता है। स्थिति-जन्य यह दुर्बलता शर्व में अच्छे ढंग से चित्रित हुई है। उन्मत्त होकर वह षड्यंत्रकारियों

के ऊपर विश्वास करके कहता है—'जो आज्ञा होगी वही करूँगा।' वह सोने के प्रलोभन और शराब की चाट से ऐसा गिरता है कि उसकी पशुता दुर्जेय हो जाती है। रामा के कितना समझाने पर भी वह नहीं सँभलता। उसे भी वह ठुकरा देता है—'जा, तू हट जा, नहीं तो मुझे एक के स्थान पर दो हत्याएँ करनी पड़ेंगी। मैं प्रतिश्रुत हूँ। वचन दे चुका हूँ'। रामा ने जब महादेवी की हत्या में बाधा दी तो पहले उसे ही मारने को उद्यत हो गया। यहाँ तक तो मदिरा से प्रभावित उसकी पशुता चलती है, पर सहसा स्कंदगुप्त आकर उसकी गर्दन दबाकर तलवार छीन लेता है। इसके उपरांत होश आने पर वह अपनी हीनता का विचार करता है। मदिरा से मुक्त होकर वह जब अपनी यथार्थ स्थिति देखता है तो उसे दुःख होता है।

जिस समय वह बंदी रूप में न्यायाधिकरण के संमुख उपस्थित किया जाता है उस समय की उसकी मानसिक वेदना उसके इन शब्दों से स्पष्ट प्रकट होती है—'सम्राट्! मुझे वध की आज्ञा दीजिए, ऐसे नीच के लिए और कोई दंड नहीं है × × × जितनी यंत्रणा से यह पापी प्राण निकाला जाय, उतना ही उत्तम होगा × × × दुहाई सम्राट् की! मुझे वध की आज्ञा दीजिए, नहीं तो आत्महत्या करूँगा। ऐसे देवता के प्रति मैंने दुराचार किया था। ओह!' इस प्रकार वह अपने पूर्व कुकर्मों के प्रति ग्लानि प्रकट करता है। भटार्क की कुमंत्रणा में पड़कर वह कितना गिरा इसका विचार उठते ही पश्चात्ताप से वह व्यथित हो उठता है और अपनी नीचता के विरुद्ध स्कंद और महादेवी देवकी की क्षमा से आपूर्ण उदारता देखकर विह्वल हो उठता है। देवकी के पैर पर गिरकर कहता है—'माँ! मुझे क्षमा करो, मैं मनुष्य से पशु हो गया था। अब तुम्हारी ही दया से मैं मनुष्य हुआ। आशीर्वाद दो जगद्धात्रि! कि मैं देव-चरणों में आत्मबलि देकर जीवन सफल करूँ'। सच्ची ग्लानि से प्रेरित उसकी वह भावना अंत तक स्थिर बनी रहती है। उसके चरित्र की यही उच्चावचता सुंदर है। अंतर्वेद के विषयपति के रूप में वह साम्राज्य की सेवा करता है। हूणों के द्वारा अपने प्रांत को पादाक्रांत पाकर वह क्षुब्ध हो जाता है। इसी तरह स्कंद की सेवा में लगा हुआ अंत में साम्राज्य की सफलता भी देख लेता है।

अनंतदेवी

वृद्धस्य तरुणी भार्या अनंतदेवी उग्र स्वभाव की है, निर्भीक होकर साहस के साथ षड्यंत्र की रचना में पटु है। महत्त्वाकांक्षा के संमुख मर्यादा के उल्लघन में नही हिचकती। देवकी को महादेवी और राजमाता होने का जो सौभाग्य मिला इस विधि के विधान से वह असतुष्ट है, वह महत्त्वपूर्ण पद स्वयं चाहती है। इसके लिए सब कुछ करने को तत्पर है। उसने निश्चय कर लिया है कि--'अपनी नियति का पथ मै अपने पैरों चलूँगी। इस चलने मे वह अच्छी तरह जानती है कि अनेक भयानक स्थितियों मे पड़ना होगा परतु उसका विश्वास है—'क्षुद्र हृदय--जो चूहे के शब्द से भी शकित होते हैं, जो अपनी साँस से ही चौक उठते हैं, उनके लिए उन्नति का कंट-कित मार्ग नहीं है। महत्त्वाकांक्षा का दुर्गम स्वर्ग उनके लिए स्वप्न है'। उसे केवल एक बात की लालसा है। वह पुरगुप्त को सिहासन पर बैठाकर स्वयं गुप्तसाम्राज्य का शासन करना चाहती है। परतु व्यावहारिक बाधाओं के कारण उसे शंका बनी रहती है। वह भटार्क को समझाती है--'देवकी का प्रभाव जिस उग्रता से बढ रहा है, उसे देखकर मुझे पुरगुप्त के जीवन की शका हो रही है' और साधनरूप में वह भटार्क और प्रपचबुद्धि को अपनाती है। वह भटार्क को इसी अभिप्राय से गुप्तसाम्राज्य का महाबलाधिकृत बनने में सहायता देती है और इस सहायता के द्वारा उस शक्तिशाली पुरुष को खरीद लेती है।

वह बडी ही व्यवहारकुशल है। अवसर पर अत्यंत कटु और कठोर बन जाती है, साथ ही स्थिति प्रतिकूल होने पर अत्यंत विनम्र एव दीन भी बन सकती है। जहाँ एक ओर शर्वनाग को भयभीत करने के लिए कहती है--'सौगंद है। यदि विश्वासघात करेगा तो कुत्तों से नुचवा दिया जायगा' और महादेवी से कहती है—'परंतु व्यंग्य की विष-ज्वाला रक्तधारा से भी नहीं बुझती देवकी! तुम मरने के लिए प्रस्तुत हो जाओ'। वहीं दूसरी ओर स्कद जिस समय शर्वनाग और भटार्क को परास्त करके इसकी ओर घूमता है और पूछता है—'मेरी सौतेली माँ! तुम × ×' उस समय तुरत घुटनों के बल बैठकर हाथ जोड़ती हुई वह कहती है—'स्कद! फिर भी

मै तुम्हारे पिता की पत्नी हूँ ।' इसी प्रकार रही, किसी तरह जान तो बचे, जिससे इष्ट-साधन का अवसर मिल सके। इसके अतिरिक्त अन्य स्थलों पर भी उसका यह शीतोष्ण वैचित्र्य दिखाई पड़ता है। विजया को पहले तो पुरगुप्त के साथ सिंहासन पर बैठने का प्रलोभन देती है फिर उसमे विरोध का भाव पाकर उग्र होकर कहती है—'इतना साहस! तुच्छ स्त्री! तू जानती है कि किसके साथ बात कर रही है × × मै हूँ अनंतदेवी! तेरी कूटनीति के कंटकित कानन की दावाग्नि, तेरे गर्वशैलशृंग का वज्र, मै वह आग लगाऊँगी, जो प्रलय के समुद्र से भी न बुझे'। इस ढंग से विजया को आतंकित कर देती है। परंतु वही अनंतदेवी जिस समय नाटक के अंत मे पुरगुप्त के साथ बंदी-वेश मे सम्मुख लाई जाती है उस समय अत्यंत सरल और दीन रूप बना लेती है—'क्यो लज्जित करते हो स्कंद! तुम भी तो मेरे पुत्र हो × × मुझे क्षमा करो सम्राट्'।

अन्य पात्र

नाटक के इन प्रमुख पात्रों के अतिरिक्त भी जो अन्य पात्र है वे व्यक्तित्वपूर्ण हैं। सबो के साथ अपनी-अपनी चरित्र-संबंधी विशेषताएँ लगी हैं। अनंतदेवी के हाथ का कठपुतला पुरगुप्त भी पहले एक सहज व्यक्ति था। कुमारगुप्त के निधन के उपरांत वह जिस अधिकार भरे स्वर मे बोलता है उससे उसकी पद-मर्यादा झलकती है—'भटार्क! यह सब क्या हो रहा है × × × चुप रहो। तुम लोगों को बैठकर व्यवस्था नही देनी होगी। उत्तराधिकार का निर्णय स्वयं स्वर्गीय सम्राट् कर गए है' × × × 'महाबलाधिकृत! इन विद्रोहियों को बंदी करो'। वही पीछे चलकर अनंतदेवी की महत्त्वाकांक्षा का एक क्षुद्र अस्त्र भर रह जाता है और घोर मद्यप बन जाता है। यों तो साम्राज्य की विजय पर उसे भी गर्व होता है—'विजय पर विजय! देखता हूँ कि एक बार वक्षुतट पर गुप्त साम्राज्य की पताका फिर फहरायगी। गरुडध्वज वक्षु के रेतीले मैदान मे अपनी स्वर्ण-प्रभा का विस्तार करेगा'। परंतु वह 'निर्वीर्य, निरीह बालक!' गर्व करने के अतिरिक्त कर ही क्या सकता है। संपूर्ण नाटक मे उसका चरित्र अनंतदेवी के चंगुल से बाहर कहीं स्वतंत्र रूप मे खड़ा नहीं होने पाता।

चक्रपालित सच्चा सैनिक प्रवृत्ति का युवक है—स्पष्टवादी, निर्भीक और सीधा। 'हृदय की वातों को राजनीतिक भापा मे व्यक्त करना चक्र नही जानता'। देश की समान-रक्षा मे सदैव स्कद के साथ रहता है। मातृगुप्त कोमल वृत्ति का भावुक कवि है। अपनी कल्पनाओं का मधुर आस्वादन करता हुआ युवराज के साथ देश-कल्याण मे लगा रहता है। देश के उज्ज्वल भविष्य का ध्यान उसे सदैव बना रहता है। उसने सोचा था कि 'देवता जागेगे, एक बार आर्यावर्त मे गौरव का सूर्य चमकेगा × × उद्‌बोधन के गीत गाए, हृदय के उद्‌गार सुनाए' और सारे सकट मे यथाशक्ति राष्ट्र के कल्याण मे लगा रहता है। सिहल का राजकुमार कुमारदास (धातुसेन) विचक्षण बुद्धि का युवक और भारतगौरव का अनन्य प्रेमी है। समय समय पर स्कदगुप्त की सहायता के लिए तत्पर दिखाई पडता है। सिहल का अपना राज्य उसे उतना प्रिय नही है जितना भारत का कल्याण—'भारत समग्र विश्व का है और संपूर्ण वसुधरा इसके प्रेम पाश मे आबद्ध है' × × × 'भारत के कल्याण के लिए मेरा सर्वस्व अर्पित है' इत्यादि वचनों से उसका भारतवर्ष के प्रति ममत्व प्रकट होता है। उसकी प्रकृति उदार है। साम्राज्य के विरुद्ध खडे हुए बौद्धसंघों को अनुकूल बनाने मे वह योग देता है और गिरी हुई दशा मे देश को विजयी बनाने मे भी साथ-साथ लगा रहता है। इसी तरह स्त्री-पात्रों मे महादेवी देवकी की पतिभक्ति और स्कंद के प्रति वात्सल्य के साथ साथ असीम दयालुता और क्षमाशीलता उसके व्यक्तित्व की विशिष्टता है। रामा की सद्‌भावना-भरी सहायता उग्रता के साथ चरित्र की दृढ़ता, निर्भीक होकर सत् का पक्ष ग्रहण करना इत्यादि विशेपताएँ उसके स्वरूप को सुदर बना देती हैं। भटार्क के सुधारने मे कमला का भर्त्सना-भरा विवेक अच्छा दिखाई पड़ता है।

रस का विवेचन

भारतीय नाट्य-विवेचना की पद्धति मे रस का विचार आवश्यक होता है। नाट्य-रचना के अन्य तत्त्व साधन हैं और रसनिष्पत्ति साध्य

है। 'स्कंदगुप्त' मे यों तो व्यक्त प्राधान्य युद्ध-वीर और त्याग-वीर रसों का है परंतु आरभ और पर्यवसान शांत मे ही होता है। जैसे युवराज स्कदगुप्त के चरित्र मे द्विविध रूप दिखाई पड़ता है उसी प्रकार रस-पक्ष मे भी दो धाराएँ हैं। सपूर्ण इतिवृत्त और घटनाव्यापारो के विचार से प्रस्तुत नाटक शोक पर्यवसायी नही माना जा सकता। स्कदगुप्त के संमुख व्यक्त लक्ष्य केवल एक है—आर्यराष्ट्र के गौरव की रक्षा अथवा विचलित हुई गुप्तकुल की श्रीलक्ष्मी का पुनरस्थापन। अत उसके जीवन का प्रमुख अश साम्राज्य की क्षुब्ध एवं असरक्षित स्थिति को सँभालने मे व्यतीत होता है। उसका सामाजिक रूप राष्ट्र के ही नियत्रण मे लगा दिखाई पड़ता है। वह जिस फलप्राप्ति मे तत्पर है वह आक्रमणकारियो से मुक्त करके देश को निरापद बनाना है, गृह-कलह को शांत करना है और उन अन्य कारणो का उन्मूलन है जिनसे राष्ट्र की हानि होने की सभावना है। यदि अंत मे उसने इन ध्येयों की प्राप्ति कर ली है तो नाटक पूर्णत सुखांत है। उसने अवश्य ही अखड पुरुषार्थ के बल पर अपनी फल-प्राप्ति की है। आरभ मे जिस फल को ध्यान मे रखकर वह चला है, जिसके लिए अनेक प्रयत्न किए हैं वह क्रमश प्राप्त्याशा और नियताप्ति के मार्ग से उसे प्राप्त हो गया है। उसका जीवन और जीवन के नाना व्यापार सफल हैं। इस आधार पर स्कदगुप्त नाटक सुख पर्यवसायी ही माना जायगा।

नाटक के अंतिम दृश्य ने रस संबंधी एक प्रश्न खडा कर दिया है, जिसके कारण प्राय विवाद चल पड़ता है। खिंगिल पर विजय प्राप्त करके और पुरगुप्त को रक्त का टीका लगाकर स्कंदगुप्त ने पूर्ण फल की प्राप्ति जब कर ली तब उसके उपरांत एक दृश्य और बढ़ाकर जो देवसेना के कथोपकथन से नाटक की समाप्ति दिखाई गई है उससे वीररस की अखंड निष्पत्ति मे हलका सा व्याघात पड़ता है। साथ ही 'अधिकार-सुख कितना मादक और सारहीन है' इत्यादि निर्वेदात्मक वचनों मे विरक्ति-भावना से समन्वित समारंभ के कारण यह भ्रांति हो सकती है कि कहीं शांत रस की प्रधानता न दिखाई गई हो। इसके अतिरिक्त यदि शांत रस का पक्ष लिया जाय तो उसके अन्य आवश्यक उपादान भी एकत्र किए जा सकते हैं। आरंभ में ही बुद्धि और

स्थिति-जन्य जो विराग और निर्वेद स्कंद मे दिखाई पडता है उसका आलंबन है गृह-कलह और अनतदेवी एव भटार्क का महत्त्व-लोभ तथा अधिकार-लिप्सा। उद्दीपन के रूप मे विजया का स्कदगुप्त की ओर से हटना और भटार्क की मंडली मे योग देना, भटार्क की प्रतारणा और गिरिव्रज की पराजय है। 'बौद्धों का निर्वाण, योगियों की समाधि और पागलो की सी सपूर्ण विस्मृति मुझे एक साथ ही चाहिए × × × ओह! जाने दो, गया, सब कुछ गया × × × कर्तव्य विस्मृत भविष्य अंधकारपूर्ण लक्ष्यहीन दौड़ और अनंतसागर का सतरण है। × × × आर्य-साम्राज्य की हत्या का कैसा भयानक दृश्य है। कितना बीभत्स! सिहों की विहारस्थली मे शृगाल-वृंद सडी लोथ नोच रहे है × × × आह! मै वही स्कद हूँ अकेला, निस्सहाय'। इत्यादि वचन अनुभाव हैं। चिता, निर्वेद, दीनता आदि संचारी हैं।

फिर भी उक्त सभी उपादानों के सयोग से शांत रस की निष्पत्ति नही मानी जा सकती, क्योंकि स्कदगुप्त की आद्यंत कर्मवीरता के अखड साम्राज्य मे समष्टि प्रभाव शात के पक्ष मे हो ही नही सकता। समय-समय पर जो स्थिति-प्रेरित उक्त बातें हैं वे स्कंद के अंतर्द्वंद्व और चरित्र की विषमता की द्योतक हैं। वर्तमान पाश्चात्य प्रणाली से प्रभावित चरित्र की उच्चावचता अभिव्यक्त करने की प्रवृत्ति के कारण ही यह अनंग-कीर्तन[1] हो गया है और इसीलिए नाटक मे शांत रस का आभास दिखाई पड़ता है। यदि शुद्ध भारतीय पद्धति से विचार किया जाय तो अतिम दृश्य सर्वथा निरर्थक ठहरता है। उससे रस मे व्याघात पडता है। जितने विषय उस दृश्य मे आए हैं उनका यथा-प्रसंग सचित रूप इसके पूर्व ही मिल जाता है। अतएव उस दृष्टि से भी उस दृश्य की आवश्यकता नहीं है। देवसेना और स्कद के उस सवाद से कोई नई विशेपता नही प्रकट होती। एक प्रकार से उसमे पूर्व-प्रसंगों की प्रतिध्वनि मात्र मिलती है। उस दृश्य मे भी चरित्रगत

---

१ अंगिनोऽननुसन्धानमनगस्य च कीर्तनम्।—साहित्यदर्पण, परिच्छेद ७, श्लोक १४।

विलक्षणता की वही यथार्थ झलक दिखाई देती है जो स्कंद और देवसेना में कई पूर्व अवसरों पर प्राप्त हो चुकी है।

उत्साह एक स्थायी भाव है जो बहुमुखी स्थितियाँ उत्पन्न करता है। जैसे वह शूर में अपना प्रभाव दिखाता है वैसे ही दानी और दयालु मे भी अपना महत्त्व प्रदर्शित करता है। स्कदगुप्त नाटक मे इसी उत्साह का सुदर प्रसार दिखाई पड़ता है। कृतिकार की क्रिया-शक्ति के द्वारा प्रधान पात्र मे अभिव्यजित स्थायी भाव—उत्साह—सामाजिकों और दर्शकों के हृदय मे संस्कार रूप से स्थित उत्साह से अभिन्न होकर, साधारणीकृत होकर, जब पूर्णरूप से प्रकाशित हो उठता है तभी सकल-सहृदयता-आनद-स्वरूप वीररस की अनुभूति होती है। प्रस्तुत नाटक मे दर्शक की सपूर्ण वृत्तियाँ स्कद मे ही रमती हैं, उसी के साथ नाना स्थितियों एव घटनाओं के प्रवाह मे बहती चलती है। अतएव उसी की अनुभूतियों का साधारणीकरण सामाजिकों की अनुभूतियों से होता है। स्कद का सारा जीवन वीरता-पूर्वक राष्ट्र के उद्धार मे व्यतीत हुआ। उत्साह से प्रेरित उसका सारा वृत्त जिस अलब्ध उद्देश्य की पूर्ति मे फैला दिखाई पड़ता है वह वीरता की ही सच्ची कहानी का चरम फल है। इस प्रकार नाटक मे प्रधान रस वीर ही है—अपने विरोधी-अविरोधी समस्त अगरसों के साथ।

'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्ति'—नाट्यशास्त्र ने इन चारों अवयवों के संयोग में ही रस की पूर्णता मानी है। प्रस्तुत नाटक मे इनकी पूरी-पूरी संयोजना दिखाई पड़ती है। स्कदगुप्त आश्रय है उसमे उत्साह स्थायी भाव वर्तमान है। उसकी उदात्त चरितावली मे यह स्थायी भाव बड़ा ही उज्ज्वल हो उठा है। 'दूत! × × शरणागत-रक्षा भी क्षत्रिय का धर्म है × × अकेला स्कंद-गुप्त मालव की रक्षा करने के लिए संनद्ध है। जाओ, निर्भय निद्रा का सुख लो। स्कंदगुप्त के जीते जी मालव का कुछ न बिगड़ सकेगा।' इत्यादि उद्‌गार उसके उत्साह के ही अभिव्यजक हैं। उत्साह विरोध सहन नहीं करता, अतएव प्रतिद्वंद्वियों को देखकर वह उग्र हो उठता है। स्कद के उत्साह के लिए अंतःकलह के उत्पादक भटार्क और अनतदेवी और राष्ट्र के शत्रु पुष्यमित्र, शक तथा हूण ही आलंबन हैं।

अनेक समरों के विजेता, महामानी, गुप्त-साम्राज्य के महाबलाधिकृत अब इस लोक में नहीं हैं। इधर प्रौढ सम्राट् के विलास की मात्रा बढ गई है। बिजली गिरने से पूर्व जिस प्रकार नील कादंबिनी का मनोहर आवरण महाशून्य पर चढ जाता है, क्या वैसी ही दशा गुप्त-साम्राज्य की नहीं है। कपिशा को श्वेत हूणों ने पदाक्रांत कर लिया है। अबकी बार पुष्यमित्रों का अंतिम प्रयत्न है। वे अपनी समस्त शक्ति संकलित करके बढ़ रहे हैं। इतना ही नहीं, शक राष्ट्रमंडल चंचल हो रहा है, नवागत म्लेच्छ-वाहिनी से सौराष्ट्र भी पदाक्रांत हो चुका है, इसी कारण पश्चिमी मालव भी अब सुरक्षित न रहा—आदि राजनीतिक परिस्थितियाँ और अनंतदेवी का षड्यंत्र तथा समस्त उत्तरापथ के धर्म-संघों का गुप्त विरोध उद्दीपन विभाव के अंतर्गत आते हैं।

अनुभाव के अंतर्गत वे समस्त कार्य व्यापार रखे जायँगे जो इस अखंड उत्साह के परिणाम हैं—मालव, गिरिव्रज और अंत का युद्ध, मालव-सिंहासन की स्वीकृति, मातृगुप्त को काश्मीर का शासक नियुक्त करना। इनके अतिरिक्त देवकी और देवसेना की रक्षा, सब बंदियों और विद्रोही—विरोधियों को क्षमा इत्यादि सभी व्यापारों के मूल मे उत्साह ही है, अतः ये सब उसी के अनुभाव हैं। संपूर्ण नाटक के साथ संचरण करनेवाले संचारियों की विविधता दिखाई पडती है। धृति—'ध्यान रखना होगा कि राजधानी से अभी कोई सहायता नहीं मिलती। हम लोगों को इस आसन्न विपद् मे अपना ही भरोसा है' के अनेक सुंदर और भव्य रूप मिलते हैं। दृढतापूर्वक सावधान रहना स्कंद की अपनी विशेषता थी। धृति की ही भाँति स्थान-स्थान पर गर्व, चिंता, उत्सुकता, आवेग, विषाद, ग्लानि इत्यादि अन्य संचारियों का भी समावेश होता गया है। इस प्रकार वीररस के सभी उपादानों का संयोग स्वयं उपस्थित हो गया है और नाटक मे रस-निष्पत्ति पूरी-पूरी हुई है। युद्धवीर के साथ-साथ दान-वीर का भी अच्छा समन्वय है। स्कंद ने जिस साम्राज्य की सिद्धि अपने अपार पौरुष के बल पर प्राप्त की थी और जिस राष्ट्र को निरा-पद बनाने मे उसने अपना संपूर्ण जीवन उत्सर्ग कर दिया था उसी को एक क्षण में उसने पुरगुप्त को दान कर दिया। इस प्रकार अंत मे

जो आगे बढाकर नाटक की समाप्ति दिखाई गई है, उसके मूल मे यही व्यक्तित्व-चित्रण की प्रेरणा लक्षित होती है।

नाट्यशास्त्र के भारतीय पंडितों ने नाटक की सृष्टि के तीन ही मुख्य उपादान माने है—वस्तु, नेता और रस। इसमे वस्तु एव नेता के योग से रस-निष्पत्ति ही लक्ष्य है। नाटक का वृत्त ख्यात, इतिहास प्रसिद्ध है ही। साथ ही नायक उदात्त चरित्र का है। विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी इत्यादि का सुदर रूप मे सयोग होने से वीररस की निष्पत्ति भी हो गई है। सपूर्ण कृति मे समष्टि प्रभाव प्राप्त होता है। नाटक के आवश्यक सभी विषय इस रचना मे मिल जाते हैं। इस प्रकार पाश्चात्य एव भारतीय दोनों विचारों से स्कंदगुप्त नाटक उत्तम है।

चंद्रगुप्त

इतिहास

मौर्यवंश का प्रथम प्रतापशाली शासक चंद्रगुप्त था। उसके पूर्वजों के विषय मे विद्वानों मे बडा मतभेद है। कुछ लोगों ने इसे शूद्रा के गर्भ से उत्पन्न लिखा है। यह भ्राति विशेषत ग्रीक ऐतिहासिकों के कारण आरंभ हुई ज्ञात होती है,[1] अथवा यह भी हो सकता है कि नद-वश विषयक जनश्रुति चद्रगुप्त पर आरोपित हो गई हो। कुछ लोगों का कथन है कि वह वीर क्षत्रिय था और उसका जन्म पिप्पलीकानन (वन) के मोरिय जाति के क्षत्रियों मे हुआ था[2]। इन मोरियों का उल्लेख दीघनिकाय के महापरिनिब्बाण सुत्त मे मिल चुका है। बुद्ध के जीवनकाल मे ही वर्तमान गोरखपुर के पूर्वोत्तर मे मौर्यों का प्रजातत्र राज्य था। सभवत इसी राज्य के किसी क्षत्रिय सरदार का पुत्र चंद्रगुप्त था। पीछे वह राज्य महापद्मनद के राज्य-विस्तार के कारण मगध के शासन मे आ गया और कालातर मे नद की उच्छृंखलता से मुक्त होने की इच्छा रखनेवालों का नायक, मौर्यवशीय चद्रगुप्त हुआ[3]। वस्तुस्थिति की विवेचना से ऐसा ज्ञात होता है कि इस महत्त्वाकाक्षी युवक का प्रथम प्रयास असफल रहा और उसे कठोर शासक नद के चगुल से बचकर भागना पड़ा। चद्रगुप्त के विषय मे कुछ लोगों की यह भी धारणा है कि वह महानद का पुत्र है, परतु यह बात अब प्राय सभी विद्वानों के मत से भ्रात ठहरती है, क्योंकि ऐसा प्रमाण भी मिलता है कि

---

१ जे० डब्लू० मैक्क्रिडल द इनवैजन आव् इडिया बाई एलेक्जेडर द ग्रेट (ऐज डिस्क्राइब्ड बाई एरियन, कर्लियस, डियोडोरस प्लूटार्क एड जस्टिन) नया सस्क० पृ० ३२५, ४०४।

२. (क) जयचद्र विद्यालकार भारतीय इतिहास की रूपरेखा, भाग २, पृ० ५४८।

(ख) सत्यकेतु विद्यालकार मौर्य-सामाज्य का इतिहास, पृ० ६० से पृ० १११ तक।

३. हेमचद्र राय चौधरी पोलिटिकल हिस्ट्री आव् एशिएट इडिया (१९३२), पृ० १८१।

चद्रगुप्त से और नद-राजकुमारी से प्रेम था। कालांतर मे उन दोनो का विवाह हुआ और उन्ही की सतान बिंदुसार था जो चंद्रगुप्त के उपरांत शासक हुआ[१]। ऐसी स्थिति मे चद्रगुप्त को नंदवंश का स्वीकार करना असंभव है।

जिस समय चद्रगुप्त मगध से भागकर सुदूर पश्चिमोत्तर-सीमा पर पहुँचा उस समय वहाँ उसका परिचय ब्राह्मण विष्णुगुप्त से हुआ जिसका उपनाम चाणक्य अथवा कौटिल्य था। वह तक्षशिला का शिक्षार्थी और वहीं के विश्वविद्यालय का स्नातक था। तक्षशिला का वह विद्याकेंद्र शिक्षा दीक्षा के कारण अति प्रसिद्ध था और उसमे कोशल, काशी, मल्ल इत्यादि राज्यों के राजकुमार भी जाकर विद्याभ्यास करते थे। यह सस्था विविध शास्त्रों का ज्ञान कराती थी और तत्कालीन समाज एव राजनीति के नियन्त्रण मे उसका प्रच्छन्न हाथ अवश्य ही रहता था[२]। सिकदर के आक्रमण-काल मे यही प्रसिद्ध विद्याकेंद्र विद्रोह का प्रधान केंद्र था। वहाँ उस समय कूटविद्या और सैन्यशास्त्र विशारद चाणक्य और उसका शिष्य चद्रगुप्त वर्तमान थे[३]।

जिस समय चद्रगुप्त विजेता अलक्षेंद्र से मिला उस समय उसकी बाल्यावस्था थी और उसमे महत्त्व-प्रियता इतनी अधिक थी कि साधारण बातचीत मे भी उसका दर्प प्रकट होता था। परिणामत अलक्षेंद्र उससे चिढ गया और चद्रगुप्त को वहाँ से भी हट जाना पड़ा[४]। इसके उपरांत वहीं अपने गुरु चाणक्य के साथ रहकर वह

---

१ टी० एल० शाह एंशिएंट इंडिया वाल्यूम ११ (१९३९) पृ० १५०, १७५।

२. (क) मौर्य-साम्राज्य का इतिहास, पृ० ६७३ से ६८५ तक।
   (ख) द इनवैजन आव् इंडिया बाई एलेक्जेंडर द ग्रेट, पृ० ३४२।
   (ग) जनार्दन भट्ट बौद्धकालीन भारत (स० १९८२), पृ० ३७१ से ३७५ तक।

३. इ० बी० हैवेल द हिस्ट्री आव् आर्यन रूल इन इंडिया फ्राम अर्लिएस्ट टाइम्स टू द डेथ आव् अकबर, चेप्टर ५।

४. (क) तलब्याज ह्वीलर द हिस्ट्री आव् इंडिया वाल्यूम ३, पृ० १७५-७६।
   (ख) हेमचद्र राय चौधरी पोलिटिकल हिस्ट्री आव् एंशिएंट इंडिया (१९३२) पृ० १८१-८२।

भावी कार्यक्रम मे प्रयत्नशील हुआ। उस समय सपूर्ण पजाब प्रात स्वतत्र और गणतंत्र राज्यो का घर था। इन हिंदू शासकों मे आपस मे नहीं बनती थी। वे एक दूसरे का पतन देखने मे ही संतुष्ट रहते थे। वहाँ के प्रमुख राज्य मे गांधार-नरेश आंभी (आंभीक) एक ओर आक्रमणकारी के स्वागत मे लगा था और दूसरी ओर महाराज पुरु (पोरस) अपनी संपूर्ण शक्ति के द्वारा उसका विरोध करने की ठान रहे थे। फलत आभीक और विजेता अलक्षेंद्र के साथ पोरस का घोर युद्ध हुआ। जिसमे पहला पक्ष विजयी तो रहा पर उसे महाराज पुरु का लोहा मानना पड़ा[1]। सिकदर ने इस वीर शासक को परास्त कर उसे पुन व्यास और झेलम के दोआब का क्षत्रप नियुक्त किया, जैसे झेलम और सिधु के बीच के प्रात का आभीक तथा सिधु के पश्चिम प्रदेश का फिलिप्स् को नियुक्त किया था। अपने क्षत्रपो को स्थापित करते और उत्तरस्थ छोटे-छोटे अन्य राज्यो एव शासको को अपनी छत्र छाया से उपकृत करते हुए अलक्षेंद्र दक्षिण की ओर बढा। उस समय उस ओर भी कई छोटे-छोटे प्रजातत्र—सिलाई, अगलासोई, मालव, क्षुद्रक प्रभृति राज्य थे। इनके अधिकारी थे तो बडे शूरवीर पर आपस मे ऐक्य न होने से ये राज्य शीघ्र ही विजित हो गए। मालव और क्षुद्रकों ने परस्पर मिलने की चेष्टा की और एक अनुभवी क्षत्रिय को सेनापति भी बनाया परतु इसके पूर्व की यह संमिलित सेना सजग हो, अलक्षेंद्र ने सहसा उस समय आक्रमण कर दिया जिस समय लोग खेतो मे काम कर रहे थे। बडा उग्र युद्ध हुआ जिसमे अलक्षेंद्र बुरी तरह घायल और मूर्छित होकर गिर पड़ा। इस पर मकदूनिया की सेना विक्षिप्त हो उठी और नृशस होकर चारों ओर स्त्रियो-बच्चो तक को कतल करने लगी[2]। इसी प्रकार रक्तपात करते हुए यह मकदूनिया का विजेता जल-मार्ग से अपने देश की ओर लौट चला, पर मार्ग मे ही बाबेरू पहुँचकर ३२३ ई० पूर्व मे उसका देहात हो गया।

---

१ जे० डब्लू० मैक्रिंडल द इनवैजन आव् इडिया बाई एलेक्जेंडर द ग्रेट, पृ० ३०८।

२ (क) भारतीय इतिहास की रूपरेखा, पृ० ५४०–४१।

(ख) आर० एस० त्रिपाठी हिस्ट्री आव् एशिएट इडिया (१९४२) पृ० १३६–३९।

अलचेंद्र केवल विजयी योद्धा ही न था, वह नीतिकुशल और दूरदर्शी भी था। सहिष्णुता और एकछत्रत्व की भावना उसके चरित्र की विशेषताएँ थी। अपनी शक्ति के साथ-साथ अन्य पक्ष की योग्यता को भी स्वीकार करता था। वह स्वय वीर था और वीरों का प्रशसक भी था। वह साधु और विद्वान् की या तो स्वय प्रतिष्ठा करता था या उनकी विशिष्टता और तपस्या को मानता था। भारत पर आक्रमण करने के प्रसग मे वह तक्षशिला के अनेक साधु-महात्माओं से मिला और उनके आश्रम पर गया था। ग्रीक लेखकों ने इस विषय की अनेक चर्चाएँ की है। तक्षशिला मे वह जिन ऐसे व्यक्तियो से मिला था उनमे मडनिरा अथवा दंडमिस प्रमुख था। दंडमिस के अनेक शिष्यों का उल्लेख प्राप्त होता है जिनमे से एक कालानास भी था। जिसे फुसलाकर अलचेंद्र अपने साथ ले गया था। दंडमिस ने अपने आश्रम पर आए हुए मकदूनिया के सम्राट् को उसकी नृशस विजय के लिए बहुत फटकार भी सुनाई थी। इसका स्पष्ट उल्लेख मिलता है[१]।

जिस समय अलचेंद्र को रुष्ट करके चद्रगुप्त उसके सान्निध्य से हटा और चाणक्य ऐसे कुशलबुद्धि व्यक्ति की आतरिक अनुकपा उसे प्राप्त हुई उसी समय से गुरु और शिष्य पंचनद के गणतंत्रों मे इन विदेशियो के प्रति विरोधाग्नि प्रज्वलित करने मे दत्तचित्त हो गए। सभव है इसी कारण विशेषत अलचेंद्र को पद-पद पर कठिनाइयों और विरोधों का सामना करना पड़ा था। उस मकदूनिया के वीर विजेता के संसर्ग मे रहने के कारण भारत के भावी सम्राट् ने रणनीति मे कुशलता प्राप्त की और उसका प्रयोग भी तुरंत ही किया। भावी महत्त्वपूर्ण पद की सप्राप्ति की सूचना आधिदैविक रूप मे ही उसे मिली थी जिसका उल्लेख जस्टिन ने किया है। व्याघ्र का सोते हुए चद्रगुप्त का मुख चाटकर चला जाना और पालतू जीव की भाँति सहसा एक हाथी का संमुख आकर उसे अपने ऊपर बैठाकर भीषण युद्ध मे योग देना ईश्वर की ही प्रेरणा थी[२]। अपने सौभाग्य और

---

१. जे० डब्लू० मैक्रिंडल द इनवैजन आव् इडिया बाई एलेक्जेंडर द ग्रेट, पृ० ३८६–९२।

२. वही, पृ० ३२७–२८।

कर्मनिष्ठा के बल पर चद्रगुप्त ने शीघ्र ही पचनद का अधिनायकत्व प्राप्त कर लिया। चाणक्य और चद्रगुप्त के नेतृत्व मे यूनानी सेनापतियों के प्रति भारतीय विद्रोह को सफलता प्राप्त हुई। पजाब और सीमाप्रात चद्रगुप्त के अधिकार मे आ गए। इन प्रदेशों के नरपतियों ने अनायास अपने को स्वतत्र करानेवाले मौर्य चद्रगुप्त की अधीनता स्वीकार की[1]। इन प्रदेशों से विदेशी सत्ता उन्छिन्न करने के उपरांत उन्ही की समिलित सेना[2] के सहयोग से उसने मगध के नद का नाश किया। इस युद्ध मे ऐतिहासिक नाटक मुद्राराक्षस के अनुसार चद्रगुप्त का प्रधान सहायक पर्वतेश्वर था, पर इससे अधिक उसका और परिचय नही मिलता। कुछ लोगों ने उसी को पोरस [पुरु] कहा है[3]। पीछे चलकर चाणक्य ने पर्वतेश्वर का वध ऐसी चातुरी से कराया कि चद्रगुप्त के मार्ग का कटक भी दूर हो गया और सारा दोष नद सम्राट् के प्रधानामात्य राक्षस के सिर मढा गया। पश्चात् निर्विघ्न चद्रगुप्त मगध के सिहासन पर ई० पू० ३२१ मे आरूढ हुआ।

इसके अनतर चद्रगुप्त ने दक्षिण-विजय के लिए प्रस्थान किया। ग्रीक लेखकों का तो कहना है कि सपूर्ण भारतवर्ष उसके अधिकार मे था, परंतु इतना तो अवश्य ही प्रमाण समत मालूम पड़ता है कि विध्य पर्वत से आगे के दक्षिण प्रात भी उसके शासन मे थे। दक्षिण-पश्चिम मे उसके राज्य की सीमा सौराष्ट्र और पोदोइल पर्वत तक कही जाती है। मैसूर के लेखों से यह भी ज्ञात होता है कि उसके उत्तर तक मौर्य-साम्राज्य का विस्तार था[4]। दक्षिण-विजय के उपरात ही साम्राज्य पर फिर विदेशी आक्रमण का भय उत्पन्न हुआ। अलक्षेंद्र की मृत्यु होने पर सिल्यूकस सीरिया प्रांत का अधिपति बन

---

१. मौर्य-साम्राज्य का इतिहास, पृ० १२१।

२ विराधगुप्त —एष कथयामि। अस्ति तावत् शकयवनकिरातकाम्बोजपारसीकवाह्लीक प्रभृतिभि चाणक्यमतिपरिगृहीतै चन्द्रगुप्तपर्वतेश्वरबलैरुदधिभिरिव प्रलयोच्चलितसलिलै समन्तात् उपरुद्ध कुसुमपुरम्।—मुद्राराक्षस (द्वितीयाक)।

३ आर० एस० त्रिपाठी हिस्ट्री आव् एशिएट इडिया, पृ० १४०।

४. हेमचद्र राय चौधरी . पोलिटिकल हिस्ट्री आव् इडिया, पृ० १८३-८४।

गया था। अलक्षेंद्र की पचनद-विजय मे भी वह पहले सेनापति के रूप मे रह चुका था। उसके मन मे पुन भारत-विजय की कामना स्फुरित हुई। एक विशाल वाहिनी लेकर वह भारतवर्ष की पश्चिमोत्तर सीमा पर आ पहुँचा। इधर सम्राट् चद्रगुप्त उससे कही अधिक तत्पर दिखाई पडा। इन दोनों मे प्राय ई० पू० ३०५ मे एक विकट युद्ध हुआ। पर उस युद्ध का विस्तृत वृत्तात कहीं नही मिलता। परिणाम के विषय मे देशी विदेशी[1] सभी लेखक एकमत हैं। सिल्यूकस की पराजय हुई और दोनों सम्राटों में सधि हो गई। सीरिया के शासक ने वर्तमान लासबेला, कलात, कंदहार, हेरात और काबुल के प्रदेश मौर्य सम्राट् को दिए। इस मैत्री की प्रतिष्ठा मे उसने अपनी बेटी एथिना[2] का विवाह भी चद्रगुप्त के साथ कर दिया। इसके उपरांत निरापद होकर चद्रगुप्त अपने साम्राज्य की शांति स्थापना मे लगा।

कथानक

इस नाटक का कथानक अन्य नाटकों की भाँति न तो पाँच अंकों का है न तीन का। चार अकों मे सपूर्ण कथा को बाँधने से कार्य की अवस्थाएँ सघटित करने में विशेष कौशल की आवश्यकता पड़ी है। सारे कथानक मे तीन प्रमुख घटनाएँ है—अलक्षेंद्र का आक्रमण, नदकुल का उन्मूलन और सिल्यूकस का पराभव। इन तीनों महत्त्वपूर्ण भारतीय राजनीतिक घटनाओं मे तर्क और बुद्धिसगत सबध भी है। इसी सगति की सुलभता को लेकर नाटक का सविधान हुआ है और इस विधान का लक्ष्य यही है कि तीनो इतिहास-प्रसिद्ध घटनाओ की प्रेरकता का श्रेय एक व्यक्ति को मिले। इसी व्यक्ति के चरित्र विकासक्रम को आधार मानकर कथानक बाँधा गया है। घटनाओं और स्थितियों को इस क्रम से सजाया गया है कि इतिहास की सगति के साथ नाटक के चरित्र-विकास का सामजस्य होता चले। वस्तु विन्यास के इसी सौष्ठव के कारण नाटकीय

१ जे० डब्ल्यू० मैक्क्रिडल द इनवैजन आव् इडिया बाई एलेक्जेंडर द ग्रेट, पृ० ४०७।

२. जनार्दन भट्ट. बौद्धकालीन भारत (सं० १९४२), पृ० ११४।

समष्टि-प्रभाव का जितना सुदर और सुसगत आभोग इस नाटक मे हो सका है उतना लेखक की अन्य किसी रचना मे नहीं।

लेखक ने प्रथम दो प्रधान घटनाओं को पहले लिया है। इसीलिए उनसे सबद्ध प्रमुख व्यक्तियों के परस्पर सबध का परिचय आरभ में कराया गया है। तक्षशिला के गुरुकुल मे ही युवकों की एक मडली ऐसी दिखाई पड़ती है, जो तत्कालीन राजनीतिक क्रांति की अग्नि-शिखा को प्रज्वलित करने के लिए प्रयत्नशील हो रही है। वहीं से मैत्री, प्रेम और विरोध का आरभ होता है। फिर इनके विपक्ष-दल का परिचय मिलता है। क्रमानुसार विरुद्ध दलों का सामना होता है और विरोध की जटिलता बढती है। कथानक विकासोन्मुख होकर मगध से लेकर गाधार तक फैलता है। कार्य-व्यापारों के दो केंद्रस्थल बन जाते है। इधर चद्रगुप्त और चाणक्य नदकुल से संघर्ष की जड जमाकर विरोध को उकसा देते है और सीमाप्रात की ओर बढ़ जाते हैं। उधर सिहरण और अलका की प्रेरणा और आंभीक के विरोध से सिधु-तट पर भी सघर्ष आरभ हो जाता है। वहाँ घटना-स्थिति से प्रेरित सिल्यूकस और चद्रगुप्त का परिचय होता है। दाड्यायन के आश्रम मे दोनों विरोधी पक्षों का समेलन होता है और वहीं चंद्रगुप्त के उत्कर्ष के विषय मे दाड्यायन की भविष्यवाणी के कारण सभी का ध्यान उसके महत्त्वपूर्ण व्यक्तित्व की ओर आकृष्ट हो जाता है। इस प्रकार प्रथम अक में साध्य-साधन के पूर्ण परिचय के साथ-साथ मगध से लेकर गाधार तक की राजनीतिक स्थिति का पूर्ण प्रकाशन हो जाता है और चद्रगुप्त के महत्त्व का स्थापन भी सुदर ढग से कर दिया जाता है।

दूसरे अक मे केवल पश्चिमोत्तर सीमाप्रात की राजनीतिक वस्तु-स्थिति का ही विस्तृत उद्घाटन हुआ है। चद्रगुप्त फिलिप्स के कामुक आक्रमण से कार्नेलिया की रक्षा करके उसका प्रेमभाजन बन जाता है। सिकदर को नीचा दिखाकर उसकी शक्ति-सीमा के भीतर से वह निर्भय निकल जाता है। चाणक्य, चद्रगुप्त, सिहरण एव अलका से मत्रणा करके युक्तिपूर्वक विदेशी सेना की यथार्थ जान-कारी प्राप्त करता है। इसी विश्वास पर पर्वतेश्वर और सिकदर के युद्ध मे अपनी मंडली के साथ योग देता है। सिकदर और पुरु मे संधि हो जाती है। चाणक्य के बुद्धि-कौशल से प्रभावित अपनी

सेना के विमुख होने पर मार्ग मे आ पड़नेवाली क्षुद्रकों एव मालवों को परास्त करता हुआ अलक्षेंद्र अपने देश को लौटना चाहता है। अभी तक चद्रगुप्त का उससे प्रत्यक्ष संघर्ष नही हुआ है, पर चद्रगुप्त की उत्कर्ष-स्थापना के लिए यह आवश्यक था, अतएव उक्त दोनो गणतंत्रों का सेनापति चद्रगुप्त बनता है। अलका के चक्र मे पड़कर पर्वतेश्वर भी युद्ध मे योग देता है और ठीक अवसर पर पुन सिकदर की सहायता मे तत्पर होता है। कल्याणी और राक्षस भी मगध-सेना लेकर चाणक्य के उद्योग मे सहायक होते है। मालव-दुर्ग पर सिकंदर आक्रमण करता है। अकेली मालविका और अलका बड़ी तत्परता से विरोध करती है। सिकदर स्वय कोट पर चढ़कर भीतर कूद पड़ता है। वहाँ कठोर युद्ध के बाद सिकदर घायल होकर अचेत हो जाता है। इस प्रकार चद्रगुप्त उदारतापूर्वक सिकंदर को यवन सेनापति के हाथ सौंपकर सुरक्षित निकल जाने की अनुमति देता है। इस स्थान पर आकर कर्माश्रित चद्रगुप्त का उत्कर्ष स्थापित हो जाता है।

तृतीय अक मे पुन सारे कार्य व्यापारों का अखाड़ा मगध बनता है और सीमाप्रांत का जमघट एक बार फिर धीरे-धीरे इसी ओर बढ़ने लगता है। चाणक्य अपनी कूट बुद्धि के बल से चंद्रगुप्त को सर्वशक्ति-संपन्न बनाकर अब नंदकुल के उन्मूलन की ओर प्रवृत्त करने लगता है और स्वय उसकी समस्त योजना में व्यस्त दिखाई पड़ता है। अपने चरों द्वारा सब से पहले वह राक्षस का विश्वास उपार्जित करता है। फिर ठीक अवसर पर पहुँचकर आत्महत्या पर तत्पर पर्वतेश्वर का उद्धार करता और उसे अपनी उद्देश्य-पूर्ति का एक सच्चा साधन बनाता है। राक्षस को नंद के आतंक से मुक्त करने का ढोंग रचकर और सुवासिनी से मिलाने का प्रलोभन देकर उसकी मुद्रा प्राप्त कर लेता है। कल्याणी को मगध की ओर बढ़ने की स्वीकृति दे देता है और बड़े समान और मैत्री-भाव से सिकदर की बिदाई करता है। इस विदेशी शत्रु से छुट्टी पाकर उस स्थान की राजनीतिक बागडोर सिंहरण के हाथ मे सौंप देता है, क्योंकि चाणक्य का उस पर पूरा विश्वास है। पर्वतेश्वर वहाँ रहकर कुछ विघ्न उत्पन्न कर सकता है, इसलिए पूरी सैनिक सज्जा से उसे अपने साथ मगध की ओर चलने का आदेश देता है। उत्तरापथ की दासता के

अवशिष्ट चिह्न फिलिप्स के शासन को मिटा देने के लिए चंद्रगुप्त ही उपयुक्त पात्र है, अतएव उसे कुछ समय के लिए वहीं छोड़ देता है, क्योंकि अभी मगध के मार्ग को उसके लिए कटकाकीर्ण समझता है। परिस्थिति को चद्रगुप्त के अनुकूल बनाकर तब उसे मगध में जाने देने का विचार करता है।

इधर जिस समय रंगशाला मे नद सुवासिनी से प्रणय की याचना कर रहा था उस समय राक्षस पहुँचकर उससे सुवासिनी की रक्षा करता है और यहीं से राजा उसका शत्रु बन जाता है। चद्रगुप्त के माता-पिता कारागार मे हैं। मत्री वररुचि अपदस्थ कर दिया गया है। नागरिकवृद नद की उच्छृंखलताओं से असतुष्ट हैं। ठीक इसी अवसर पर अपनी पूरी तैयारी के साथ चाणक्य कुसुमपुर के समीप पहुँचता है। मालविका को ठीक करता है कि वह राक्षस-सुवासिनी के विवाह के एक घंटा पूर्व सुवासिनी के नाम राक्षस का एक जाली पत्र लाकर नद को दे। चाणक्य इसी समय सहसा अंधकूप से निकले शकटार से मिलता है और उस नद-विद्वेशी को अनुकूल बनाकर अपने साथ लगा लेता है। मालविका पत्र और मुद्रा के साथ पकडकर नंद की सभा मे लाई जाती है उससे प्राप्त पत्र को पढकर नद राक्षस और सुवासिनी पर अत्यत कुपित होता है और उन्हे तुरंत पकड़कर लाने की आज्ञा देता है।

पूर्वनिश्चय के अनुसार पर्वतेश्वर अपनी सेना के साथ कुसुमपुर में पहुँचकर चाणक्य से मिलता है। फिलिप्स को द्वद्व मे मारकर चद्रगुप्त भी ठीक अवसर पर पहुँच जाता है। इस प्रकार चाणक्य द्वारा रचित विद्रोह-व्यूह पूर्णता प्राप्त कर लेता है। इसी समय राक्षस और सुवासिनी के अपमानपूर्वक राजबदी बनाए जाने की आकस्मिक सूचना पाकर क्षुब्ध हुई जनता न्याय की दुहाई देती हुई एकत्र होती है और चाणक्य-मंडली के लोग एक-एक कर अपना अपना परिचय देते हुए उसी मे संमिलित हो जाते हैं। इन विद्रोहियों का नेता चंद्रगुप्त बनता है। यह विद्रोही-समूह राजसभा मे ठीक उसी समय पहुँचता है जब लोग राक्षस और सुवासिनी को अधकूप मे डालने के लिए ले जा रहे हैं। यह दृश्य देखकर क्षुब्ध नागरिक उत्तेजित हो उठते हैं। अत में परिणाम यह होता है कि नंद को बचाते-बचाते भी शकटार उसे मार डालता है और सब

लोग एक स्वर से चंद्रगुप्त को शासक स्वीकार करते है। राक्षस उसका हाथ पकड़कर राज्यसिंहासन पर बैठा देता है।

अब चंद्रगुप्त के राज्य शासन को निष्कंटक बनाना और उसे साम्राज्य का बृहत् रूप देना शेष है। कंटक दो हो सकते है, कल्याणी एवं पणबंध के अनुसार आधे मगध का अधिकारी पर्वतेश्वर। चतुर्थ अंक इन्ही दोनों कंटकों के व्यापार से आरंभ होता है। चाणक्य का विचार यह है कि यदि कल्याणी जीवित रहती है तो संभव है कि नंद के अनुयायी उसी को एकमात्र नंदकुल का अवशेष मानकर चंद्रगुप्त के राज्य संचालन मे विघ्न उत्पन्न करें। ऐसी अवस्था मे लेखक इसी को बौद्धिक रूप देकर उसके द्वारा आधे राज्य के अधिकारी पर्वतेश्वर की हत्या करा देता है। इसके उपरांत चंद्रगुप्त के लिए अपना प्रेम अभिव्यक्त कर अपने पिता की हत्या के विरोध रूप में कल्याणी भी आत्महत्या कर लेती है। अब चंद्रगुप्त दक्षिण-विजय के लिए जाता है। राज्य के निष्कंटक हो जाने पर उसे अब भावी महत्त्वपूर्ण अभीष्ट-सिद्धि के लिए विशेष कीर्ति और शक्ति की आवश्यकता है।

सुवासिनी पर चाणक्य की भी कुछ अनुरक्ति है, इस कारण राक्षस पुन चाणक्य से खिंच जाता है। चंद्रगुप्त की दक्षिण-विजय पर उत्सव न किया जाय, चाणक्य के इस आदेश के विरोध में जो खड़े होते है उनके साथ राक्षस का भी सहयोग है। इस अंत.कलह के अतिरिक्त वाह्लीक की सीमा पर नवीन यवन सेना एकत्र हो रही है। सिल्यूकस सिकंदर के पूर्वी प्रांतों की ओर दत्तचित्त है। इसको सुयोग मानकर चाणक्य चंद्रगुप्त के यथार्थ साम्राज्य-स्थापन के विचार से प्रसन्न है। अब उसके संमुख एक ओर पाटलिपुत्र का षड्यंत्र और दूसरी ओर यवनों का भावी आक्रमण है। उत्सव-विरोध के कारण रूठकर अपने माता-पिता के चले जाने का प्रसंग उठाकर चंद्रगुप्त चाणक्य का विरोध करता है इस पर चाणक्य रूठकर चला जाता है। राक्षस के नेतृत्व मे जो चंद्रगुप्त की हत्या की योजना हुई और जिसके परिणामस्वरूप मालविका मारी जाती है उसकी सूचना देकर सिंहरण भी चाणक्य को खोजने चला जाता है। इस प्रकार कूट-चातुरी से चाणक्य आवश्यक व्यक्तियों को सीमाप्रांत की ओर खींच ले जाता है। सिंधुतट पर बैठकर कात्यायन को मगध

की ओर इस विचार से भेजता है कि चद्रगुप्त को समय पर वहाँ भेजे और शकटार के साथ मगध की देखरेख करे। स्वय आभीक को अपने पक्ष मे लाता है और अलका का आदर्श समुख रखकर उसे उत्साहित करता है। आभीक भी खड्ग लेकर शपथ कर लेता है कि मै भी चद्रगुप्त का साथी बनकर आक्रमणकारी से लडूँगा।

राक्षस अब ग्रीक शिविर से कार्नेलिया को पढाता और सिल्यूकस के साथ रहता है। अपनी झोपड़ी मे सहसा सुवासिनी को आया पाकर चाणक्य उसे राक्षस और कार्नेलिया के पास बदिनी रूप मे जाने के लिए प्रेरित करता है, जिसमे वह राक्षस को देशभक्त बना सके और राजकुमारी के हृदय मे बैठे चद्रगुप्त के प्रति प्रेम को उद्दीप्त कर सके। इधर संपूर्ण सैनिक सज्जा के साथ द्रुतगति से चद्रगुप्त चला आ रहा है। सिहरण के सेनापतित्व से विमुख होने के कारण इस समय सम्राट् ही सेनापति हैं। सिल्यूकस साइबर्टियस के द्वारा चद्रगुप्त को समझाने की चेष्टा करता है परंतु चद्रगुप्त अविचल है। युद्ध अनिवार्य हो जाता है। चाणक्य दूर रहकर भी संपूर्ण युद्ध की राजनीति का नियत्रण करता है। चद्रगुप्त को इसका ज्ञान नहीं है। वह आत्मविश्वास के बल पर युद्ध मे कूद पड़ता है। ठीक अवसर पर आंभीक, सिहरण और चाणक्य के आदेश मिलते है और उत्तरोत्तर भारतीय सेना का बढाव होता चलता है। अंत मे चद्रगुप्त ग्रीक शिविर मे कार्नेलिया से मिलता है और वही सिल्यूकस बदी करके लाया जाता है। चद्रगुप्त उसे मुक्त और स्वतत्र छोड़कर लौट आता है। दांड्यायन के आश्रम मे चाणक्य, चद्रगुप्त, राक्षस इत्यादि मिलते हैं और वहीं चाणक्य राजनीति से तटस्थता ग्रहण करता है, राक्षस और सुवासिनी के विवाह का निर्णय सुना देता है और राक्षस को अमात्य-पद के साथ शस्त्र दिलाता है। इस प्रकार सारा अत कलह शात हो जाता है। अब सब लोग राजसभा मे सिल्यूकस के स्वागतार्थ एकत्र होते हैं। सिल्यूकस और चद्रगुप्त की सधि के साथ मैत्री स्थापित होती है और चाणक्य आशीर्वाद के साथ चंद्रगुप्त तथा कार्नेलिया के विवाह का प्रस्ताव करता है। इस प्रस्ताव के स्वीकृत होने पर जीवन से विराम लेकर चाणक्य राजनीतिक क्षेत्र से पृथक् हो जाता है।

संविधान-सौष्ठव और काल-विस्तार

इस नाटक का कथानक अपने भीतर पचीस वर्षों के इतिहास को लिए है। सिकंदर के आक्रमण के कुछ वर्षों से लेकर सिल्यूकस की भारतीय संधि तक का काल इसमे आया है। इस पर नाट्यशास्त्र की दुहाई देते हुए अनेक विचारकों ने नाक भौंह सिकोड़ी है और यह भी कहा है कि आरंभ मे जिन पात्रों को युवा देखा उन्हें अंत मे वृद्ध नहीं देखते यह अवास्तविक-सा ज्ञात होता है। इस पर यहाँ केवल इतना ही कहना है कि नाटककार के रचना-कौशल की शक्ति से अतीत को भी प्रत्यक्षायमाण देखकर सामाजिक यदि इतना भी साधारणीकरण की परवशता मे नहीं आ सकता तब तो सारा रंगमंच और उस पर होनेवाले समस्त अभिनय व्यापार—भले ही नाटक संकलनत्रय के सिद्धांतों के अनुसार ही क्यों न लिखा गया हो—उसे एक बाल-क्रीड़ा ही मालूम पड़ेंगे, क्योंकि उसके लि' नकल और अभिनय हो रहा है इस बात को भूल जाना उतना ही दुष्कर है जितना इतिहास की घटनाओं की कालतालिका को। नाटक मे प्रदर्शित एक धारावाही घटनावली की योजना सुसंगत रूप मे जहाँ तक चली है उसे तीन-चार घंटों मे प्रत्यक्ष देख लेने पर ऐतिहासिक दूरी का ध्यान आ ही नहीं सकता। काव्य-रसानुभूति ऐसे ही अवसरों पर सहृदय और असहृदय का भेद कर देती है और रूक्ष लौकिक बुद्धि-ग्राह्यता को वह इस प्रकार तिरोहित कर देती है कि सामाजिक आनंद विस्मृत हो उठता है। यदि यह स्थिति नहीं उत्पन्न हो पाती तो चाहे नाटक हो अथवा काव्य हमें बिलकुल प्रसन्न नहीं कर सकता।

अभिनय व्यापार के विचार से इस नाटक का वृत्त-गुंफन विशेष चमत्कारयुक्त है। यदि केवल प्रथम तीन अंक ही चुन लिए जाएँ तो भी काम चल सकता है। रसास्वादन मे कोई व्याघात नहीं पड़ता। यदि नंद कुल उन्मूलन और चन्द्रगुप्त का राज्याभिषेक ही नाटक का लक्ष्य माना जाय तो कार्य की अवस्थाएँ और नाटक की पूर्णता के अन्य विधान भी यथास्थान नियोजित मिल जायँगे। द्वितीय अंक की समाप्ति—बेसुध सिकंदर पर दया कर उसे मुक्त कर देना—ही प्राप्त्याशा का और राक्षस की मुद्रा पर अधिकार तथा पर्वतेश्वर की सहायता का निश्चय ही नियताप्ति का स्थल बन सकता है। हाँ,

थोड़ा-सा परिवर्तन आवश्यक होगा। कल्याणी और चद्रगुप्त के प्रेम को विवाह मे परिणत करके दिखाना पडेगा। इस प्रकार तीन अकों का यह नाटक अपने मे सर्वथा पूर्ण और रंगमच के अनुकूल हो सकता है।

अंक और दृश्य

स्कदगुप्त मे पॉच और अन्य नाटकों मे तीन अकों का प्रयोग दिखाई पड़ता है, परतु इस नाटक मे चार अक हैं। 'प्रसाद' से प्रश्न करने पर यह ज्ञात हुआ कि वस्तुत उनकी इच्छा पॉच अकों की थी। कारणविशेष से वैसा नहीं हो सका। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण चतुर्थ अक का अवैध विस्तार है। प्रथम और द्वितीय अकों मे ग्यारह-ग्यारह, तृतीय म नो और चतुर्थ मे सोलह दृश्य हैं। यह क्रम, सिद्धांत एव व्यावहारिकता के विचार से अनुचित है। उत्तरोत्तर अकों के दृश्यो की सख्या मे कमी होनी चाहिए न कि वृद्धि। फिर इस नाटक मे ऐसा क्यों? इसका उत्तर केवल यही है कि पॉच अंकों के विचार से नाटक लिखा गया था, पर इसका रूप स्थिर नही हो पाया था और रचना छप गई। इसका दूसरा प्रमाण भी है। द्वितीय सस्करण के चतुर्थ अक मे लेखक ने स्वय परिवर्तन किया है। कुछ दृश्य जो केवल सूच्य थे और पूर्ण नही मालूम पड़ते थे वे आपस मे मिला दिए गए है। इस प्रकार दृश्य-सख्या कुछ घट गई है और वह दोप कुछ कम हो गया है। द्वितीय सस्करण मे ग्यारहवॉ और बारहवाँ दृश्य मिलाया गया है। फिर भी इस अंक का विस्तार मात्रा से अधिक ज्ञात होता है। ऐसा हो सकता था कि चाणक्य के क्रुद्ध होकर चले जाने और सिहरण के उसका अनुसरण करने पर चद्रगुप्त को एकाकी दिखाकर चतुर्थ अक की समाप्ति होती। सर्वथा स्वावलब पर खडे सयत, धीर और उद्योगशील चद्रगुप्त के व्यक्तित्व का पूर्ण रूप भी दिखाई पडता और विमर्श-सधि की भी पूर्ण स्थापना हो जाती। साथ ही पूरा पॉचवॉ अंक सिल्यूकस अभियान और तत्सबधी व्यापार से ही पूर्ण हो जाता।

'प्रसाद' ने सूच्य दृश्यों का प्रयोग प्राचीन सकेतों के साथ भले ही न किया हो, पर दृश्यों के रूप को देखकर यह अवश्य मालूम पड़ता है कि कौन व्यापार दृश्य है और कौन केवल सूच्य। सपूर्ण

नाटक में कई दृश्य ऐसे मिलते है जो बिलकुल हटा दिए जा सकते है अथवा दूसरे मे मिला दिए जा सकते हैं। कही-कही उनके विषय की सूचना मात्र से काम निकल सकता है, जैसे प्रथम अंक का तृतीय दृश्य, द्वितीय अक का पॉचवॉ, छठॉ, सातवॉ और आठवाँ दृश्य और तृतीय अक का प्रथम दृश्य इत्यादि। चतुर्थ अक की तो बात ही निर्विवाद है। वहॉ तो स्वय लेखक ने ही इसकी आवश्यकता समझी है यह स्पष्ट है कि यदि विधिपूर्वक विचार करके दृश्यों की भिन्न प्रकार से योजना की जाय तो उनका संकोच किया जा सकता है। ऐसा न होने से वस्तु-सविधान मे कुछ शैथिल्य और कुछ दुर्भरता प्रतीत होती है।

अकों के विभाजन और विषय-विस्तार मे 'प्रसाद' की विशेष पटुता दिखाई पडती है। कहाँ से, किस स्थिति से अक का आरंभ करने से अभीप्सित ध्वनि और प्रभाव उत्पन्न होंगे इसका विशेष विचार उनमे दिखाई पडता है। घटना के आरोहावरोह और व्यापारों की तक सगत शृखला के निर्माण मे 'प्रसाद' कही चूकते नहीं, इसमे उनकी प्रबध-सिद्धि प्रकट होती है। अकों के आरभ मे प्रधान विषय का प्रकृत निवेदन एक क्रम से मिल जाता है, जो उत्तरोत्तर विकसित होकर, सपूर्ण प्रभाव को अपने साथ सकलित करता चलता है। अक का अंतिम अश आंकिक प्रभावान्वित से आपूर्ण बना रहता है। यही कारण है कि सब अकों का समाप्ति-स्थल विशेष रूप से चमत्कारपूर्ण और प्रभावुक हो गया है। प्रथम अंक की समाप्ति दाण्ड्यायन के आश्रम पर आधिदैविक योग के कारण आकर्षण बन गई है और चंद्रगुप्त के महत्त्व की स्थापना मे विशेष सहायक है। द्वितीय अक के अत मे उत्कर्ष और श्री का बड़ा सुदर प्रसार दिखाया गया है। उस स्थल पर चद्रगुप्त भारतीय सौजन्य और उदारता के प्रतीक-रूप से अजेय दिखाई पड़ता है। तृतीय अंक की समाप्ति नंद के पूर्ण पराभव और चद्रगुप्त के राज्याभिषेक के कारण यों ही प्रभावपूर्ण बन गई है।

आरंभ और फल-प्राप्ति

आरभ का दृश्य बड़ा ही भव्य है। प्रथम दृश्य में ऐसी विशेषताओं का रहना आवश्यक है जिनकी ओर सामाजिक सहसा आकृष्ट हो जाय। यहॉ इस प्रकार की दो विशेषताएँ दिखाई पड़ती हैं; स्थान

विशेष—तक्षशिला—की प्राकृतिक मनोरमता और प्राचीन संस्कृति से सयुक्त महत्त्व का स्थल। वहाँ के गुरुकुल का भव्य वातावरण उसमें चाणक्य ऐसे जगत्प्रसिद्ध आचार्य और सिंहरण एव चद्रगुप्त ऐसे वीर राजकुमार छात्रों का एकत्र योग! राजकुमार आंभीक और दिव्य बाला अलका भी वहीं उपस्थित हैं। उस प्रधान विद्याकेंद्र मे जगत्प्रसिद्ध व्यक्तियों की उपस्थिति से नाटक का आरभ होता है। राजनीतिक गांभीर्य से पूर्ण वाकोवाक्य के उपरात आभीक तथा सिंहरण का ओजस्वी सवाद, साथ ही साथ तलवार की लपक-झपक से सक्रियता का प्रारभ उसी समय भारत के भावी सम्राट् चद्रगुप्त मौर्य का साहस आवेशपूर्ण प्रवेश और युद्ध, उस दृश्य को अत्यत आकर्षक बना देता है। इसी दृश्य मे प्रमुख पात्रों के कुलशील का परिचय और उनके जीवन का भावी कार्य-क्रम मिल जाता है। फल का आभास भी हो जाता है और उसके सभव विरोध का रूप भी खड़ा दिखाई पड़ता है। इसी दृश्य मे नाटकीय प्रमुख भावों—मैत्री, प्रेम, विरोध—के स्वरूप देखने को मिल जाते हैं।

नाटक के साध्य पक्ष—फल—का व्यापक कथन प्रथम अक के प्रथम एव पचम दृश्यों मे हुआ है। विचार करने पर प्रत्यक्ष दो फल दिखाई पड़ते हैं—नदकुल-उन्मूलन और मौर्य-साम्राज्य की दृढ स्थापना। प्रथम फल एकदेशीय होने के कारण द्वितीय का सहायक है। दोनों मे साध्य-साधन-सबध है। द्वितीय फल अधिक व्यापक है। उसका सबध राष्ट्र अथवा सपूर्ण भारतवर्ष से है। अतएव वह अधिक महत्त्वपूर्ण एव प्रयत्न साध्य है, मौर्य-साम्राज्य के निर्विघ्न स्थापन के भीतर ही यवन-आक्रमणों को परास्त कर भारतीय राज-नीति पर चद्रगुप्त का एकाधिपत्य स्थापित करना है। अत सपूर्ण अत कलह के कारणों का ध्वस एव सीमाप्रातों के पूर्ण नियत्रण का कार्य जब तक पूरा नहीं होता तब तक नाटक के फल की प्राप्ति नहीं समझनी चाहिए। इसीलिए केवल चद्रगुप्त के राज्याभिषेक पर नाटक समाप्त नही हो पाया। सिल्यूकस के पराभव के साथ-साथ पर्वतेश्वर और कल्याणी की मृत्यु भी आवश्यक थी। सिल्यूकस के साथ जो सधि हुई वही पूर्ण फल-प्राप्ति का योग है। चंद्रगुप्त कार्नेलिया का विवाह संधि की भावी स्थिरता और दृढता का द्योतक है। 'हस्ताक्षर तलवारों को रोकने में असमर्थ प्रमाणित होंगे × × × अतएव, दो

बालुकापूर्ण करारों के बीच मे एक निर्मल स्रोतस्विनी का रह
आवश्यक है।' इसीलिए यह व्यवस्था हुई। अधिकारी के फल-
करते ही उसकी प्रेरक शक्ति तटस्था ग्रहण कर लेती है।
उसकी कोई आवश्यकता नही रह जाती। 'चाणक्य—(मौर्य
हाथ पकडकर) चलो, अब हम लोग चलें।'

कार्य की अवस्थाएँ

प्राप्त करने के लिए फल का निर्देश प्रथम अक के प्रथम
पंचम दृश्यो मे हो जाता है। कार्य की प्रथम अवस्था प्रारभ
नाटक मे उतनी दूर का सारा अश आरंभ के अतर्गत समझ
चाहिए जितने मे प्रमुख व्यक्तियों और उनके जीवन के लक्ष्य
परिचय दिया जाता है। कार्य की इस अवस्था का प्रसार वहाँ
चलता दिखाई पड़ता है जहाँ तक चद्रगुप्त और चाणक्य को क्रु
और अपमानित करने का इतिवृत्त है। नद-सभा से चद्रगुप्त
आँखों के सामने ही चाणक्य का तिरस्कार और अपमान होता
पर्वतेश्वर वृषल कहकर चंद्रगुप्त की भी निंदा ही करता है। वहाँ
चाणक्य को सीमा के बाहर जाने की आज्ञा मिलती है। यहाँ
उस वस्तु-वृत्त का विस्तार आया है जिससे प्रेरित होकर चद्र
और चाणक्य अब आगे प्रयत्नशील होते है।

यहाँ से अब गुरु और शिष्य उस प्रभुत्व-फल के लिए प्रयत्न
अग्रसर होते हैं जिसकी सिद्धि इन दुख द स्थितियों मे परिवर्तन उत
कर देगी। प्रयत्न की कठोरता आरभ मे ही दिखाई पड़ती है। का
मार्ग मे चलते-चलते चद्रगुप्त की नसो ने अपने बंधन ढीले कर दि
शरीर अवसन्न हो जाता है और उसे प्यास लगने से बेसुधी आ ज
है। सिल्यूकस और कार्नेलिया की मैत्री के आधार पर चद्रगुप्त ग्री
के युद्ध संबधी विधान का ज्ञान प्राप्त करके अपनी निर्भीकता से सिक
तक को आतकित कर देता है, नट-रूप धारण कर भेद की ब
जानने की चेष्टा करता है तथा पर्वतेश्वर और सिकंदर के युद्ध में
अवसर पर पहुँचकर अपनी उपस्थिति एव सहायता से सब को प्र
वित करता है। चाणक्य की कूटनीति से परिचालित होकर वह ग
तत्रों का सेनापति बनता और सिकंदर को नीचा दिखाता है।
प्रकार यहाँ के गणतंत्रों और शासकों पर अपनी वीरता और योग्

की छाप लगा देता है और अवसर विशेष के लिए अनेक प्रशंसक और सहयोगी प्राप्त कर लेता है। चाणक्य भी राक्षस की मुद्रा प्राप्त करता है और पर्वतेश्वर ऐसे वीर योद्धा को अनुकूल बनाकर अपनी सिद्धि मे नियोजित कर लेता है। मगध मे लौटकर ये दोनो व्यक्ति क्रांति के सब साधन एकत्र कर सारी प्रजा के द्वारा विद्रोह करा देते हैं। वीर, योग्य और सुलभ चद्रगुप्त को प्रजा अपना शासक बना लेती है। यहाँ आकर भारत से यवन-निष्कासन-रूप फल-प्राप्ति की आशा हो चलती है। राज-शक्ति प्राप्त होने से सभव है चद्रगुप्त निर्विघ्न साम्राज्य स्थापित कर सके, यवनों के सभावित पुनराक्रमण का सफलतापूर्वक अवरोध कर सके और इसी शक्ति के बल पर वह अपने साम्राज्य का विस्तार भी कर सके। इस अवस्था मे चद्रगुप्त को अपने सपूर्ण प्रयत्नों के परिणामरूप मे फल की प्राप्त्याशा होती है।

आशा हो जाने पर भी अभी चार बाधाएँ ऐसी हैं जिनके कारण फल-प्राप्ति निश्चित नहीं कही जा सकती। वे हैं—मगध के आधे राज्य का अधिकारी पर्वतेश्वर, नदकुल का शेषचिह्न कल्याणी, राक्षस, मौर्य इत्यादि का गृह-कलह और आंभीक तथा उसका सैन्य-बल। आंभीक मे अभी तक अनुकूल परिवर्तन नहीं दिखलाई पडता है। जब कल्याणी पर्वतेश्वर को मारकर स्वय आत्महत्या कर लेती है, राक्षस इत्यादि के कुचक्र, चाणक्य की दूरदर्शिता और प्रबंधकौशल से कुचल दिए जाते हैं और चाणक्य अपने व्यक्तित्व-प्रभाव से तथा अलका का आदर्श समुख रखकर आभीक को अपने अनुकूल बना लेता है; तब इन सभव बाधाओं का निराकरण होने पर फल-प्राप्ति निश्चित होती है। जिस स्थल पर आभीक मगध-सेना का सैनिक बनना चाहता है और कर्तव्य से च्युत न होने की शपथ लेता है वही नियताप्ति की सिद्धि माननी चाहिए। इसके उपरात फल तक की पहुँच सीधी और क्रमसाध्य हो जाती है।

अर्थप्रकृतियाँ

'सिहरण—आर्यावर्त का भविष्य लिखने के लिए कुचक्र और प्रतारणा की लेखनी और मसी प्रस्तुत हो रही है। उत्तरापथ के खडराज्य द्वेष से जर्जर हैं। शीघ्र भयानक विस्फोट होगा।'

×　　×　　×　　×

चाणक्य—'क्या तुम नहीं देखते हो कि आगामी दिवसों मे आर्यावर्त के साथ स्वतत्र राष्ट्र एक के अनतर दूसरे विदेशी विजेता से पददलित होंगे × × × और आयावर्त का सर्वनाश होगा'। इसके उत्तर मे चद्रगुप्त का कथन है—

चंद्रगुप्त—'गुरुदेव, विश्वास रखिए, यह सब कुछ नहीं होने पावेगा। यह चद्रगुप्त आपके चरणों की शपथपूर्वक प्रतिज्ञा करता है कि यवन यहाँ कुछ न कर सकेंगे'। इसमे भावी व्यापारो का बीज निहित दिखाई देता है। यहीं से बीज क्रम-वृद्धि पाने लगता है और नद की राजसभा मे चाणक्य के अपमानित होने तक चलता है। वहाँ जाकर वह बीज इस प्रकार अकुरित होता है कि नद-कुल का उन्मूलन कर डालता है। चाणक्य कहता है—'समय आ गया है कि शूद्र राज्यसिहासन से हटाए जायँ और सच्चे क्षत्रिय मूर्धाभिषिक्त हों × × × × यह शिखा नद-कुल की कालसर्पिणी है, यह तब तक बधन मे न होगी जब तक नद-कुल नि शेष न होगा'।

फिर तो ऐसी घटनाएँ चलती है और ऐसे व्यापार होते है जिनके कारण बीज उत्तरोत्तर अभिवर्धित होता रहता है। सिहरण और यवन का विरोध, चाणक्य का कारावास, दांड्यायन की भविष्य-वाणी, चद्रगुप्त की कार्नेलिया और सिल्यूकस से मैत्री तथा सिकदर से संघर्ष इत्यादि बीज के प्रस्फुटित होने मे सहायक होते है और साध्य को निरतर क्रियाधीन बनाकर आगे बढाते चलते हैं। अतएव समस्त द्वितीय और तृतीय अंक तक बिदु अर्थप्रकृति का ही प्रसार चलता है। इसी अर्थप्रकृति का विस्तार नाटक के अधिक अश मे दिखाई पडता है। इसकी समाप्ति का कोई स्थल विशेष निश्चयपूर्वक निर्दिष्ट नहीं किया जा सकता।

नाटक मे दो प्रासगिक इतिवृत्त ऐसे हैं जो पताका अर्थप्रकृति के रूप में दिखाई पड़ते हैं, वे है—सिहरण और पर्वतेश्वर के कथांश। सिंहरण और अलका का प्रसंग आरंभ से चलकर विमर्श सधि के भी आगे निर्वहण सधि तक निरतर चला आता है। इसके नायक का अपना कोई भिन्न उद्देश्य नहीं है। सिंहरण चद्रगुप्त के ही साथ लक्ष्यप्राप्ति में निरत है उसके पक्ष मे शास्त्रीय विधान केवल इसलिए पूर्णत घटित नहीं होता कि उसके प्रसंग की समाप्ति गर्भ अथवा विमर्श सधि मे नहीं होती। पर्वतेश्वर का प्रसंग अवश्य ऐसा है जो

बीच से उठकर गर्भ और विमर्श संधियों के बीच में ही समाप्त हो जाता है। पर्वतेश्वर का भी अपना कोई ऐसा लक्ष्य नहीं है जो चद्रगुप्त के लक्ष्य से पृथक् कहा जाय। ऐसी अवस्था मे मेरे विचार से उसी को पताका-नायक मानना चाहिए। वह इतिहास-प्रसिद्ध व्यक्ति है और चंद्रगुप्त के उत्थान मे उसका योग ऐतिहासिक और नाटकीय विचार से निर्विवाद है। यों तो सिंहरण का प्रसग भी पताका योग्य है, यदि शास्त्र अनुकूल हो।

चद्रगुप्त के इतने बड़े इतिवृत्त के भीतर अनेक छोटी-छोटी अन्य कथाएं और प्रसग आए है। फिलिप्स और कार्नेलिया, चद्रगुप्त और मालविका, कल्याणी और पर्वतेश्वर, सिकदर और उसका युद्ध इत्यादि सब प्रसग प्रकरी अर्थप्रकृति रूप मे बिखरे दिखाई पड़ते हैं। प्रवाह के अनुसार ये प्रसग निकलते और अपना काम करके यथा-स्थान समाप्त हो जाते है। निर्वहण संधि मे पहुँचकर धीरे-धीरे विरोध के सब कारण समाप्त हो जाते है। आंभीक मगध सेना का साथ देता है। राक्षस अपना विरोध भूलकर साम्राज्य और सम्राट् की सेवा मे अपने को समर्पित करता है। अत मे कार्य अर्थप्रकृति भी सिद्ध दिखाई पड़ती है। सिल्यूकस पराजित होता है और दोनों साम्राज्यों मे संधि हो जाती है। सारा सीमाप्रांत चद्रगुप्त के अधिकार मे आ जाता है और भविष्य मे कोई उपद्रव उठने की आशंका भी नहीं रह जाती। इस तरह कार्य भी सपन्न होता है।

संधियाँ

इस नाटक मे प्रारभ अवस्था सिंहरण एव चाणक्य के सवाद से प्रकट है। प्रथम दृश्य मे उन्होंने यवनो द्वारा भारतवर्ष की विजय की आशका का उल्लेख किया है, बीज अर्थप्रकृति चद्रगुप्त के उद्धार-सकल्प से आरब्ध है और मुख सधि उसी दृश्य से आरभ होकर प्रथम अक के आठवे दृश्य तक जाती है। चाणक्य के पर्वतेश्वर के पास सहा-यता-याचना के लिए आने से पूर्व तक यही संधि चलती है। फिर यहीं से प्रतिमुख सधि का उदय हो जाता है, क्योंकि फिर तो नाटकीय प्रधान फल का साधक इतिवृत्त कहीं प्रकट, कहीं लुप्त होकर कभी अनु-कूल और कभी प्रतिकूल होता दिखाई पड़ने लगता है। पर्वतेश्वर की सभा से चाणक्य बहिष्कृत होता है। यह स्थिति प्रतिकूल है और चद्र-

गुप्त के विषय मे दाङ्यायन की भविष्य-वाणी अनुकूल। इसी तरह सिकदर और पर्वतेश्वर के युद्ध मे पर्वतेश्वर की पराजय प्रतिकूल और मालव के युद्ध मे चद्रगुप्त की उत्कर्ष-सिद्धि अनुकूल है। इस प्रकार की बाते कभी पक्ष मे तथा कभी विपक्ष मे वहाँ तक चलती हैं जहाँ सिकंदर भारतवर्ष से लौट जाता है। उसके बाद गर्भ सधि का प्रसार होता है और ऐसी स्थितियाँ उत्पन्न होती हैं कि कही यह मालूम पडता है कि अब काम बना और कहीं ऐसा भय होने लगता है कि कुल किया कराया नष्ट हुआ। इसी द्विधा का रूप नंद की मृत्यु और चद्रगुप्त की राज्य-प्राप्ति तक चलता रहता है। प्राप्त्याशा अवस्था के साथ इस गर्भ सधि का योग ठीक बैठ जाता है। अब घटनाएँ इस क्रम से चलती है कि एक दिन ऐसा भी आ जाता है और स्थिति इस प्रकार की हो जाती है कि चद्रगुप्त के माता-पिता चाणक्य की नीति से असतुष्ट होकर राज्य छोड़ देते है। चद्रगुप्त के उत्तर-प्रत्युत्तर से चाणक्य भी कुपित होकर चला जाता है और पीछे चद्रगुप्त का परम मित्र सिहरण भी गुरु की खोज मे निकल पड़ता है। चद्रगुप्त एकाकी रह जाता है और कहता है—'पिता गए, माता गई, गुरुदेव गए, कधे से कधा भिडाकर प्राण देनेवाला चिरसहचर सिहरण गया। तो भी चद्रगुप्त को रहना पड़ेगा।' इस प्रकार क्रोध-असंतोष के कारण यह विपत्ति उत्पन्न हो गई है। विमर्श संधि का यह उत्तम उदाहरण है। इसके उपरांतससैन्य आभीक के मागधों से मिल जाने पर और राक्षस ऐसे प्रतिद्वद्वी की मित्रता प्राप्त होने पर, अन्य सब विघ्न शात हो जाते हैं। इसके उपरांत सिल्यूकस के पराभव के साथ संधि का प्रस्ताव संमुख आता है। निर्वहण सधि का रूप इस तरह सिद्ध हो जाता है।

नायक का विचार

आवश्यकता न रहने पर भी प्राय यह प्रश्न उठता है कि इस नाटक का नायक कौन है—चद्रगुप्त अथवा चाणक्य। इसके दो प्रधान कारण हैं। चाणक्य भी चद्रगुप्त ही के समान इतिहास-प्रसिद्ध व्यक्ति है और नाटक मे उसका कृतित्व चद्रगुप्त से रंचमात्र कम नही है। आद्यत सभी घटनाओं और स्थितियों मे उसका योग है। लक्ष्य स्थिर करने में, उस लक्ष्य की सिद्धि के उपायों की उद्भावना तथा संपूर्ण घटना व्यापारों में उसका प्रभाव वर्तमान है। चारित्र्य के विचार से भी उसमें

कोई कमी नहीं दिखाई पडती। जितनी व्यापकता के साथ चंद्रगुप्त के व्यक्तित्व, शील और चारित्र्य के उद्घाटन का प्रयत्न हुआ है, उससे किसी प्रकार कम प्रयत्न चाणक्य के लिए नही है। परतु नायक का विचार और निर्णय इस आधार पर नहीं होता। उसका आधार केवल एक है। नाटक मे वर्णित फल क्या है और उस फल का उपभोक्ता कौन है। मूल प्रेरक भाव चाणक्य का भले ही हो पर फल-प्राप्ति के लिए प्रत्यक्ष प्रयत्नशील चद्रगुप्त है और वही समाप्त फल का अधिकारी है। पर्दे के भीतर से निर्देश करने का काम चाणक्य ने अवश्य किया है परतु क्रिया-क्षेत्र मे चद्रगुप्त ही प्रमुख आता है। तीनो प्रमुख घटनाओं मे चद्रगुप्त की ही प्रत्यक्ष क्रियाशीलता से सिद्धि प्राप्त होती है। आरभ मे सिहरण और चाणक्य के बीच भावी यवन-आक्रमण से भारतवर्ष के नाश की बात आते ही चद्रगुप्त ने ही उद्धार-प्रयत्न की शपथ ली है। अत मे भी सारे कार्यों के पूर्णयता सफलता-पूर्वक सपादन करने के पश्चात् सिद्धि, लक्ष्य एव फल के उपभोग के लिए चद्रगुप्त ही रह जाता है। चाणक्य तो मौर्य के साथ तपस्या मे निरत होने के लिए कर्मक्षेत्र के रगमच को छोडकर चला जाता है। अतएव फल का उपभोक्ता वह हो ही नही सकता। जो नाटकीय फल का उपभोक्ता नही माना जा सकता, वह उस नाटक का नायक भी नहीं हो सकता। शास्त्रीय सिद्धातो के आधार पर और व्यावहारिक रूप मे भी नाटक का नायक चद्रगुप्त ही हो सकता है, न कि चाणक्य। इस विचार से नाटक का नामकरण भी सर्वथा युक्तिसगत है।

चंद्रगुप्त

काव्यों मे वर्णित नायक के सब गुण चंद्रगुप्त में दिखाई पडते है। वह त्यागी, कृतज्ञ, पंडित, कुलीन, लक्ष्मीवान्, लोगों के अनुराग का पात्र, रूप-यौवन और उत्साह से युक्त, तेजस्वी, चतुर एव सुशील पुरुष है। तक्षशिला के गुरुकुल मे पॉच वर्ष अध्ययन करने के पश्चात् स्नातक होकर लौटा है। गुरुकुल मे ही उसकी निर्भीकता, उचित के लिए अड़ने की प्रवृत्ति, मैत्री मे उदारता, विनयशीलता, आत्मविश्वास-पूर्ण दृढ़ संकल्प के भाव स्पष्ट लक्षित होते है। शुद्ध क्षत्रियवृत्ति लेकर वह कर्म-क्षेत्र मे अवतीर्ण होता है। द्वद्व के लिए सदैव प्रस्तुत है—यदि कोई आघादन करे। प्रथम दृश्य मे आंभीक से भिड़ जाता

है और फिलिप्स् को तो समाप्त ही कर डालता है। वह आत्मसंमान के लिए मर मिटना ही दिव्य जीवन मानता है। अपने इष्ट-साधन में सिकदर ऐसे यशस्वी वीर की भी सहायता नहीं स्वीकार करता, क्योंकि विपक्ष की दया के बल पर अपना व्यक्तित्व नहीं खड़ा करना चाहता। सिल्यूकस के शब्दों में वह 'एक वीर युवक है' और कार्नेलिया भी उसकी विनयशील वीरता पर मुग्ध हो जाती है। उसकी वीरता की धाक कल्याणी पर भी जम चुकी है। चंद्रगुप्त ने ही चीते को मार कर उसकी रक्षा की थी। समय पर पहुँचकर कामुक फिलिप्स् से कार्नेलिया के भी सम्मान की रक्षा उसी ने की है। इसी वीरता के बल पर उन सब पीड़ित, आघात-जर्जर, पददलित लोगों का रक्षक बनता है जो मगध की प्रजा हैं। वीरता के साथ उसमें दृढ संकल्प और पूर्ण स्वावलंबन भी है। वह माता-पिता, चाणक्य ऐसे मंत्रदाता और कंधे से कंधा भिड़ाकर प्राण देनेवाले मित्र के चले जाने पर भी अपने दायित्व-भार से विमुख होने की बात तो दूर, रंचमात्र भी विचलित नहीं होता। उसी समय तो उसका क्षात्रतेज पूर्णतया प्रज्वलित होता है। संमुख कठोर युद्ध की विभीषिका देखकर उसमें द्विगुणित उमंग और तत्परता उत्पन्न हो जाती है। उस समय वह मरण से अधिक भयानक को आलिंगन करने के लिए प्रस्तुत हो जाता है। सिंहरण के पत्र को पढ़कर वह तिलमिला उठता है। उसकी अखंड वीरता को जैसे किसी ने चुनौती दी हो। उत्तर में नायक से कहता है—'सिंहरण इस प्रतीक्षा में हैं कि कोई बलाधिकृत जाय तो वे अपना अधिकार सौंप दें। नायक! तुम खड्ग पकड़ सकते हो और उसे हाथ में लिए हुए सत्य से विचलित तो नहीं हो सकते? बोलो! चंद्रगुप्त के नाम से प्राण दे सकते हो। मैंने प्राण देनेवाले वीरों को देखा है। चंद्रगुप्त भी प्राण देना जानता है, युद्ध करना जानता है और विश्वास रक्खो, उसके नाम का जयघोष विजयलक्ष्मी का मंगल-गान है। आज से तुम पंचनद के प्रदेष्टा नियुक्त हुए। शासन-प्रबंध स्थिर रहे। मैं बलाधिकृत हूँगा, मैं आज सम्राट् नहीं सैनिक हूँ। चिन्ता क्या! सिंहरण और गुरुदेव न साथ दें, डर क्या। सैनिकों! सुन लो! आज से मैं केवल सेनापति हूँ, सम्राट् नहीं। जाओ, यह लो मुद्रा और सिंहरण को छुट्टी दो और कह देना कि चंद्रगुप्त ने कहा है कि तुम दूर खड़े होकर देख लो सिंहरण! मैं कायर नहीं हूँ। जाओ'। इस

वाणी मे सच्ची वीरता, तेज, आत्मविश्वास और स्वावलंबन से भरा अगाध उत्साह उमड रहा है। इसी वृत्ति को लेकर वह दुर्भेद्य कारा-गृह मे एकाकी प्रवेश करके, विरोधियो की उपस्थिति मे, चाणक्य को छुडा चुका है, दर्प-भरे विश्वविजयी सिकदर को भी उसी की सभा मे खरी-खोटी सुनाकर निर्विघ्न निकल चुका है, सिकंदर का मान-खडन कर जीवनदान दिया है और अत मे सिल्यूकस पर विजय प्राप्त की है। वीरता के योगवाही विनय और कृतज्ञता भी उसमे सर्वत्र दिखाई पडी है। सिकदर, सिल्यूकस और चाणक्य के साथ जो व्यवहार उसने किए हे उसमे ये गुण स्पष्ट दिखाई पड़ते है।

वह युद्धव्यसनी कोरा वीर और योद्धा नहीं है। उसकी सहृदयता, प्रेम और रसिकता भी यथास्थान दिखाई पड़ती है। उसका कल्याणी, मालविका और कार्नेलिया के प्रति प्रेम भी अवसर के अनुसार झलकता चलता है। विशाल मरुस्थल के बीच-बीच मे क्षीण निर्मल जल-रेखा की भाँति, उसे सक्रियता-पूर्ण कठोर जीवन मे, 'निर्दोष मणि' 'सरल बालिका' और 'स्वर्गीय कुसुम' के भी दर्शन होते रहते हैं। 'रणभेरी के पहले मधुर मुरली की एक तान' सुनने का वह अभिलाषी बना रहता है। उस स्वर्गीय मधुरिमा को वह पहचानता है, परतु यह सब होते हुए भी देश की दुर्दशा से जब उसका हृदय व्याकुल रहता है तब उस ज्वाला मे ये सब स्मृति-लताएँ मुरझा जाती है। उसके जीवन का एकमात्र लक्ष्य स्वदेश-सम्मान की रक्षा ही है। इसका सारा दायित्व वह अपने ऊपर मानता है। इस प्रकार यदि चद्रगुप्त के सपूर्ण कार्य-व्यापारों, विचार प्रवृत्तियों इत्यादि का भली भाँति विश्लेषण किया जाय तो वह गंभीर स्वभाववाला, महासत्त्व अर्थात् हर्ष-शोक में समभाववाला, स्थिर प्रकृति का, विनय से प्रच्छन्न गर्व रखनेवाला, आत्मप्रशसा के भाव से हीन, दृढव्रत दिखाई पडता है, अतएव वह धीरोदात्त नायक के गुणो से युक्त है।

चाणक्य

प्राचीन ब्राह्मणो की उत्कृष्ट बुद्धि और उग्रता की अनेक कथाएँ और प्रमाण प्राचीन ग्रथों मे प्राप्त है। ऐसे व्यक्तियों की एक छाप हमारी सस्कृति पर दिखाई पडती है। चाणक्य शुद्ध ब्राह्मण शक्ति का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है। अपनी जातिगत मर्यादा का प्रबल समर्थक है। ब्राह्मणो

के सर्वस्वतन्त्र और आध्यात्मिक विभूतिमय जीवन का बारंबार स्मरण करके वह गर्वित हो उठता है। यदि कोई रचमात्र भी अपनी कृतज्ञता से उसे दबाना चाहता है तो उसके विरुद्ध चाणाक्य के जो वचन निकलते है उनमे दर्प भरा उत्साह दिखाई पडता है—'ब्राह्मण न किसी के राज्य मे रहता है और न किसी के अन्न से पलता है, स्वराज्य मे विचरता है और अमृत होकर जीता है ब्राह्मण सब कुछ सामर्थ्य रखने पर भी, स्वेच्छा से इन माया-स्तूपो (राज्यों) को ठुकरा देता है। प्रकृति के कल्याण के लिए अपने ज्ञान का दान देता है।'

नाटक मे चाणक्य के चरित्र का वृद्धि-क्रम बडी सुदरता से दिखाया गया है। घटनाओं और स्थितियों के कारण उसके चरित्र का विकारा होता गया है और उसका प्रखर तथा निर्मल रूप प्रकट होता गया है। उसके चरित्र की कुछ ऐसी विशेषताएँ हैं जिनके कारण कोई उसका रूप कभी भूल नहीं सकता। वह ब्राह्मणत्व के गर्व से आपूर्ण है, निर्भीक, स्पष्टवक्ता, दृढ, कठोर, कष्टसहिष्णु और भारी उद्योगशील है। दूरदर्शिता की पराकाष्ठा से उसके सारे प्रयत्न सफल होते हैं। इसके अतिरिक्त उसकी कूटनीति तथा बुद्धि उसके सब व्यापारों को चमत्कृत कर देती है। जैसे चद्रगुप्त क्षात्रतेज से प्रेरित होकर द्वंद्व-युद्ध के लिए सर्वत्र प्रस्तुत रहता है, उसी प्रकार चाणक्य बुद्धिवाद के लिए सदैव तत्पर है। उसकी कूट बुद्धि और दूरदर्शिता का अनेक अवसरों पर परिचय मिलता है। वह नदकुल के नाश के उपायों का सकलन करता है, पर्वतेश्वर को साधन बनाने मे भले ही प्रथम बार वह असफल रहा हो, पर अत मे उसे अपने पक्ष में कर ही लेता है। व्यक्ति और अवसर को समझने और उन्हे अपने अनुकूल बनाने की असीम पटुता उसम दिखाई पड़ती है। उसकी नीति है कि जब तक कोई कार्य व्यापार चलता रहे, तत्सबधी रहस्य और भेद की बात किसी को ज्ञात न हो। कष्ट और विपत्तियों से तो तनिक भी उद्विग्न और भयभीत नहीं होता। जितने अधिक से अधिक उग्र सघर्षों मे वह पडता है उसकी बुद्धि उतनी ही अधिक कार्यतत्पर हो उठती है, उसकी 'नीति-लता विपत्ति-तम मे लहलहाती है' और वह 'सिद्धि देखता है साधन नही।' उसे अपना स्वार्थ पूर्ण करना ही अभीष्ट रहता है, किन उपायों और उपादानों से पूर्ण करना होगा इसकी कुछ चिता नहीं करता। उसके शत्रु और विपक्षी भी उसकी बुद्धि का लोहा

मानते है। राक्षस के शब्दों मे वह 'विलक्षण बुद्धि का ब्राह्मण है, उसकी प्रखर प्रतिभा कूट राजनीति के साथ दिन-रात जैसे खिलवाड किया करती है।' सिल्यूकस भी उसे 'बुद्धि सागर मानता है।

उसके चरित्र का एक प्रिय और कोमल पक्ष भी है। वह द्वेष-विहीन, निर्लिप्त, उदार और सहृदय भी है। वह अवसर आने पर अपने बडे से बडे शत्रु एव विद्रोही को पूर्ण सात्त्विक बुद्धि से कल्याण-कामना का आशीर्वाद देने मे सदा उदार दिखाई पड़ता है। राक्षस, सिकदर, सिल्यूकस और आभीक इसके उदाहरण है। सुवासिनी के प्रसग मे उसकी कोमल सहृदयता सर्वत्र ध्वनित हुई है। साथ ही मगल की कामना से कर्तव्य को स्थिर कर जो सुवासिनी को राक्षस के लिए सुरक्षित छोड़ देता है उससे उसके चरित्र की निर्लिप्त उदारता प्रकट होती है। अपनी हत्या की चेष्टा करनेवाले मौर्य को भी उदारता-पूर्वक वह क्षमा कर देता है और मन मे भी उसके प्रति द्वेष नही रखता। इन सब बातों से उसके चरित्र की सात्त्विकता प्रकट होती है। वह केवल क्रूरकर्मा, रूक्ष, राजनीति-विशारद ही नही है, कोमल और सहृदय भी है। लेकिन साध्य-सिद्धि के मार्ग मे रोडे अटकाने-वालों से न तो दया की भीख मॉगता है और न स्वयं देने की कृपा दिखाता है। कारागृह मे कठोर यातना सहते हुए भी राक्षस की प्रतिकूल बातों को कदापि नही स्वीकार करता। वररुचि नद पर दया दिखाने की प्रार्थना करता है पर चाणक्य स्पष्ट अस्वीकार कर देता है, क्योंकि शक्ति होने पर ही क्षमा का विचार सभव है। चाणक्य की नीति मे अपराधों के दड से कोई मुक्त नहीं। असभव ऐसी कोई वस्तु वह मानता ही नही। उसकी दृष्टि मे प्रयत्न करने से असभव सभव बन सकता है, इसके लिए केवल पुरुषार्थ चाहिए।

आद्यत चाणक्य का चरित्र एक उग्र कर्मयोगी के रूप मे दिखाई पड़ता है। वह 'राज्य करना नहीं जानता, करना भी नही चाहता' हॉ! वह राजाओं का नियमन जानता है, राजा बनाना जानता है। उसके 'दुर्बल हाथों मे साम्राज्य उलटने की शक्ति है और कोमल हृदय मे कर्तव्य के लिए प्रलय की ऑधी चला देने की कठोरता है', परन्तु 'वह क्रूर है, केवल वर्तमान के लिए, भविष्य के सुख और शांति के लिए, परिणाम के लिए नही'। वह जानता है, श्रेय के लिए मनुष्य को सब कुछ त्याग करना चाहिए। वह समझता है, 'मेघ के समान

मुक्त वर्षा-सा जीवन-दान सूर्य के समान अबाध आलोक विकीर्ण करना, सागर के समान कामना-नदियों को पचाते हुए सीमा के बाहर न जाना ही ब्राह्मण का आदर्श है'। इसी को लक्ष्य की भाँति अपने सम्मुख रखकर वह अपने जीवन का नियन्त्रण करता है। सारी बुद्धि, सारा कौशल भारतीय राष्ट्र के कल्याण के लिए उसने लगाया है। जैसा करने का उपदेश अपने प्रिय शिष्यों को वह आरंभ में ही दे चुका है। इस प्रकार चाणक्य आत्मसम्मान, दृढ संकल्प और अद्भुत बुद्धि-वैभव का सर्वोत्तम प्रतिनिधि बनकर नाटक में अपने व्यक्तित्व से सबको प्रभावित करता दिखाई पड़ता है।

सिंहरण

मालवगण के राष्ट्रपति का पुत्र सिंहरण एक सच्चा वीर है। वीरों की भाँति ही स्पष्टवक्ता और निर्भीक व्यक्ति है। विनम्रता के साथ निर्भीक होना उसका वंशानुगत चरित्र है और तक्षशिला की शिक्षा का गर्व भी उसमें वर्तमान है। उत्तरापथ के जो खंडराज्य द्वेष से जर्जर हैं उनमें शीघ्र भयानक विस्फोट होगा इसका ज्ञान वह भली-भाँति कर चुका है। चाणक्य द्वारा प्रचारित राष्ट्र भावना को भी वह हृदयंगम कर चुका है। इसलिए उसका देश मालव ही नहीं, गांधार भी है। यही क्या वह समग्र आर्यावर्त को अपना देश समझता है। उसकी सारी शक्ति और बुद्धि एकनिष्ठ होकर इसी में लगी दिखाई पड़ती है कि यवनों के आक्रमण से उसकी राष्ट्र-भूमि का दलन न होने पाए। यही कारण है कि वह जन्म-भूमि के लिए अपना जीवन उत्सर्ग कर देता है। गुरुकुल से ही वह गांधार-राजकुमारी अलका से प्रेम करने लगता है। समय पाकर दोनों की मैत्री और प्रेम प्रगाढ़ होते जाते हैं। समान स्थिति और व्यवसाय के होने से दोनों निरंतर समीप आते जाते हैं और अंत में दोनों का विवाह हो जाता है। सिंहरण, चंद्रगुप्त का चिरसहचर और अभिन्न मित्र है। दोनों के जीवन का ध्येय एक होने से सिंहरण सदैव कंधे से कंधा भिड़ाकर चंद्रगुप्त को सहयोग देता चलता है। चन्द्रगुप्त के प्रत्येक व्यापार में एकरस उसके साथ रहता है। चाणक्य की नीति से प्रेरित होकर थोड़े काल के लिए दोनों मित्र पृथक् होते हैं, परंतु फिर ठीक अवसर पर दोनों मिल जाते हैं। चंद्रगुप्त ने स्वीकार किया है—'भाई सिंहरण, बड़े अवसर पर आए'। सिंहरण ने महाबलाधिकृत पद पुनः स्वीकार

करते हुए कहा—'हाँ सम्राट्! और समय चाहे मालव न मिले, पर प्राण देने का महोत्सव पर्व वे नहीं छोड सकते'। पर्वतेश्वर को उपकृत करके सिकदर ने जो उपकार भारत पर किया था उसके प्रत्युपकार मे उसने भी सिकदर के जीवन की रक्षा कर उस राष्ट्रीय ऋण को चुका देने की उदारता दिखाई है।

अन्य पुरुष-पात्र

नंद मद्यप, विलासी एवं उग्र स्वभाव का व्यक्ति है। व्यर्थ के संकुचित आत्मसमान के फेर मे पडा रहता है। उद्धत प्रकृति के कारण अपने चारो ओर विरोधजाल फैला लेता है। कुविचार से अन्याय का पोषण करता है और स्वराज्य के प्रिय-संमानित व्यक्तियों को कारागृह में यातना भोगने के लिए डालता रहता है। परिणाम यह होता है कि सब नागरिक असंतुष्ट हो उठते है और विरोधी मंडली प्रबल होकर उसका अंत कर डालती है। राक्षस के स्वरूप को 'प्रसाद' ने मात्रा से अधिक विकृत कर दिया है। राक्षस का प्रथम प्रवेश ही उसे कुरूप कर देता है। इसके उपरात फिर तो वह सुवासिनी के चक्कर में पडा हुआ चाणक्य की कूटनीति के बवडर मे उडा-उड़ा फिरता है। कहीं भी उसका व्यक्तित्व जमकर खडा नही होने पाता। वह भी चाणाक्ष राजनीतिज्ञ है, ऐसा देखने का अवसर ही नहीं मिलता। वस्तुत 'प्रसाद' का राक्षस, चाणक्य ऐसे विश्व प्रतिष्ठित राजनीतिज्ञ का प्रतिद्वद्वी बनने के योग्य ही नहीं दिखाई पड़ता। यदि राक्षस को भी बुद्धि-शक्ति से संपन्न दिखाया गया होता तो चाणक्य का माहात्म्य अधिक प्रस्फुटित होता। प्रस्तुत रूप मे तारतम्य-बोध का अवसर नही मिल पाता। भले ही कोई साधारण अनुचर उसे 'आर्य राक्षस' कहकर संबोधित करे अथवा बडा 'कलाकुशल विद्वान' समझे, परतु वह तो मद्यपों के बीच अपने एक गाने का मूल्य एक पात्र कादंब लगाता फिरता है। इसी आधार पर नद भी उसे कुसुमपुर के एक रत्न के रूप मे स्वीकार करके अपने अमात्यवर्ग मे स्थान देता है। फिर तो सुवासिनी उसके लिए अमृत हो उठती है और उसे पाने के लिए वह सौ बार मरने को प्रस्तुत है। आंभीक उद्धव तथा उच्छृंखल स्वभाव का युवक है। अपनी सच्ची आलोचना भी सुनने में असमर्थ है।

व्यक्तिगत मानापमान का संकुचित विद्वेष लेकर राष्ट्र के अपकार का बीड़ा उठा लेता है। फिर तो यदि बहन उसका विरोध करे तो अपने हाथ उसकी हत्या करने मे सनद्ध दिखाई पड़ता है। सिल्यूकस से मिलकर पर्वतेश्वर का विरोध करना उसका लक्ष्य हो जाता है। घटनाचक्र के परिवर्तन पर उसमें भी यथाप्राप्त परिवर्तन हो जाता है। चाणक्य के व्यक्तित्व का प्रभाव पड़ते ही वह देशभक्त बन जाता है। मगध-सेना के साथ सिल्यूकस से युद्ध भी करता है और सिल्यूकस को घायल करता हुआ स्वयं मारा जाता है।

राक्षस की भाँति पर्वतेश्वर का चरित्र भी कुछ गिरा दिखाई पड़ता है। आरंभ मे जो पर्वतेश्वर का दर्प-भरा क्षात्रतेज चमका था वह आगे चलकर कुछ मलिन कर दिया गया है। सिकंदर के साथ युद्ध मे वह भारतीय वीरता का अच्छा आदर्श उपस्थित करता है। रणभूमि मे वह पर्वत के समान अचल दिखाई पड़ता है। अपनी सेना के भागने पर भी वह वीर अकेले जिस उत्साह से युद्ध मे तत्पर रहता है वह अवश्य ही आश्चर्य का विषय है। घायल होकर गिरने पर सिकंदर जब उससे पूछता है—'भारतीय वीर पर्वतेश्वर ! अब मैं तुम्हारे साथ कैसा व्यवहार करूँ'। उस समय भी उस रुधिराप्लुत का उत्तर सर्वथा वीरोचित ही होता है। इतना तो उसके चरित्र का विमल अंश है। इसके उपरात तो उसकी विलास दुर्बलता का ही चित्रण हुआ है। पहले वह अलका के सामने ही गिरता है। एक ओर मालवों के विरुद्ध सहायता देने की सिकंदर की आज्ञा है और दूसरी ओर अलका के अप्रसन्न होने का भय। ऐसी स्थिति में उसका यह निर्णय—'मैं समझता हूँ एक हजार अश्वरोहियों को साथ लेकर वहाँ पहुँच जाऊँ, फिर कोई बहाना ढूँढ निकालूँगा'। यह बहाना ढूँढ़ निकालने की बात उसके व्यक्तित्व को एकदम नीचे गिरा देती है। उसका यह निश्चय केवल अलका के प्रीत्यर्थ है। पर इतना करने पर भी जब अलका निकल ही जाती है तब पश्चात्ताप करता हुआ वही वीर आत्महत्या मे उद्यत होता है। चाणक्य के समझाने पर नंद-विनाश के लिए प्रयत्नशील होकर वह उसका एक अनुचर बना दिखाई पड़ता है। मगध मे कल्याणी पर मुग्ध हो उससे छेड़-छाड़ करने लगता है और अंत में बल का प्रयोग करना चाहता है। इसी मे वह मारा जाता है। यों तो मुद्राराक्षस के लेखक ने भी विषकन्या के द्वारा उसकी मृत्यु दिखाकर उसकी कामु-

कता की व्यजना की है परतु इतना गिरने नहीं दिया है। सिकदर और सिल्यूकस विदेशी वीर-विजेता हैं। स्वभाव मे उत्साही, उदार और दृढ है। कृतज्ञता दूसरे के प्रति दिखाते है और स्वय अपने पक्ष मे उदारतापूर्वक स्वीकार भी करते हैं। वृद्ध गांधार-नरेश द्विधा मे पडा हुआ सरल स्वभाव का मनुष्य है। शकटार दुख में सूखकर हड्डी की भाँति कठोर हो गया है। नद को सब क्षमा करते है लेकिन वह मार ही डालता है। वररुचि केवल वार्तिककार विद्वान और चतुर अमात्य ही नहीं है सहृदय भी है। कार्नेलिया का अमगल न होने पावे इस विषय मे चिंतित दिखाई पड़ता है।

अलका

स्त्री-पात्रों मे अलका का चरित्र अधिक स्फुट हुआ है। तक्षशिला के गुरुकुल मे जो उसने चद्रगुप्त और सिंहरण की बाते सुनी उससे बहुत प्रभावित हुई है। इन लोगो की बाते उसकी अतर्वृत्ति के अनुकूल है। अतएव बद्धमूल हो जाती है। देशभक्ति की वही धुन उसमे भी रमा जाती है। अपने पिता और भाई को देशद्रोह मे हाथ बँटाते देखकर उसने अपना कर्तव्य उन लोगों से पृथक् रखा। निर्भीक होकर उस कर्तव्य का निवेदन भी करती है—यदि वह बदिनी नही बनाकर रखी जायगी तो सारे गाधार मे विद्रोह की अग्नि भडकाने मे दिन-रात एक कर देगी। उसमे देश-भक्ति का सच्चा रूप दिखाई पडता है। सिल्यू-कस से कहती है—'मेरा देश है, मेरे पहाड है, मेरी नदियाँ है और मेरे जगल है। इस भूमि के एक-एक परमाणु मेरे है और मेरे शरीर के एक एक क्षुद्र अश उन्ही परमाणुओं के बने है'। वह जिस प्रकार मूर्ख बनाकर सिल्यूकस से अपना पिड छुडाती है उसमे उसके व्यव-हार की कुशलता लक्षित होती है। देशानुराग से मिश्रित अपने स्वा-भिमान को वह दांड्यायन के सामने प्रकट करती है। गाधार छोड़-कर जाने का कारण बताती है—'ऋषे! यवनो के हाथ स्वाधीनता बेचकर उनके दान से जीने की शक्ति मुझमे नहीं है'। एक बार देशोद्धार का बीड़ा उठा लेने पर फिर कही भी पश्चात्पद नहीं बनती। देशप्रेम के पीछे नटी भी बनती है, युद्ध-भूमि मे अपने प्रिय सिंहरण की सहायता करने मे बदी भी बनाई जाती है। सिंहरण की वीरोचित

देशभक्ति पर वह मुग्ध है और इसीलिए उससे प्रेम करने लगती है। जीवन की प्रत्येक स्थिति में उसका साथ देती जाती है। पर्वतेश्वर के यहाँ बंदी बनकर, चाणक्य की नीति से परिचालित होकर, उसने जैसे कौशल से सिंहरण को छुड़ाया और एक क्षण के लिए प्रेम का स्वाँग रचकर उसके चंगुल से अपने को भी बचाया है उसमें उसकी व्यवहार-बुद्धि की तीव्रता स्पष्ट हो जाती है। जीवन की नाना स्थितियों में पड़ने के कारण वह चतुर हो गई है। उसकी कर्तव्य-तत्परता उस समय अच्छी तरह व्यक्त हुई है, जिस समय उसने संपूर्ण मालव-दुर्ग की रक्षा का भार अपने ऊपर लिया है। घायलों की सेवा की व्यवस्था करती है और दुर्ग-रक्षा में भी वीरों की भाँति पूर्णत संनद्ध है। दो यवनों को बाणों से मार गिराती है। रंचमात्र घबड़ाती या भयभीत नहीं दिखाई पड़ती। सेवा-भाव से भूषित वीरोचित देश-भक्ति ही उसके चरित्र की प्रधान विशेषता बनी रहती है।

सुवासिनी

सुंदरियों की रानी सुवासिनी सर्वप्रथम मगध-सम्राट् के विलास-कानन की रानी की तरह दिखाई पड़ती है। इसके उपरांत वह राजा की अभिनयशाला की रानी बनी। आरंभ से ही वह राक्षस की संगिनी है। इसी आधार पर नंद से वह अपने को राक्षस की धरोहर कहती है और सम्राट् की भोग्या बनना भी अस्वीकार कर देती है। व्यक्त रूप में कुछ समय तक भले ही वह गणिका का नाट्य करती रही हो परंतु इसका उसे गर्व है कि अभी तक उसने अपना स्त्रीत्व नहीं बेचा है। पिता के बंदीगृह में पड़ जाने से ही निरवलंब होकर उसे यह बाना लेना पड़ा है; अन्यथा उसका हृदय अभी भी कलुषित नहीं हुआ है। पिता की आज्ञा के बिना अब वह राक्षस से भी विवाह नहीं कर सकती। पिता के दुखी होने की चिंता उसे बनी रहती है। वह नहीं चाहती कि उसके किसी व्यापार से उसके बूढ़े बाप को सिर नीचा करना पड़े। उसके हृदय में चाणक्य के प्रति जो अनुराग बाल्य-काल से चला आ रहा है उसका भी संस्कार उसके मन पर वर्तमान है। राक्षस के कहने पर निवेदन करती है—'ठहरो अमात्य! मैं चाणक्य को इधर तो एक प्रकार से विस्मृत ही हो गई थी, तुम सोई हुई भ्रांति को न

जगाओ।' राक्षस और चाणक्य के प्रसग को लेकर वह एक समस्या मे पड़ जाती है परंतु इस समस्या का समाधान चाणक्य ही कर देता है। राक्षस से विवाह करने के पूर्व कार्नेलिया के यहाँ का दूतीत्व उसकी सफलता का परिचायक है। प्रेम की जैसी व्याख्या उसने कार्नेलिया के समुख की है उसमे उसका स्त्री-हृदय बड़ा सुदर दिखाई पड़ता है।

कल्याणी

कल्याणी के चरित्र मे आत्मसमान, स्वावलबन और दृढता का अच्छा स्फुरण दिखाई पडता है। पर्वतेश्वर ने उसके साथ विवाह करना जो अस्वीकार किया यह बात उसे लग गई। अपने और अपने कुल की समान-रक्षा का भाव उसमे उद्दीप्त हो उठता है और इसी कारण उसकी क्षात्र-चेतना को सक्रिय बनने का अवसर मिलता है। जितनी घटनाओं मे उसका योग है उसमे उसके व्यक्तित्व की छाप लगी दिखाई पडती है। पुरुष वेश मे मागध युवको की एक छोटी सी टुकडी लेकर वह युद्ध-क्षेत्र मे पहुँचती है। संकट-काल मे पड़े हुए पर्वतेश्वर की प्राण रक्षा करके अपनी शौर्यशक्ति की धाक बैठाना ही उसका लक्ष्य है। अत मे ठीक अवसर पर उत्साह और वीरता का परिचय देकर वह अपना लक्ष्य सिद्ध कर लेती है। बाल-मैत्री के आधार पर उसके हृदय में चद्रगुप्त के प्रति प्रेम-भाव उत्पन्न होता है, क्योंकि वह गुरुकुल से योग्य और वीर बनकर लौटा है। लौटते ही चीते से उसकी रक्षा करके वह अपने शील और वीरता का परिचय भी देता है। चंद्रगुप्त से बातचीत करते समय उसने कहा है—'मुझे भूले न होगे।' इस आशा से प्रेम ध्वनित हो रहा है। नद की सभा मे भी उसने चद्रगुप्त का समर्थन किया है। चद्रगुप्त की वीरता का उसे विश्वास है। जानती है कि युद्ध मे वह अवश्य समिलित होगा अतएव केवल उसे देखने के लिए युद्ध-भूमि तक पहुँचती है और वस्तुस्थिति के कारण मगध-सेना को उसी के अधीन कर देती है। परिस्थिति की प्रेरणा से प्रेम के इस मधुर प्रवाह का सहसा अवरोध हो जाता है। नंद की हत्या और राजनीतिक उलट-फेर के कारण कल्याणी का स्वप्न भंग हो जाता है। उसके जीवन के दो स्वप्न थे—'दुर्दिन के बाद आकाश के नक्षत्र-विलास सी चद्रगुप्त की छबि और पर्वतेश्वर से प्रतिशोध।' अपमान करनेवाले पर्वतेश्वर को तो उसने ठिकाने

लगा ही दिया है, अब संमुख आए चंद्रगुप्त से कहती है—'मौर्य ! कल्याणी ने वरण किया था केवल एक पुरुष को, वह था चंद्रगुप्त। परंतु तुम मेरे पिता के विरोधी हुए। अब मेरे लिए कुछ भी अवशिष्ट नहीं रहा।' इस प्रकार दृढ आत्मसम्मान की प्रतिमा और 'निर्दोष मणि' की भाँति निर्मल वह सरल बालिका अपना भी अवसान कर लेती है।

कार्नेलिया

ग्रीक राजकुमारी कार्नेलिया के चरित्र में कहीं उतार-चढाव है ही नहीं। सर्वत्र और सर्वदा वह एक-रस तथा एक-भाव दिखाई पड़ती है। आद्यंत उसमें दो बातें मिलती हैं—भारतीयतानुराग और प्रेम। इन्हीं से संबद्ध अन्य भाव—भावुकता, दृढता, शांति-प्रियता—भी समय-समय पर उसमें झलकते हैं। जब तक भारतवर्ष में है, भारत के नैसर्गिक सौंदर्यास्वादन में ही निरत दिखाई देती है। वह विदेशी रमणी भारत की एक-एक बात पर मुग्ध है। भारतीय आध्यात्मिकता उसके लिए जिज्ञासा का विषय है। उसने चंद्रगुप्त से कहा है—'मुझे इस देश से जन्मभूमि के समान स्नेह होता जा रहा है। यहाँ के श्यामल कुंज, घने जंगल, सरिताओं की माला पहने हुए शैलश्रेणी, हरी भरी वर्षा, गर्मी की चाँदनी, शीतकाल की धूप और भोले कृषक तथा सरल कृषक-बालाएँ, बाल्यकाल की सुनी हुई कहानियों की जीवित प्रतिमाएँ हैं। यह स्वप्नों का देश, यह त्याग और ज्ञान का पालना, यह प्रेम की रंगभूमि, भारतभूमि क्या भुलाई जा सकती है ! कदापि नहीं। अन्य देश मनुष्यों की जन्मभूमि है, यह भारत मानवता की जन्मभूमि है।' ऐसी ही निर्मल ज्योति की पवित्रभूमि को उसका पिता ग्रीक वाहिनी लेकर रक्त-रंजित करेगा इसका विचार कर वह कोमल चित्त की युवती दुखी हो उठती है। पिता को समझाने का उद्योग करती है। उसकी भावुकता और सहृदयता उन संवादों से भी ध्वनित होती है जो उसके और बंदी बनकर आई हुई सुवासिनी के साथ हुए हैं। प्रणय के रूप और उसकी गंभीरता का भी उसे व्यावहारिक ज्ञान है। दूसरे के हृदय की भी सच्ची स्थिति समझती है। दारा की कन्या के विषय में उसकी उक्ति बड़ी ही सहृदयतापूर्ण हुई है। यहाँ रहकर रामायण और उशना-कुणिक इत्यादि के विचार पढ़कर वह दार्शनिक और तार्किक हो गई है।

दाड्यायन के आश्रम में चद्रगुप्त के प्रथम दर्शन मे ही वह उसकी ओर आकृष्ट हो जाती है। दाड्यायन की भविष्य-वाणी से भी चद्रगुप्त के व्यक्तित्व का प्रभाव उस पर पडता है। फिर तो उत्तरोत्तर चद्रगुप्त के उत्कर्ष को देखते और समय-समय पर उससे मिलने के कारण उसकी अनुराग-कलिका विकासोन्मुख होती रहती है। कुछ दिनों के उपरांत अपने पिता के साथ जब वह पुन भारत मे आती है तो मुरझाई हुई प्राचीन स्मृति-लता भारतीय वायु की शीतलता से हरी-भरी हो जाती है। जिस समय सिल्यूकस के मुख से सुनती है कि 'चद्र-गुप्त का मत्री चाणक्य उससे क्रुद्ध होकर कहीं चला गया है और इस समय पचनद मे उसका कोई सहायक नही रह गया है' तो इतना ही उसके मुख से निकलता है—'हाँ पिताजी !' इस सूक्ष्म उत्तर मे विषाद और क्षोभ भरा दिखाई पडता है। फिर भी चतुर्थ अक के दसवें दृश्य मे उसने दबकर अपने पिता से कहा ही है—'पिता जी, उसी चद्रगुप्त से युद्ध होगा, जिसके लिए उस साधु ने भविष्य-वाणी की थी। वही तो भारत का राजा हुआ न' × × × 'आप ही ने मृत्युमुख से उसका उद्धार किया था और उसी ने आपके प्राणों की रक्षा की थी'। × × × 'और उसी ने आपकी कन्या के समान की रक्षा की थी'—वह इससे बढकर अपने अनुराग की अभिव्यक्ति और क्या कर सकती थी। फिर भी युद्ध हुआ और सिल्यूकस की हार हुई। इस पर जब सिल्यूकस पुन चद्रगुप्त को दंड देने का विचार करने लगा तब वह खुलकर अपने को प्रकट करती है—'चद्रगुप्त का तो कोई अपराध नही, क्षमा कीजिए पिता ! (घुटने टेकती है)'। इसके साथ ही वह यह भी स्वीकार करती है—(रोती हुई) 'मैं स्वय पराजित हूँ। मैंने अपराध किया है पिताजी ! चलिए—इस भारत की सीमा से दूर ले चलिए, नही तो मै पागल हो जाऊँगी'। अपने प्रेम को स्वीकार करने मे वह शिष्ट रमणी इससे अधिक क्या स्पष्ट हो सकती है। इसी प्रेम के आधार पर वह भारत की कल्याणी बन सकी है।

मालविका

वन-प्रात की गहनता और भयंकरता के बीच मे जैसे एक क्षीण मधुर जल-स्रोत हो उसी प्रकार नाटक के गहन वस्तु-प्रपच मे 'स्वर्गीय कुसुम मालविका की स्थिति है। सिधु देश की संपन्नता मे

शत्रु-पक्ष का प्रताप और उत्कर्ष देखकर चद्रगुप्त का उत्साह और जोर पकडता है। सहायता का वचन देकर युद्ध-क्षेत्र मे पहुँचकर पर्वतेश्वर का शत्रु पक्ष मे मिल जाना (अलका—पर्वतेश्वर ने प्रतिज्ञा भग की है, वह सैनिकों के साथ सिकदर की सहायता के लिए आया है), सिंहरण के पास सिकंदर का संदेश भेजना (मालव नेता मुझसे आकर भेंट करें और मेरी जल-यात्रा की सुविधा का प्रबध करे) उद्दीपन विभाव के अतर्गत आते हैं और आश्रय के उत्साह-वर्द्धन मे योग देते है। सिंहरण ने सिकदर को जो दर्पपूर्ण उत्तर दिया है—'हाँ, भेंट करने के लिए मालव सदैव प्रस्तुत है—चाहे सधि-परिषद् मे या रणभूमि मे।' और चद्रगुप्त और सिंहरण द्वारा किया हुआ युद्धोद्योग और युद्ध-निश्चय अनुभाव के भीतर आते हैं। द्वितीय अक के नवे और दसवे दृश्यो के अत-स्थल मे अनुभाव का अच्छा वर्णन मिलता है। साथ मे गर्व, धृति, स्मृति तथा औत्सुक्य सचारी रूप मे दिखाई पड़ते हैं—

'यवन—दुर्गद्वार टूटता है और अभी हमारे वीर सैनिक इस दुर्ग को मटियामेट करते है'। मालवों के लिए औत्सुक्य है।

'मालव सैनिक—सेनापति, रक्त का बदला! इस नृशस ने निरीह जनता का अकारण वध किया है'। स्पष्ट स्मृति का रूप है।

'सिंहरण—ले जाओ, सिकदर को उठा ले जाओ, जब तक और मालवों को यह न विदित हो जाय कि यह वही सिकदर है। यह भारत के ऊपर एक ऋण था, पर्वतेश्वर के प्रति उदारता दिखाने का यह प्रत्युत्तर है'।

× × ×

'चद्रगुप्त—(सिल्यूकस से) जाओ यवन! सिकदर का जीवन बच जाय तो फिर आक्रमण करना'। गर्व का अच्छा उदाहरण है।

'सिंहरण—कुछ चिंता नहीं। दृढ रहो! समस्त मालव-सेना से कह दो कि सिंहरण तुम्हारे साथ मरेगा'। धृति का बडा भव्य रूप है।

नद को आलंबन मान लेने पर भी उद्दीपन, अनुभाव और संचारी का पूरा योग मिल जाता है। शकटार का भूगर्भ के बाहर आकर अपनी दु खद कहानी कहना, मौर्य और उसकी पत्नी का बदी होना और राक्षस-सुवासिनी को अंधकूप मे भेजने का राज-निर्णय इत्यादि

उद्दीपन विभाव हैं। माता-पिता के दुःख पर चंद्रगुप्त का उग्र होना और प्रतिज्ञा करना तथा क्रांति उत्पन्न करने के विविध आयोजन अनुभाव हैं। स्मृति, औत्सुक्य इत्यादि संचारी हैं। इस प्रकार सब अवयवों के संयोग से वहाँ भी रस की पूर्ण दशा उत्पन्न हो जाती है।

सिल्यूकस यदि आलंबन है तो भी रस के विविध अवयव उपस्थित हैं। चाणक्य, सिंहरण इत्यादि के रूठकर चले जाने से चंद्रगुप्त के उत्साह में स्वावलंबन-पूर्ण दीप्ति एवं प्रखरता उत्पन्न होती है, इसलिए यह असहायावस्था उद्दीपन का कार्य करती है। इस पर साइवर्टियस के द्वारा सिल्यूकस जो चंद्रगुप्त को समझाने की चेष्टा करता है वह भी उद्दीपन ही है और इसके उत्तर में चंद्रगुप्त का गर्व और आत्म-विश्वास-पूर्ण उत्तर—'मैं सिल्यूकस का कृतज्ञ हूँ, तो भी क्षत्रिय हूँ, रणदान जो भी माँगेगा उसे दूँगा। युद्ध होना अनिवार्य है'—अनुभाव के अंतर्गत है। साथ ही युद्ध-क्षेत्र में जो चंद्रगुप्त और सिल्यूकस का प्रत्यक्ष आवेशपूर्ण कथोपकथन होता है उसमें भी अनुभाव का अच्छा रूप प्राप्त है। संचारी में गर्व, औत्सुक्य, धृति, स्मृति इत्यादि यथास्थान नियोजित दिखाई पड़ते हैं। इस प्रकार संपूर्ण नाटक में, आदि से अंत तक वीर रस के विभिन्न अवयवों की एक मालिका गुँथी मिलती है।

शृंगार रस का योग

वीर रस की धारा के साथ प्रथम दृश्य से लेकर अंतिम दृश्य तक प्रेम-व्यापारों का योग निरंतर चलता रहता है। अलका और सिंहरण सुवासिनी और राक्षस तथा कल्याणी, मालविका, कार्नेलिया और चंद्रगुप्त इत्यादि के प्रेम के आरंभ, विस्तार एवं परिपाक की कथा से नाटक भरा है। वीरों के संघर्षपूर्ण जीवन के ताप को शीतल बनाने के लिए प्रेम-शृंगार की नितांत आवश्यकता रहती है। इसलिए चतुर लेखक इस मसाले को जुटाने में किसी प्रकार का प्रमाद नहीं करते। शृंगार में भी विप्रलंभ की आवश्यकता नहीं पड़ती, क्योंकि एक ही लक्ष्य होने से घूम-फिरकर सभी पात्र आपस में मिलते-जुलते रहते हैं और समान व्यापारों में ही संलग्न दिखाई पड़ते हैं। शृंगार के चित्रण में 'प्रसाद' सदैव संयत और उदात्त रूप के प्रतिपादक हैं।

प्रेम मे विश्वास, एकनिष्ठता, त्याग, आत्मसम्मान इत्यादि श्रेष्ठ वृत्तियो का प्रसार आवश्यक है। अलका, मालविका, कल्याणी इत्यादि मे इन्ही उत्तम गुणो का योग है, इसीलिए वे भारतीय चारित्र्य-विभूति का प्रतिनिधित्व करने मे सफल हो सकी है।

कथोपकथन

कुछ स्थलों को छोड़कर नाटक के सवाद वस्तु-सविधान मे साधन रूप से सहायक है। उनका उपयोग वस्तु-विधान मे यो दिखाई पडता है कि उन्ही के सहारे वस्तुगति आगे बढी है। प्रकृत विषय का पतमात्र भी नही टूटने पाया और एक बात मे से दूसरी और दूसरी मे से तीसरी स्वयमेव फूटती चली गई है। कथोपकथन की यह उपयोगिता नाट्य-रचना मे स्पष्ट दिखाई पडनी चाहिए। चद्रगुप्त नाटक मे इस विषय की बहुत सी विशेषताएँ प्रस्तुत है। आरभ के ही दृश्य को लीजिए—'चाणक्य—केवल तुम्ही लोगों को अर्थशास्त्र पढाने के लिए ठहरा था'। 'सिंहरण—आर्य, मालवो को अर्थशास्त्र की उतनी आवश्यकता नही जितनी अस्त्रशास्त्र की'। 'चाणक्य—अच्छा तुम अब मालव मे जाकर क्या करोगे'। 'सिंहरण—अभी तो मै मालव नहीं जाता। मुझे तो तक्षशिला की राजनीति पर दृष्टि रखने की आज्ञा मिली है'। अर्थशास्त्र से लेकर तक्षशिला की राजनीति पर दृष्टि रखने तक बात बढ़ती चली आई है। इसी प्रकार आगे चलकर विस्फोट की बात को लेकर चद्रगुप्त और आभीक के तलवार खीच लेने तक बात बढ़ी चली जाती है। प्राय कथोपकथन छोटे-छोटे है। स्वगत-भाषण अवश्य ही अधिक लबे हो गए है परतु इन स्वगत-भाषणों को इस रूप मे लेना चाहिए कि कोई एकात मे बैठकर अपने मन मे विचार-वितर्क कर रहा है। नाटक भर मे चाणक्य, पर्वतेश्वर और चद्रगुप्त के ही स्वगत भाषण विशेष लंबे हुए है। इनका रूप प्रथम अक के सातवे, तीसरे अंक के द्वितीय और छठे दृश्यों मे दिखाई पड़ता है। द्वितीय अक के सातवें दृश्य मे अवश्य ही सवाद बडे है परतु परिषद् का प्रसग होने के कारण क्षम्य कहे जा सकते हैं। इसी तरह शकटार ऐसे पात्र के सवाद के विषय मे भी कहा जा सकता है कि न जाने कितने वर्षों के बाद बेचारा अधकूप मे से निकला है और एक साँस ही मे अपनी दु खद कहानी कहने लगता

उद्दीपन विभाव है। माता-पिता के दुःख पर चंद्रगुप्त का उग्र होना और प्रतिज्ञा करना तथा क्रांति उत्पन्न करने के विविध आयोजन अनुभाव हैं। स्मृति, औत्सुक्य इत्यादि संचारी है। इस प्रकार सब अवयवों के संयोग से वहाँ भी रस की पूर्ण दशा उत्पन्न हो जाती है।

सिल्यूकस यदि आलंबन है तो भी रस के विविध अवयव उपस्थित हैं। चाणक्य, सिंहरण इत्यादि के रुठकर चले जाने से चंद्रगुप्त के उत्साह में स्वावलंबन पूर्ण दीप्ति एवं प्रखरता उत्पन्न होती है, इसलिए यह असहायावस्था उद्दीपन का कार्य करती है। इस पर साइवर्टियस के द्वारा सिल्यूकस जो चंद्रगुप्त को समझाने की चेष्टा करता है वह भी उद्दीपन ही है और इसके उत्तर में चंद्रगुप्त का गर्व और आत्म-विश्वास-पूर्ण उत्तर—'मैं सिल्यूकस का कृतज्ञ हूँ, तो भी क्षत्रिय हूँ, रणदान जो भी माँगेगा उसे दूँगा। युद्ध होना अनिवार्य है'—अनुभाव के अंतर्गत है। साथ ही युद्ध-क्षेत्र में जो चंद्रगुप्त और सिल्यूकस का प्रत्यक्ष आवेशपूर्ण कथोपकथन होता है उसमें भी अनुभाव का अच्छा रूप प्राप्त है। संचारी में गर्व, औत्सुक्य, धृति, स्मृति इत्यादि यथास्थान नियोजित दिखाई पड़ते हैं। इस प्रकार संपूर्ण नाटक में, आदि से अंत तक वीर रस के विभिन्न अवयवों की एक मालिका गुँथी मिलती है।

शृंगार रस का योग

वीर रस की धारा के साथ प्रथम दृश्य से लेकर अंतिम दृश्य तक प्रेम-व्यापारों का योग निरंतर चलता रहता है। अलका और सिंहरण सुवासिनी और राक्षस तथा कल्याणी, मालविका, कार्नेलिया और चंद्रगुप्त इत्यादि के प्रेम के आरंभ, विस्तार एवं परिपाक की कथा से नाटक भरा है। वीरों के संघर्ष पूर्ण जीवन के ताप को शीतल बनाने के लिए प्रेम-शृंगार की नितांत आवश्यकता रहती है। इसलिए चतुर लेखक इस मसाले को जुटाने में किसी प्रकार का प्रमाद नहीं करते। शृंगार में भी विप्रलंभ की आवश्यकता नहीं पड़ती, क्योंकि एक ही लक्ष्य होने से घूम-फिरकर सभी पात्र आपस में मिलते-जुलते रहते हैं और समान व्यापारों में ही संलग्न दिखाई पड़ते हैं। शृंगार के चित्रण में 'प्रसाद' सदैव संयत और उदात्त रूप के प्रतिपादक हैं।

प्रेम में विस्तार, एकनिष्ठता, त्याग, आत्मसम्मान इत्यादि श्रेष्ठ वृत्तियों का प्रसार आवश्यक है। अलका, मालविका, कल्याणी इत्यादि में इन्हीं उत्तम गुणों का योग है, इसीलिए वे भारतीय चारित्र्य-विभूति का प्रतिनिधित्व करने में सफल हो सकी हैं।

कथोपकथन

कुछ स्थलों को छोड़कर नाटक के संवाद वस्तु-संविधान में साधन रूप से सहायक हैं। उनका उपयोग वस्तु-विधान में यों दिखाई पड़ता है कि उन्हीं के सहारे वस्तुगति आगे बढ़ी है। प्रकृत विषय का प्रवाह भी नहीं टूटने पाया और एक बात में से दूसरी और दूसरी में से तीसरी स्वयमेव फूटती चली गई है। कथोपकथन की यह उपयोगिता नाट्य-रचना में स्पष्ट दिखाई पड़नी चाहिए। चंद्रगुप्त नाटक में इस विषय की बहुत सी विशेषताएँ प्रस्तुत हैं। आरंभ के ही दृश्य को लीजिए—'चाणक्य—केवल तुम्हीं लोगों को अर्थशास्त्र पढ़ाने के लिए ठहरा था'। 'सिंहरण—आर्य, मालवों को अर्थशास्त्र की उतनी आवश्यकता नहीं जितनी अस्त्रशास्त्र की'। 'चाणक्य—अच्छा तुम अब मालव में जाकर क्या करोगे'। 'सिंहरण—अभी तो मैं मालव नहीं जाता। मुझे तो तक्षशिला की राजनीति पर दृष्टि रखने की आज्ञा मिली है'। अर्थशास्त्र से लेकर तक्षशिला की राजनीति पर दृष्टि रखने तक बात बढ़ती चली आई है। इसी प्रकार आगे चलकर विस्फोट की बात को लेकर चंद्रगुप्त और आंभीक के तलवार खींच लेने तक बात बढ़ी चली जाती है। प्राय कथोपकथन छोटे-छोटे है। स्वगत-भाषण अवश्य ही अधिक लंबे हो गए हैं परंतु इन स्वगत-भाषणों को इस रूप में लेना चाहिए कि कोई एकांत में बैठकर अपने मन में विचार-वितर्क कर रहा है। नाटक भर में चाणक्य, पर्वतेश्वर और चंद्रगुप्त के ही स्वगत-भाषण विशेष लंबे हुए हैं। इनका रूप प्रथम अंक के सातवें, तीसरे अंक के द्वितीय और छठे दृश्यों में दिखाई पड़ता है। द्वितीय अंक के सातवें दृश्य में अवश्य ही संवाद बड़े हैं परंतु परिषद का प्रसंग होने के कारण क्षम्य कहे जा सकते हैं। इसी तरह शकटार ऐसे पात्र के संवाद के विषय में भी कहा जा सकता है कि न जाने कितने वर्षों के बाद बेचारा अंधकूप में से निकला है और एक साँस ही में अपनी दु खद कहानी कहने लगता

है इसलिए अवश्य ही सामाजिक संतोषपूर्वक सुनने के अभिलाषी होंगे, परन्तु ये तर्क बहुत दूर नहीं चल सकते और न लेखक की प्रवृत्ति को ही अन्यथा प्रमाणित कर सकते।

इतने विस्तृत जीवन-खंड और इतिवृत्त में भिन्न-भिन्न प्रकार की स्थितियों के अनुसार संवाद की भी भिन्न-भिन्न पद्धतियाँ बिखरी दिखाई देती हैं। ऐसे संवाद का स्थल भी है जहाँ चरित्र की विशेषता निदर्शन के साथ केवल बुद्धि से संबंध रखनेवाली बातें ही आ सकी हैं। इस प्रकार का उदाहरण प्रथम अंक का सातवाँ दृश्य है। उसमें चाणक्य और वररुचि के कथोपकथन में एक निरालापन है जो अन्यत्र नहीं मिलने का। वस्तुतः इसका नाटकीय महत्त्व बहुत कम है। दो-एक स्थल ऐसे भी हैं जहाँ के संवाद भावुकता से समन्वित होने के कारण बड़े मधुर मालूम पड़ते हैं। वचन-चातुरी के साथ सहृदयता ही इनकी विशेषता है—जैसे, चंद्रगुप्त और मालविका तथा कार्नेलिया और सुवासिनी के संवाद। सारा नाटक वीररस-पूर्ण है इसलिए सर्वत्र आवेग, उत्कर्ष और गर्व-पूर्ण कथनों की ही भरमार है। फिर भी कुछ स्थल तो स्पष्ट ही अत्यंत सुंदर है—जैसे, सिकंदर और चंद्रगुप्त का वह प्रसंग जहाँ चंद्रगुप्त के गर्वपूर्ण व्यवहार के कारण सिकंदर उसे बंदी बनाना चाहता है अथवा द्वितीय अंक का नवाँ दृश्य। द्वितीय अंक के तृतीय दृश्य में जहाँ नटों का अभिनय हो रहा है वहाँ के संवाद वचन-रचना की चातुरी के कारण विदग्धता-पूर्ण मालूम पड़ते हैं। इस प्रकार की विदग्धता पर्वतेश्वर और अलका के कथोपकथन में भी दिखाई पड़ती है। ऐसे स्थलों की तो प्रचुरता है—जहाँ चलते और व्यावहारिक कथोपकथन हुए हैं, जैसे—प्रथम अंक का सातवाँ, द्वितीय अंक का छठाँ और दसवाँ, तृतीय अंक का दूसरा तथा अंतिम दृश्य। इन दृश्यों में व्यवहारानुकूल बातें की गई हैं। उनमें पद-मर्यादा और वस्तु-स्थिति का ही अधिक विचार रखा गया है।

पहले जो प्रसंग चल रहा है उसी के कुछ शब्दों को दुहराते हुए जब कोई पात्र सहसा सम्मुख आ जाता है तब कथोद्घातक होता है। 'सिंहरण—उत्तरापथ के खंडराज्य द्वेष से जर्जर हैं। शीघ्र ही भयानक विस्फोट होगा'। (सहसा आंभीक और अलका का प्रवेश) 'आंभीक—कैसा विस्फोट! युवक, तुम कौन हो'। इस प्रकार के

संवाद विशेष चमत्कारयुक्त प्रतीत होते है। ऐसे स्थल इस नाटक मे बहुत से है, जैसे, 'राक्षस—केवल सद्धर्म की शिक्षा ही मनुष्यों के लिए पर्याप्त है और वह तो मगध मे ही मिल सकती है'। (चाणक्य का सहसा प्रवेश, त्रस्त दौवारिक पीछे-पीछे आता है) 'चाणक्य—परंतु बौद्ध धर्म की शिक्षा मानव-व्यवहार के लिए पूर्ण नहीं हो सकती, भले ही वह सघ-बिहार मे रहनेवालो के लिए उपयुक्त हो'। अथवा 'चाणक्य—पीछे बतलाऊँगा। इस समय मुझे केवल यही कहना है कि सिहरण को अपना भाई समझो और अलका को बहन' (वृद्ध गांधारराज का सहसा प्रवेश) 'वृद्ध—अलका, कहाँ है अलका !' अथवा 'कार्नेलिया—परतु वैसा न हुआ, सम्राट् ने फिलिप्स को यहाँ का शासक नियुक्त कर दिया है'। (अकस्मात् फिलिप्स का प्रवेश) 'फिलिप्स—तो बुरा क्या है कुमारी ! सिल्यूकस के क्षत्रप न होने पर भी कार्नेलिया यहाँ की शासक हो सकती है। फिलिप्स अनुचर होगा'। इसके अतिरिक्त सर्वत्र ही संवाद रस के अनुकूल हुए है। जहाँ वीर रस का प्रसग है वहाँ के सवादों मे उस रस के अनुकूल पदावली, भाषा और भाव-योजना दिखाई पड़ती है। उत्साह, गर्व, दर्प, आवेश, क्रोध सभी भाव समयानुसार व्यंजित होते चलते हैं। उसी तरह जहाँ शृंगार की योजना हुई है वहाँ भाषा और भाव-व्यंजना मे तदनुकूल परिवर्तन हो गया है। ऐसे किसी भी स्थल में ये विशेषताएँ स्वयमेव दिखाई पड़ेंगी।

देश-काल का कथन

चद्रगुप्त नाटक मे वस्तु-स्थिति का जैसा वर्णन मिलता है उसके आधार पर तत्कालीन राजनीतिक अवस्था का पूरा-पूरा परिचय मिल जाता है। आरंभ मे ही सिहरण ने यथार्थ परिस्थिति की आलोचना की है—'उत्तरापथ के खडराज्य द्वेष से जर्जर हैं'। एक शासक की दूसरे से पटती नही। आपस मे एक-दूसरे के नाश का ही विचार किया करते है। सिकंदर के अभियान-काल मे यदि सब राजा और गणराज्य एकचित्त हो विरोध करते तो पर्वतेश्वर की पराजय सभव नहीं थी; परंतु वहाँ तो स्थिति ही भिन्न थी। राजनीतिक वस्तु-स्थिति का चित्रण थोड़े मे ही कर दिया गया है। एक ओर नंद और पर्वतेश्वर का विरोध दिखाया गया है, दूसरी ओर आंभीक और पर्वे-

तेश्वर मे पारिवारिक झगडा है ही। एक शत्रु के स्वागत मे लगा है तो दूसरा उसके विरोध पर डटा है। परिणाम जैसा चाहिए वैसा ही होता है। इसी स्थल पर यह भी स्पष्ट हो जाता है कि छोटे-छोटे जो अनेक गणतत्र शासक है उनका मिलना भी सरल नही है। मालव और क्षुद्रक जो नाटक मे एक सेनापति की अध्यक्षता मे मिल जाते है उसके लिए विशेष प्रकार के उद्योग की आवश्यकता पडती है। इस चित्रण से ही शुद्ध ऐतिहासिक स्थिति का आभास मिल जाता है। मगध की राजनीतिक स्थिति भी डॉवाडोल ही है। नद की विलासिता और कामुकता बढ़ी हुई है, उसके उच्छृ खल शासन से लोग ऊब गए हैं। नित्य नए अत्याचार से जनता पीडित है और परिवर्तन का अवसर ढूँढ रही है। स्वय नद की पुत्री का अनुभव विचारणीय है–'सच नीला, मै देखती हूँ कि महाराज से कोई स्नेह नही करता, डरते भले ही हो। मुझे इसका बड़ा दु ख है। देखती हूँ कि समस्त प्रजा उनसे त्रस्त और भयभीत रहती है। प्रचड शासन करने के कारण उनका बड़ा दुर्नाम है'। एक स्नातक भी इसी आशय की बात कहता है—'महापद्म का जारजपुत्र नद केवल शस्त्र-बल और कूट-नीति के द्वारा सदाचारो के सिर पर ताडव नृत्य कर रहा है। वह सिद्धातविहीन नृशंस, कभी बौद्धों का पक्षपाती कभी वैदिकों का अनुयायी बनकर दोनों मे भेदनीति चलाकर बल-सचय करता रहता है। मूर्ख जनता धर्म की ओट मे नचाई जा रही है'।

इसके अतिरिक्त उस काल मे धर्म के संघर्ष का बडा स्पष्ट और सजीव चित्रण किया गया है। चाणक्य वैदिक मत का अनुयायी और राक्षस प्रच्छन्न बौद्ध है। अतएव इन दोनों के विरोध से तत्कालीन बौद्ध-वैदिक सघर्ष ध्वनित होता है। तक्षशिला का गुरुकुल विशेषत वैदिक मत का है अतएव राक्षस उसका विरोध करता है—'केवल सद्धर्म की शिक्षा ही मनुष्य के लिए पर्याप्त है और वह तो मगध में ही मिल सकती है'। इस पर चाणक्य का कथन है—'परंतु बौद्धधर्म की शिक्षा मानव व्यवहार के लिए पूर्ण नही हो सकती, भले ही वह संघ-विहार मे रहनेवालो के लिए उपयुक्त हो' × × × 'यदि अमात्य ने ब्राह्मण नाश करने का विचार किया हो तो जन्मभूमि की भलाई के लिए उसका त्याग कर दे। क्योंकि राष्ट्र का शुभचिंतन केवल कर्म-

वादी संयमी ब्राह्मण ही कर सकते हैं। एक जीवहत्या से डरनेवाले तपस्वी बौद्ध, सिर पर मँडरानेवाली विपत्तियों से, रक्त-समुद्र की आँधियों से, आर्यावर्त की रक्षा करने में असमर्थ प्रमाणित होंगे'। इन उक्तियों में ब्राह्मण-बौद्ध द्वंद्व का आभास स्पष्ट मिल जाता है।

अध्ययन अध्यापन के लिए प्रसिद्ध गुरुकुलों की व्यवस्था दिखाई गई है। उनमें विश्वप्रसिद्ध तक्षशिला का गुरुकुल मान्य विद्याकेंद्र है। गुरुकुल के नियम अत्यंत कठोर और सर्वमान्य होते हैं। राजा भले ही उसका रक्षक हो परंतु उसका भी नियंत्रण वहाँ प्रवेश नहीं पाता है। उनमें अध्ययन करनेवालों को राजवृत्ति मिलती है और एक विद्यार्थी प्रायः पाँच वर्षों तक पढ़ने जाता है। कभी-कभी विद्यार्थी योग्य शिक्षा के उपरांत वहाँ अध्यापन-कार्य भी कर लेता है। इसके अतिरिक्त नाटक में स्त्रियों की सामाजिक स्थिति का भी अच्छा चित्रण है। इस विषय में ग्रीक और भारतीय संस्कृतियों में एकता दिखाई पड़ती है। पर्दे की प्रथा नहीं दिखाई पड़ती। राजकीय वर्ग की महिलाएँ राजसभाओं में उपस्थित होती हैं और आवश्यकता पड़ने पर स्वच्छंदतापूर्वक अपने विचार भी प्रकट करती हैं। अवस्था और परिस्थिति के अनुसार युद्ध-क्षेत्र में भी योग देती हैं। कल्याणी, मालविका और अलका इस विषय में प्रमाण हैं। युद्ध-भूमि में ही मालविका के मानचित्र तैयार करने से यह ध्वनित होता है कि ऐसे विषयों की भी शिक्षा स्त्रियों को मिलती है। व्यापार की स्थिति का भी आभास मिलता है। एक प्रांत से दूसरे प्रांतों में वणिक् समुदाय वाणिज्य वस्तुओं को लेकर आते-जाते हैं। यथास्थान युद्ध की अवस्था और पद्धति भी वर्णित हुई है। जिससे यह प्रकट होता है कि गज-सेना, अश्वसेना, रथ सेना और पदातिकों के अतिरिक्त नौ-सेना की भी व्यवस्था है। युद्ध में हताहतों की सेवा-शुश्रूषा के लिए अन्नपान और भैषज्य का भी प्रबंध रहता है और इस विषय की अधिकारिणी प्रायः स्त्रियाँ होती हैं। आर्यों की रणनीति ऐसी होती है कि निरीह जनता और कृषक-वर्ग दुःख नहीं पाता। रण-भूमि के पास ही वे स्वच्छंदता से हल चलाते रहते हैं, पर यवनों की नीति इससे भिन्न दिखाई पड़ती है। वे आतंक फैलाना अपनी रणनीति का प्रधान अंग मानते हैं; निरीह जनता को लूटना, गाँवों को जलाना, उनके भीषण परंतु साधारण कार्य हैं।

राष्ट्र-भावना

राष्ट्र-भावना का प्राचुर्य इस नाटक मे विशेष रूप से प्रतिपादित है। आरंभिक दृश्य मे ही तक्षशिला के गुरुकुल मे चाणक्य अपने शिष्यों को इसका मंत्र देता है—'मालव और मागध को भूलकर जब तुम आर्यावर्त का नाम लोगे तभी वह (आत्मसम्मान) मिलेगा'। इसी की ध्वनि सिंहरण मे भी मिली है—'परंतु मेरा देश मालव ही नही गाधार भी है। यही क्या, समग्र आर्यावर्त है'। इसके अतिरिक्त देश-सेवा के भाव से प्रेरित चद्रगुप्त, सिंहरण, अलका इत्यादि ने व्रत ही ले रखा है कि देश की मर्यादा और संमान बचाने मे ही अपना जीवन लगा देंगे। विदेशियो के मुख से बारबार भारतवर्ष की महिमा का बखान भी देश गौरव का ही प्रतिपादन करता है। चंद्रगुप्त और सिंहरण ने भारतीय ऋण चुकाने का उल्लेख भी किया है इससे यह प्रकट होता है कि वे अपने को भारतीय राष्ट्र के प्रतिनिधि ही मानकर आचरण करते है। इनके अतिरिक्त अलका मे इस भावना का पूर्णरूप प्रस्फुटित हुआ है। उसके देश-प्रेम मे वर्तमान राजनीतिक आंदोलन का व्यावहारिक प्रतिनिधित्व दिखाई पड़ता है।

ध्रुवस्वामिनी

इतिहास[1]

गुप्त वंशावली मे कुछ विचार की बात छूट गई है। इसका अनुसंधान सबसे पहले हिंदी मे स्वर्गीय चंद्रधर शर्मा गुलेरी ने किया था। इसके उपरांत 'जर्नल एशियाटिक' (अक्टूबर-दिसंबर के अंक, ई० सन् १९२३) में डाक्टर सिलवॉं लेवी ने 'रामचंद्र और गुणचंद्र-रचित नाट्य-दर्पण' ग्रंथ की चर्चा उठाई। उसके उपरात तुरत ही स्वर्गीय राखालदास बैनर्जी ने अपने ई० सन् १९२४ वाले 'मणींद्रचंद्र नंदी लेक्चर्स' मे यह स्वीकार कर लिया कि सम्राट् समुद्रगुप्त एव चंद्रगुप्त (द्वितीय) विक्रमादित्य के बीच कुछ अंश और जोड़ना है। इसी आधार पर उन्होंने गुप्त-वंशावली की व्यवस्था की। ई० सन् १९२८ मे डाक्टर अल्तेकर ने इसी व्यवस्था का विस्तार से अनुमोदन किया। इस छानबीन का ऐतिहासिक महत्त्व यह निकाला कि अंधकार में पड़े हुए सम्राट् रामगुप्त का प्रकाश-लोक मे पुनर्जन्म हुआ और फिर से उसे गुप्त-वंशावली मे बैठने का अधिकार मिला।

इस नवीन ऐतिहासिक वितर्क मे उक्त 'नाट्य-दर्पण' ग्रंथ का विचार महत्त्वपूर्ण है। इस नाट्य-शास्त्र संबधी पुस्तक मे लेखक ने कई उदाहरण 'देवीचंद्रगुप्तम्' के दिए हैं। इन उद्धरणों से यह ज्ञात होता है कि इस नाटक का कर्ता एक (विशाखदत्तकृते देवीचंद्रगुप्ते) विशाखदत्त है। कहा गया है कि यह और कोई नहीं मुद्राराक्षस

---

१ (क) आधार-ग्रंथ—ए० एस० अल्तेकर ए न्यू गुप्ता, किंग जर्नल आव् द बिहार एंड ओरीसा रिसर्च जर्नल सोसायटी, वाल्यूम १४, १९२८ पृ० २२३–२५३।

(ख) श्री गंगाप्रसाद मेहता चंद्रगुप्त विक्रमादित्य पृ० १५२–१५५।

(ग) आर० डी० बनर्जी द एज आव् द इंपीरियल गुप्ताज (१९३३), पृ० २६–२८।

(घ) खसो के हाथ ध्रुवस्वामिनी—श्री चंद्रधर शर्मा गुलेरी, नागरी-प्रचारिणी पत्रिका, नवीन संस्करण, भाग १, पृ० २३४–३५।

(ङ) श्री वासुदेव उपाध्याय गुप्त साम्राज्य का इतिहास, प्रथम खंड, पृ० ७६–७७।

का लेखक विशाखदत्त ही है। इसी नाटक के उद्धरणों, की भाँति एक दूसरे ग्रंथ 'शृंगार-रूपकम्'[1]—संभवत' भोजरचित—में भी उक्त नाटक के कुछ स्थलों का उल्लेख प्राप्त है जिससे उक्त ग्रथ की सत्यता और भी स्पष्ट होती है। कवि राजशेखरकृत काव्यमीमांसा में भी इस प्रसंग की ओर संकेत है[2]। उसका खराधिपति शकपति है और शर्मगुप्त देवीचद्रगुप्तम् का रामगुप्त है। अमोघवर्ष (प्रथम) का जो सजन-ताम्रपत्र[3] है उसमे भी—'हत्वा भ्रातरमेव राज्यमहरद्देवीं च दीनस्तथा, लक्ष कोटिमलेखयन् किल कलौ दाता स गुप्तान्वय.' जो पद हैं वे भी दानी गुप्त-सम्राट् चद्रगुप्त (द्वितीय) का ही उल्लेख करते हैं। इन स्थलो के अतिरिक्त कवि बाणभट्ट ने भी हर्षचरित[4] मे इस घटना का उल्लेख किया है।

उक्त कथनों के आधार पर कुछ विद्वानों की समति है कि समुद्रगुप्त के उपरात रामगुप्त नामक व्यक्ति उसका उत्तराधिकारी बना। समुद्रगुप्त के ईरान के स्तभलेख[5] से इतना तो अवश्य ही ज्ञात होता है कि उसके कई पुत्र थे। उस लेख की सत्रहवीं पक्ति से विदित है कि वह सदैव पुत्रों एवं पौत्रों के सहित चलता था। उन्ही पुत्रों मे ज्येष्ठ था रामगुप्त और समुद्रगुप्त के निधन पर वही सम्राट् बना। उस समय चद्रगुप्त (द्वितीय) कुमार पद पर ही था परंतु यह सम्राट् पूर्ण कापुरुष तथा सर्वथा अयोग्य था। अनुकूल अवसर की ताक-झाँक मे लगे हुए शकपति ने सम्राट् की दुर्बलता का पूरा लाभ उठाना चाहा और युद्ध-भय उत्पन्न करके उसने महादेवी ध्रुवदेवी की माँग उपस्थित की। अशक्त रामगुप्त ने 'प्रकृतीनामाश्वासनाय' अपनी प्रिया को शकराज को समर्पण करने का निश्चय किया, परंतु वीर कुमार चंद्रगुप्त ने अपने कुल-संमान की रक्षा के विचार से विरोध करने की ठानी। ध्रुवदेवी के वेश में शकराज के शिविर मे गया और अवसर पाकर उस कामुक का वध कर डाला।

---

१ इडियन एटी क्वेरी, १९२३, पृ० १८१।

२ दत्वा रुद्धगति खसाधिपतये देवी ध्रुवस्वामिनीन्।
यस्मात् खडितसाहसो निववृते श्रीशर्मगुप्तो नृप ॥

३. एपिग्राफिया इडिका, भाग १८, पृ० २४८।

४. अरिपुरे परकलत्रकामुक कामिनीवेशगुप्तश्चद्रगुप्त. शकपतिमशातयत्।

५. फ्लीट, सी० आई० आई०, प्लेट सं० २, पृ० २०।

अवश्य ही इस घटना के उपरांत वह प्रजा और महादेवी का प्रिय बन गया। इसी समय रामगुप्त मार डाला गया। पता नहीं चद्रगुप्त ने प्रत्यक्ष ही उसका वध किया अथवा गुप्त रूप से किसी अन्य सहायक द्वारा। इसके उपरांत उसने शासनसूत्र अपने हाथ मे लिया और देवी ध्रुवस्वामिनी से अपना विवाह कर लिया (हत्वा भ्रातरमेव राज्यमहरद्देवीं च), इसी पत्नी से उसके दो पुत्र हुए—कुमारगुप्त और गोविंदगुप्त, जिनमें से प्रथम पीछे सम्राट् बना। अतएव यह निश्चय है कि यह विवाह अवश्य ही वैध था। सभव है कुछ लोगों को यह विवाह खटके, परतु नारद और पराशर[1] स्मृतियों के आधार पर इस प्रकार की व्यवस्था प्राप्त है। अवश्य ही रामगुप्त के सबध का कोई लेख प्राप्त नहीं है। इसका कारण स्पष्ट यही है कि वह बहुत थोडे ही दिनों तक शासन कर सका और वह भी अपदार्थ की भाँति। ऐसी अवस्था मे लोग यदि समुद्रगुप्त एव चद्रगुप्त द्वितीय ऐसे पुण्यश्लोकों के सामने उसे भूल गए हों तो कोई आश्चर्य नहीं।

कथा

सम्राट् समुद्रगुप्त द्वारा निर्वाचित भावी साम्राज्याधिकारी चंद्रगुप्त अपने पिता के निधन होने पर अपने बड़े भाई रामगुप्त को अपना संपूर्ण अधिकार सौंप देता है, परंतु वह इस शासन भार को वहन करने में सर्वथा असमर्थ एव अयोग्य प्रमाणित होता है। वह स्वयं विलासिनियों के साथ मदिरा में प्रमत्त रहता और अपनी महादेवी ध्रुवस्वामिनी को बदी-गृह मे डाल देता है। दिन-रात कुबडे, बौने, हिजड़े, गूँगे और बहरों से आवृत वह राजमहिषी अपने वर्तमान और भविष्य का निर्णय करने में डूबी रहती है। अवहेलिता और अपमानिता बनकर बंदिनी-रूप में एकाकी पडी हुई वह अपने उद्धार का मार्ग ढूँढा करती है। यों तो धर्म को साक्षी देकर उसका विवाह रामगुप्त के साथ हुआ है, परतु पति-सुख उसे कभी रंचमात्र भी प्राप्त नहीं हुआ, क्योंकि उसका पति निरंतर अपने को कदर्थ ही प्रमाणित करता है। ऐसी स्थिति मे ध्रुवस्वामिनी का ध्यान अपने एक मात्र अवलब चद्रगुप्त की ओर आकृष्ट होता है। यह सुनकर कि चद्रगुप्त के हृदय मे भी उसके लिए प्रेम है ध्रुवदेवी के हृदय मे उसके प्रति प्रेम

---

१. नारद १२–६७ और पराशर ४-२७।

अंकुरित होता है। रामगुप्त को इस विषय मे सदेह होता है, अतएव वह महादेवी के ऊपर नियन्त्रण की कठोरता को उत्तरोत्तर बढाता ही जाता है। एक तो प्रेम अवरोध पाकर और अधिक तीव्रगामी होता है दूसरे रामगुप्त की कापुरुषता और उदासीनता तथा चद्रगुप्त की वीरता और ममता से उद्दीप्त होकर महादेवी का अनुराग वृद्धि ही पाता जाता है।

इसी समय शक आक्रमण होता है और रामगुप्त का सपूर्ण शिविर-मडल चारों ओर से घेर लिया जाता है। शकराज सधि-प्रस्ताव मे ध्रुवस्वामिनी की माँग उपस्थित करता है और अपने अमात्य शिखरस्वामी की बुद्धि से अभिभूत रामगुप्त उस माँग को पूर्ण करके अपने जीवन की रक्षा का निश्चय करता है। अपने पति की क्लीवता और कापुरुषता से ध्रुवस्वामिनी क्षुब्ध हो उठती है। इस अवसर पर चद्रगुप्त गुप्तकुल के समान की रक्षा के लिए बद्धपरिकर होकर निश्चय करता है कि महादेवी के वेश मे शकराज के संमुख वह स्वय उपस्थित हो और यदि भाग्य ने योग दिया तो सारा खेल ही उलट देने की चेष्टा करेगा। अपने प्रेमी की उदारता और साहसपूर्ण त्याग देखकर ध्रुवस्वामिनी उस पर मुग्ध हो जाती है और उसके साथ-साथ वह शकशिविर में स्वय उपस्थित होती है। चद्रगुप्त की वीरता सफल होती है। शकराज की मृत्यु होती है और नायकहीन शक सेना छिन्न-भिन्न होकर भाग जाती है।

चद्रगुप्त मे शासक के संपूर्ण गुण देख और यह विचार कर कि वस्तुत समुद्रगुप्त ने उसी को अपना उत्तराधिकारी चुना था सब सामंत एक स्वर से यही निश्चय करते हैं कि वह सम्राट्-पद पर आसीन हो और ध्रुवस्वामिनी उसकी राजमहिषी बने। शिखरस्वामी पहले तो कुछ विरोध करता है पर परिस्थति को प्रतिकूल पाकर वह भी चद्रगुप्त के पक्ष मे हो जाता है। सब प्रकार से निराश होकर रामगुप्त अधीर हो उठता है और पीछे से जाकर चद्रगुप्त पर आक्रमण करता है। इसी उपद्रव मे सामत चद्रगुप्त की रक्षा के विचार से उसका वध कर डालते है।

वस्तुतत्त्व

उक्त कथांश के आधार पर ध्रुवस्वामिनी नाटक की रचना हुई है। एक तो कथा स्वय ही वेदना से पूर्ण है फिर उसके उतार-चढ़ाव का

क्रम इतना सुदर रखा गया है कि स्थल-स्थल पर चमत्कार उत्पन्न हो उठा है। कथा मे सबसे अधिक मार्मिक स्थिति महादेवी ध्रुवस्वामिनी की दिखाई पड़ती है। अतएव प्रथम दृश्य मे लेखक उसी को अपने प्रतिभा-बल से सुसज्जित करके सम्मुख लाता है। परम यशस्वी दिग्विजयी समुद्रगुप्त की वधू और गुप्तकुल की लक्ष्मी की ऐसी हीन-दीन अवस्था। उसके अतर्जगत् के अपमान और वेदना की वेगमयी आँधी, कठोर अभिशापमय प्रस्तुत रहस्य और भविष्य की अधकार-पूर्ण घोर चिंता से ही नाटक का श्रीगणेश होता है। उसकी इस स्थिति के मूल मे कारण कौन है? इसका उत्तर लेकर परमभट्टारक रामगुप्त स्वय आता है। उसके भीतर भी द्वद्व चल रहा है—'जगत् की अपतुम सुदरी मुझसे स्नेह नही करती और मै हूँ इस देश का राजाधिराज'। जब ये दो प्रमुख पात्र अपनी विषम स्थितियों को लेकर हमारे सम्मुख आ लेते हैं और हम उनकी उद्वेगमयी विषमता का पूर्ण परिचय प्राप्त कर चुकते है तब इस विषमता को अधिक उग्र बनाने के लिए, उत्तरोत्तर उसे चरमस्थिति तक पहुँचाने के लिए, शिखरस्वामी के द्वारा शक अवरोध और सधि-प्रस्ताव का प्रसंग सामने आता है। इसके पूर्व लेखक ने बौने, हिजडे, कुबड़े इत्यादि के द्वारा भविष्य का उल्लेख बडी सुदरता से करा दिया है, जिससे शिखर-स्वामी द्वारा उपस्थित किए गए प्रसग का चमत्कार और भी बढ जाता है। इस अंक के तीनों प्रश्नों—ध्रुवदेवी की असहाय अवस्था, रामगुप्त का सदेहगर्त-निपात और शक-अवरोध अथवा सधि-प्रस्ताव का उत्तर लेकर अत में चद्रगुप्त उपस्थित होता है। इस प्रकार प्रथम अक के वस्तु-तत्त्व का तर्क-विन्यास बडा भव्य बना है।

प्रथम अक का वस्तु-विन्यास एक भव्य प्रासाद की सुदृढ़ भूमिका की भाँति अत्यत उपादेय होता है। उसके ठीक उतर जाने पर अन्य अंक ठीक हो ही जाते है। इस नाटक के प्रथम अंक में फलोपभोक्ता का परिचय है। अतएव वेदना, सघर्ष, शक्ति-सचय और उत्साह का चित्रण है। द्वितीय अक मे उस पक्ष का उल्लेख है जो पराजित होगा। इसलिए उसके संबध मे विलासिता और अधकार का चित्रण आवश्यक है। इस अंक मे शक-दुर्ग के भीतर क्या हो रहा है इसका विस्तृत विवरण दिया गया है। प्रेम मे अनुरक्त कोमा—अपनी अनुरागमयी भावनाओं में लिपटी सम्मुख आती है, फिर अपनी राजनीतिक

रूक्षता की चिंता लिए शकराज आकर उसकी भावनाओं मे हिलोर उत्पन्न कर देता है। इतने ही मे खिंगिल आकर गुप्त सम्राट् द्वारा स्वीकृत किए गए संधि-प्रस्ताव का समाचार सुनाता है, जिससे सकराज उन्मत्त हो उठता है और ध्रुवस्वामिनी के स्वागत के निमित्त आयोजन में लग जाता है। ध्रुवस्वामिनी की प्राप्ति की संभावना को उद्दीप्त करने के लिए कोमा का अनुराग-विस्तार सहायक रूप मे ही रखा गया ज्ञात होता है। इस संभावित सुख के प्रमाद मे शकराज अपनी प्रेमिका कोमा के साथ-साथ गुरुवर मिहिरदेव का निरादर कर बैठता है। दोनों ही रुष्ट और अप्रसन्न होकर उसका साथ छोड़कर चले जाते हैं। यहाँ भी नाटकीय भविष्य-वाणी के रूप मे एक ओर तो लेखक ने कोमा के मुख से ये वचन उपस्थित किए है—'अमंगल का अभिशाप, अपनी क्रूर हँसी से इस दुर्ग को कँपा देगा और सुख-स्वप्न विलीन हो जायँगे,' और दूसरी ओर धूम्रकेतु का दृश्य उपस्थित कर भविष्य का आभास दिया है। जिस समय शकराज धूम्रकेतु-दर्शन से भयभीत होता है उसी समय ध्रुवस्वामिनी और चंद्रगुप्त उसके कक्ष मे प्रवेश करते हैं। दोनो स्थितियों का एक साथ ही मेल बैठाकर चमत्कार उत्पन्न करने मे लेखक सफल हुआ है। इसके उपरांत स्थिति की प्रेरणा से शकराज और चंद्रगुप्त का द्वंद्व होता है, जिसमे प्रथम की मृत्यु हो जाती है। उसी समय बाहर सामंत कुमार शकसेना को ध्वस्त कर जयनाद के साथ भीतर प्रवेश करते है।

प्रथम और द्वितीय अंकों में जिन राजनीतिक एवं धार्मिक प्रश्नों का उल्लेख है उनका नाटकीय उत्तर ही तृतीय अंक मे है। यदि राजा अयोग्य और कापुरुष हो तो प्रजा उसे पदच्युत कर सकती है। उसके स्थान पर किसी उपयुक्त अधिकारी की स्थापना ही साम्राज्य के लिए मंगलकारिणी हो सकती है। धर्म के क्षेत्र में भी सुधार की व्यवस्था होती है। यदि किसी प्रकार एक धर्मकृत्य किसी समय समुचित प्रतीत हुआ और आगे चलकर उस कृत्य मे पाप का कालुष्य लक्षित हुआ तो उस धर्मकृत्य की सत्यता पर संदेह होना न्यायत प्राप्त है, अतएव उसका संशोधन भी आवश्यक है। ये ही दो विषय तृतीय अंक के आधार हैं। विजय प्राप्त करके भी ध्रुवस्वामिनी और चंद्रगुप्त प्रमत्त नहीं होते। फल-प्राप्ति उस समय तक संभव नहीं

होती जब तक धर्मनीति और राजनीति के दोनों क्षेत्रों के व्यवस्थापक कर्तव्य को वैध न बताएँ। ध्रुवस्वामिनी और चद्रगुप्त का सबध तक स्थिर नहीं हो पाता जब तक धर्माधिकारी और सामतों की आज्ञा नहीं प्राप्त होती है। इस स्थिति तक पहुँचने मे रामगुप्त की वह क्रूर आज्ञा सहायक होती है जिसके कारण मिहिरदेव और कोमा के साथ अन्य शकों का निरीह वध किया गया था। सभी सामत इस अनधिकार क्रूर आज्ञा के विरुद्ध हो जाते हैं। धर्माधिकारी की दृष्टि मे भी पुनर्विचार आवश्यक हो जाता है। वह रामगुप्त से ध्रुवस्वामिनी के 'मोक्ष' की व्यवस्था देता है। परिषद् भी एक स्वर से रामगुप्त को अधिकारच्युत कर चद्रगुप्त को सम्राट्-पद देती है। इसी स्थल पर नाटककार ने बडी कुशलता से रामगुप्त की मृत्यु का दृश्य दिखाया है। सब प्रकार से पदच्युत और अपदस्थ होने पर रामगुप्त का पागल हो उठना अत्यत प्रकृत ज्ञात होता है। उसका उद्विग्न होकर सहसा चंद्रगुप्त पर पीछे से प्रहार करना वस्तुस्थिति के सर्वथा अनुकूल ही है। इस पर किसी सामंत का चद्रगुप्त की रक्षा के निमित्त रामगुप्त पर आक्रमण कर बैठना उपयुक्त और प्रकृत है। जिस क्रम से तृतीय अक की घटनावली चली है वह नाटक के पर्यवसान मे सहायक हुई है और उसी के बल पर अभीप्सित फल की प्राप्ति हो सकी है।

अंक और दृश्य

सपूर्ण नाटक तीन अंकों मे विभाजित है और प्रत्येक अक में केवल एक दृश्य है। वे दृश्य अपने ही मे पूर्ण और धारावाहिक हैं। सारा कथानक इन्हीं अकों के अनुकूल तीन खंडों में विभक्त है। प्रत्येक अक एव खड की घटनाएँ और कार्य-व्यापार एक-स्थानीय ही हैं। अत: इनका जमाव बहुत ठीक जडा है। दृश्य की धारावाहिकता से व्यापारों के क्रमिक गुफन और क्रमत प्राप्त उनके सर्वविध अभिनय का बडा सुदर योग हुआ।

प्रत्येक दृश्य के आरभ मे और उन सब स्थलों पर जहाँ दृश्य के बीच मे नवीन पात्रों के प्रवेश के कारण वस्तुस्थिति मे परिवर्तन की आवश्यकता पड़ी है, वहाँ सूचनाओं द्वारा इस प्रकार परिचय दिया गया है कि स्थल एवं विषय-संबंधी कोई ज्ञातव्य शेष नहीं रह जाता।

रंगमंच की सुविधा और अनुकूलता का जितना विचार 'प्रसाद' ने इस नाटक मे रखा है और किसी अन्य मे नहीं। अल्प से अल्प दृश्य भी सीधे और अकन मे सरल हैं। यह सरलता देश काल-पात्र के ज्ञान मे किसी प्रकार की न्यूनता नहीं आने देती। थोडी सजावट और दो पर्दों से पूरे नाटक का अभिनय हो सकता है। एक पर्दा युद्ध-भूमि अथवा शिविर का आवश्यक है और दूसरा दुर्ग अथवा प्रकोष्ठ का। हॉ—उसकी सजावट मे अवश्य ही देश-काल के परिचय-निमित्त विशेष कुशलता अपेक्षित होगी।

आरंभ, कार्य-व्यापार की तीव्रता और फल-प्राप्ति

अपने नाटकों के आरंभिक एव अतिम दृश्यों के उपस्थित करने मे लेखक सदैव विशेष चातुरी से काम लेता है। इसका रूप स्कदगुप्त और चद्रगुप्त मे तो देखा ही जा चुका है। इस नाटक मे भी आरभ और अत बड़ा ही आकर्षक एवं प्रभावुक दिखाई पडता है। आरभ मे जिस प्रकार के प्राकृतिक सौंदर्य की भव्यता के बीच गुप्तकुल की लक्ष्मी महादेवी ध्रुवस्वामिनी का प्रवेश कराया गया है और वस्तु-स्थिति एव चरित्र की जिस गंभीरता को समुख उपस्थित किया गया है, आकस्मिक आकर्षण के लिए उससे बढकर और कोई अन्य दृश्य क्या हो सकता है। ऐसे भव्य समारभ को पाकर सारे सामाजिक अवश्य ही तन्मय होकर विषय की ओर पूर्णतया आकृष्ट हो जायँगे।

इसके उपरांत फिर तो कार्य-व्यापारों का प्रवाह ऐसा तीव्र रूप धारण करता है कि जब तक पुन पटाक्षेप नहीं होता तब तक सामाजिक के हृदय तथा बुद्धि को अवकाश ही नहीं प्राप्त हो सकता कि वह दृष्टि अथवा विचार को इधर-उधर ले जाय। वस्तु-विकास के साथ-साथ कुतूहल की मात्रा भी बढ़ती चलती है। कार्य व्यापार की श्रृंखला तो अटूट रूप मे चलती ही है, उसके साथ-साथ मानव-मन की नाना अंतर्दशाओं के सघर्ष और उत्थान-पतन भी देखने को मिलते हैं। तीनों दृश्यों में सक्रियता का वेग आद्यंत प्रखर दिखाई पड़ता है। इस सक्रियता के आधिक्य से जहां कुतूहल, आकर्षण तथा वेदना की सजीवता की उत्तरोत्तर वृद्धि हुई है वहीं यह पात्रों के चरित्रांकन एवं कुलशील-परिज्ञान में कुछ बाधक भी हो गई है। इस नाटक में व्यक्तियों के चारित्र्य-उद्घाटन का समय ही नहीं मिल

सका है। कार्य-व्यापार की यह तीव्रता क्रमश बढ़ी है और प्रथम अंक की समाप्ति के साथ अपने पूर्ण उत्कर्ष पर पहुँच गई है। तदनतर तो रामगुप्त की मृत्यु और ध्रुवस्वामिनी की राज्य-प्राप्ति के साथ ही साथ शात हो सकी है। इस सक्रियता का वेग द्वितीय अक मे अवश्य कुछ कम हुआ है। कोमा, शकराज और मिहिरदेव के सवाद मे कार्य की तीव्रता उतनी नही है जितनी वस्तुस्थिति-ज्ञापन और विषय-विचार की। फिर भी इस स्थिति-ज्ञापन के परिणाम-रूप मे धूम्रकेतु-दर्शन का उद्वेग उत्पन्न होता है और ठीक उसके पश्चात् शकराज की मृत्यु का अबाध आगमन है।

इस प्रकार प्रत्येक अक का आरभ जैसे नवीन पात्रों और महत्त्व-पूर्ण नए-नए विषयों के साथ हुआ है वैसे ही प्रत्येक अक की समाप्ति भी इस क्रम से दिखाई पडती है कि नाटक के खडांशो की पूर्णता का स्पष्ट बोध हो जाता है। सपूर्ण अक मे प्रश्नों और समस्याओं की जो धारा चलती है उसका पूरा-पूरा उत्तर अक के अत मे मिल जाता है। अतएव अकों मे अतिम अश बड़े ही प्रभविष्णु हुए हैं। प्रथम अक के अंत में ध्रुवदेवी और चद्रगुप्त ऐसे विशिष्ट व्यक्तियों को साम्राज्य की समान-रक्षा मे अपने प्राणों की आहुति देने के लिए उद्यत देखते हैं। दूसरे अंक की समाप्ति राष्ट्र-शत्रु की मृत्यु के साथ होती है। तृतीय अंक का अत तो नाटक के समष्टि-प्रभाव का पोषक है ही। इस प्रकार नाटककार अकों का आरभ और अत दोनों का बड़े कौशल से संतुलन करता गया है।

ध्रुवस्वामिनी के इतिहास-प्रसिद्ध महिला होने के कारण नाटक का ध्रुवस्वामिनी नामकरण सर्वथा उपयुक्त ही है। इसके अतिरिक्त फल की प्राप्ति का भी यदि विचार किया जाय तो भी प्राधान्य ध्रुवस्वामिनी को ही प्राप्त होगा। फल दो हैं--राक्षस विवाह से मोक्ष तथा महादेवी-पद की सच्ची संप्राप्ति। ये दोनों घटनाएँ अन्योन्याश्रित हैं। इन दोनों की अधिकारिणी ध्रुवस्वामिनी बनती है और इन्ही को प्राप्त करने मे उसे आद्यत प्रयत्नशील होना पडा है। इसके लिए चद्रगुप्त सहायक रूप मे सम्मुख आया है, भले ही इस प्रयत्न मे उसका भी व्यक्तिगत लाभ हुआ हो, फल प्राप्ति का बाधक मुख्यतया रामगुप्त ही है न कि शकराज। इसीलिए शकराज का प्रसग बीच से उठता है और उसकी

समाप्ति भी बीच ही में हो जाती है। मुख्य विरोधी रामगुप्त अंत तक आया है और उसके पूर्ण पराभव एवं मृत्यु के साथ ही ध्रुवस्वामिनी को द्वितीय फल की प्राप्ति हुई है। वस्तुत मोक्ष तो रामगुप्त के जीवित रहते ही धर्मविरुद्ध मान लिया जाता है परंतु राजाधिराज चद्रगुप्त के साथ वास्तविक महादेवी-रूप मे ध्रुवस्वामिनी का जयजयकार उसके वध हो जाने पर ही होता है।

कार्य की अवस्थाएँ

कार्य की पाँचों अवस्थाओं का विभाजन तीन अंकों मे बड़े ही सुदर ढग से हुआ है। आरभ और प्रयत्न की प्रथम अंक में, प्राप्त्याशा की द्वितीय अंक मे और नियताप्ति एव फलागम की तृतीय मे स्थापना हुई है। यों तो नाटक के आरभ मे ही मुख संधि से विरोध का कारण स्पष्ट दिखाई देने लगता है। ध्रुवस्वामिनी कहती है—'मुझ पर राजा का कितना अनुग्रह है, वह भी आज तक मै न जान सकी। मैने तो कभी उनका मधुर संभाषण सुना ही नहीं। विलासिनियो के साथ मदिरा मे उन्मत्त, उन्हें अपने आनद से अवकाश कहाँ'। दूसरी ओर प्राय. उसी स्थल पर जो उसके हृदय मे चंद्रगुप्त के प्रति अनुरागोदय होता है वह भी फल प्राप्ति के आरंभ की स्पष्ट सूचना है। परंतु आरंभ नाम की कार्यावस्था वस्तुतः वहाँ से चलती है जहाँ ध्रुवस्वामिनी ने अपना निश्चय प्रकट किया है—'पुरुषों ने स्त्रियों को अपनी पशु-संपत्ति समझकर उन पर अत्याचार करने का अभ्यास बना लिया है, वह मेरे साथ नहीं चल सकता। यदि तुम (रामगुप्त) मेरी रक्षा नहीं कर सकते, अपने कुल की मर्यादा, नारी का गौरव, नही बचा सकते, तो मुझे बेच भी नहीं सकते'। यहाँ से यह स्पष्ट बोध होने लगता है कि वह राष्ट्र और अपने पद-गौरव की रक्षा के लिए पूर्णतया तत्पर तथा कृतनिश्चय हो गई है। यही फल प्राप्ति का आरंभ है। इसके उपरांत प्रयत्न की अवस्था वहाँ से चलती है जहाँ ध्रुवस्वामिनी आत्महत्या करने के लिए संनद्ध होती है परतु सहसा चद्रगुप्त के आगमन से उसका वह व्यापार रुक जाता है और स्थिति में परिवर्तन उत्पन्न होता है। फिर तो चंद्रगुप्त को सहयोग में पाकर ध्रुवस्वामिनी प्रयत्न-पक्ष का विचार करती है। प्रयत्न नाम की कार्यावस्था वहाँ से आरंभ होती है जहाँ उसने अपना यह मंतव्य प्रकट किया है—'तो कुमार

(चंद्रगुप्त) हम लोगों का चलना निश्चित ही है। अब इसमें विलंब की आवश्यकता नहीं'। शकराज का सामना करने का यह निश्चय फल-प्राप्ति के लिए प्रयत्नरूप मे है। इसी प्रवाह और प्रसंग मे पूर्वोक्त अनुरागोदय भी पुष्ट रूप धारण करता है। इसी प्रयत्न के लिए वह कहती है—'हम दोनों ही चलेंगे। मृत्यु के गह्वर मे प्रवेश करने के समय मे भी तुम्हारी ज्योति बनकर बुझ जाने की कामना रखती हूँ'।

इसके उपरांत द्वितीय अंक भर मे केवल प्राप्त्याशा का ही प्रसंग चलता है। प्रयत्न का जो रूप प्रथम अंक मे उठता है वह शकराज की मृत्यु तक आता है। चंद्रगुप्त द्वारा शकराज का वध होने पर ही उस फल की प्राप्ति की आशा होती है जिसके लिए ध्रुवस्वामिनी प्रयत्नशील बनी थी। इस वध के कारण उसे जो नैतिक बल मिलता है उसी के सहारे वह अपने प्राप्य की ओर अग्रसर हो सकी है। इस घटना के आधार पर रामगुप्त का व्यक्तित्व गिरता और ध्रुवस्वामिनी का चारित्र्य महत्त्व प्राप्त करता है, साथ ही चंद्रगुप्त के साथ उसके आजीवन संबंध की नैतिकता सिद्ध होती है। शकराज की पराजय के साथ ही ध्रुवस्वामिनी और चंद्रगुप्त अपने अभीप्सित फल की ओर शीघ्रता से बढ़ सके हैं, इसलिए यह वध ही प्राप्त्याशा का रूप है।

तृतीय अंक के आरंभ मे ही ध्रुवस्वामिनी शकदुर्ग-स्वामिनी के रूप मे दिखाई देती है, परंतु उसका वह रूप फल-प्राप्ति का बोधक नहीं हो सकता क्योंकि अभी मार्ग मे दो बाधाएँ अवशेष हैं। यह वर्तमान स्थिति तो उस प्राप्त्याशा की सूचक मात्र है। अभी वैवाहिक मोक्ष और साम्राज्य के सहायक सामंतों की स्वीकृति तो अपेक्षित ही है। मोक्ष को धर्माधिकारी विहित मान लें और सामंतगण रामगुप्त की अयोग्यता स्पष्ट रूप से समझकर परिवर्तन की घोषणा कर दें, तब ध्रुवस्वामिनी के अभीप्सित फल की प्राप्ति का निश्चय हो सकता है। तृतीय अंक के आरंभ में ही जो पुरोहित का सामना हुआ है वह मोक्ष-फल को सिद्ध करने के लिए है। कर्मकांड के विरोधस्वरूप ध्रुवस्वामिनी का यह प्रश्न ही इस विवाद को उठाता है—'आपका कर्मकांड और आपके शास्त्र, क्या सत्य है, जो सदैव रक्षणीया स्त्री की यह दुर्दशा हो रही है'। प्रसंग के अंत में आते-आते इस प्रश्न का

उत्तर धर्माध्यक्ष देता है—'यह रामगुप्त मृत और प्रव्रजित तो नही पर गौरव से नष्ट, आचरण से पतित और कर्मों से राजकिल्विषी क्लीब है। ऐसी अवस्था मे रामगुप्त का ध्रुवस्वामिनी पर कोई अधिकार नही। × × × मै स्पष्ट कहता हूँ कि धर्मशास्त्र, रामगुप्त से ध्रुवस्वामिनी के मोक्ष की आज्ञा देता है'। इस स्थिति के पूर्व ही शकराज के वध से उत्पन्न हुई फल-प्राप्ति की आशा वहाँ निश्चय का रूप धारण कर लेती है जहाँ चद्रगुप्त ने अपने मन मे यह निश्चय किया था—'ध्रुवदेवी मेरी है। (ठहरकर) हाँ, वह मेरी है, उसे मैने आरभ से ही अपनी सपूर्ण भावना से प्यार किया है'। इसी समय निरीह शकों के सहार से उद्विग्न सामत-कुमार का यह मत—'मै सच कहता हूँ कि रामगुप्त जसे राजपद को कलुषित करनेवाले के लिए मेरे हृदय मे तनिक भी श्रद्धा नहीं'—फल-प्राप्ति का निश्चय करा देता है। इस स्थल को नियताप्ति का बोधक समझना चाहिए। यहाँ पहुँचकर ध्रुवदेवी को अभीप्सित फल प्राप्त हो जायगा यह निश्चय होता है। इसके उपरात, प्राप्ति का निश्चय हो जाने पर तो, भावी कार्यक्रम सरलगति से स्वयमेव अग्रसर होता चलता है।

चरित्रांकन

अन्य नाटकों की भाँति 'प्रसाद' के इस नाटक मे पात्रों की अधिकता नही है। प्रमुख पात्रों मे केवल तीन है—ध्रुवस्वामिनी, रामगुप्त और चंद्रगुप्त। प्रतियोगी भी तीन ही हैं—शकराज, कोमा और शिखरस्वामी। **मंदाकिनी** तो केवल ध्रुवदेवी के कंठ से कठ मिलाकर बोलनेवाली उसकी सहचरी मात्र है। उसका अपना कोई स्वतत्र व्यक्तित्व है—ऐसा नहीं मालूम पड़ता। समय समय पर प्रसग पाकर ध्रुवदेवी की बातों मे बल दे देती है अथवा उसके हृदयगत भावों के शाब्दिक प्रसार का मार्ग निर्दिष्ट करती चलती है। **मिहिरदेव** एक क्षण के लिए ही संमुख आया है परतु उसके स्वरूप का वैलक्षण्य प्रभावशाली है। उसका सौम्य उपालंभ उसके व्यक्तित्व को ऊपर उठा देता है। वह एक ओर काम से अभिभूत शकराज को समझाने की चेष्टा करता है कि 'नीति का विश्व-मानव के साथ व्यापक सबंध है और दो प्यार करनेवाले हृदयों के बीच मे स्वर्गीय ज्योति का निवास है',

दूसरी ओर लताओं, वृक्षों और चट्टानों की शीतल छाया एव सहानुभूति पर विश्वास करके झरनो के किनारे, दाख के कुंजों मे सतोष-पूर्वक विश्राम करना अधिक मंगलकारी समझता है। नील लोहित रंग के धूम्रकेतु को शकदुर्ग की ओर भयानक संकेत करता देखकर वह भविष्यदर्शी दार्शनिक शकराज को चेतावनी देता हुआ हमारी दृष्टि से ओझल हो जाता है।

शकराज के लिए पूरा अक ही दिया गया है, परतु उसके चरित्र का कोई विकास-क्रम नही दिखाई पडता। वह एकरस कस के समान दंभ और अभिमान का प्रतिनिधि है। सौभाग्य और दुर्भाग्य को मनुष्य की दुर्बलता का भय और पुरुषार्थ को ही सबका नियामक समझता है। अपने से भी महान् कुछ है इस पर उसे विश्वास नहीं। भौतिक सुख और विलास मे परम आनद मानता है। यही कारण है कि वह कोमा की भाव उच्चता का कुछ भी विचार नहीं कर पाता। भौतिकता का वह पुजारी जब धूम्रकेतु का अशुभ दर्शन करता है तब भय से विह्वल हो उठता है। उस पापी का दुर्बल हृदय कॉपने लगता है और कोमा तक से रक्षा और सहायता की वह प्रार्थना करता है। उसके चरित्र की यह दुर्बल नि.सारिता अवश्य ही दयनीय है।

प्रसगानुसार **पुरोहित** का चरित्र भी महत्त्वपूर्ण है, वस्तुस्थिति का पूर्णतया अध्ययन करके तथा स्त्री और पुरुष के परस्पर विश्वास-पूर्वक अधिकार रक्षा और सहयोग मे व्याघात उत्पन्न होते देखकर वह पुन धर्मशास्त्र के अनुकूल व्यवस्था देने पर तत्पर हो जाता है। 'कही धर्मशास्त्र हो तो उसका मुँह खुलना चाहिए' ऐसी ललकार सुनकर वह निर्भीक पुरोहित चुप नही रह सकता और राज-भय की रचमात्र चिंता न करते हुए अपने अधिकार पर अड़ जाता है। शिखरस्वामी और रामगुप्त की अवहेलना करते हुए वह स्पष्ट घोषित करता है कि 'ध्रुवदेवी पर रामगुप्त का कोई अधिकार नही, धर्म-शास्त्र इस प्रकार की मोक्षव्यवस्था की स्वीकृति देता है'।

कोमा

कोमा आचार्य मिहिरदेव की प्रतिपालिता कन्या है। यौवन के स्पर्श से सद्य.प्रफुल्ल कुसुम-कलिका की भाँति कोमल भावनाओं से ओतप्रोत है। प्रणय का तीव्र आलोक उसकी आँखों मे समाया है।

वह प्रेम करने की ऋतु का आनंद ले रही है, जिसमें चूकना, और सोच-समझकर चलना दोनों बराबर है। वह यौवन की चचल छाया मे बैठी हुई प्रेम के एक घूँट रस के आस्वादन की कामना कर रही है। शकराज उसके प्रेम का विषय है। प्रेमपूर्ण भावुकता उसके चरित्र की सबसे बड़ी विभूति है, परतु वह जीवन की यथार्थ स्थितियों का भी महत्त्व समझती है। इसी बल पर संघर्ष मे पडे हुए शकराज को वह समझाने का प्रयत्न करती है। उसकी भावुकता मे दार्शनिकता का योग है। मानव-शक्ति से परे भी एक महाशक्ति है, इसे वह मानती है। अभावमयी लघुता मे मनुष्य जो अपने को महत्त्वपूर्ण दिखाने का अभिनय करता है यह उसे अच्छा नही लगता। वह पाषाणो के भीतर बहनेवाले मधुर स्रोत की शीतल जलधारा की भाँति निर्मल और शातिमयी रहना चाहती है।

अपनी भावुकता के प्रवाह मे कोमा से एक गहरी भूल हो गई है। वह अपनी प्रकृति से सर्वथा भिन्न प्रकृतिवाले शकराज से प्रेम ठान बैठी है। वह भावलोक की मधुर रेखा की भाँति सूक्ष्म और उसका प्रिय भौतिक जगत् के पाषाण की तरह स्थूल। कुछ विलब हो जाने पर कोमा इस वैषम्य को समझ सकी है। उसकी दार्शनिक बुद्धि यह तो जानती ही है कि 'ससार मे बहुत सी बातें बिना अच्छी हुए भी अच्छी लगती ही हैं'। मानव-मनोविज्ञान के इस विषम सत्य के गांभीर्य से वह पूर्णतया परिचित तो है परतु अभी तक उसे विश्वास था कि शकराज उससे प्रेम करता है। उसकी 'स्नेह-सूचनाओं की सहज प्रसन्नता और मधुर आलापों पर' उसने आत्मसमर्पण अवश्य कर दिया है, फिर भी प्रेम मे सर्वथा मतवाली और अंधी नही हुई है। अभी उसमे विवेक-बुद्धि सजग ही है। इसी बल पर वह शकराज के राजनीतिक प्रतिशोध का स्पष्ट विरोध करती है। अपने ही समान एक कुलीन नारी का ऐसा पाशविक अपमान वह नहीं सहन कर सकती। उसके जीवन में इसी स्थल पर विवेक और मोह का कठोर संघर्ष दिखाई पड़ता है और इसी संघर्ष मे पड़ा हुआ उस कोमल रमणी का स्वरूप और भी निखर उठता है। यही स्थल उसके व्यक्तित्व का चरम उत्कर्ष है। मिहिरदेव इस मोह-बधन को तोड़कर मुक्त होने का आदेश देता है। इस पर वह व्यथित हो उठती है—'(सकरुण) तोड़ डालूँ

पिता जी। मैने जिसे आँसुओं से सींचा, वही दुलार-भरी वल्लरी, मेरे आँख बद कर चलने मे मेरे ही पैरों से उलझ गई है। दे दूँ एक झटका उसकी हरी हरी पत्तियाँ कुचल जाँय और वह छिन्न होकर धूल मे लोटने लगे। ना, ऐसी कठोर आज्ञा न दो।' परतु मोह पर विवेक की विजय ही मगल का सर्वोत्तम विधान है। वह विवेकशीला युवती शकराज के अनुचित कार्य-व्यापार का समर्थन किसी प्रकार नहीं कर सकती है। इस व्यापार मे उसे सपूर्ण नारी-जगत् का अपमान दिखाई पड़ता है। अतएव वह अपने पिता के साथ चली जाती है। चली तो जाती है परतु शकराज के वध के उपरांत जिस विश्वास-भरे दैन्य के साथ वह उसका शव माँगने के लिए ध्रुवदेवी के पास आती है उसी मे स्त्रीत्व का शाश्वत रूप प्रकट होता है। इस स्थल पर संपूर्ण दार्शनिकता को पराजित करता हुआ अखड नारीत्व जागता दिखाई पड़ता है।

रामगुप्त और शिखरस्वामी

रामगुप्त और शिखरस्वामी एक ही धातुखंड के दो टुकडे हैं। दोनों में सिद्ध साधक-सबध है। रामगुप्त अयोग्य शासक एवं दुर्बल चरित्र का व्यक्ति है। उसका यही रूप आद्यत दिखाई पडता है। उसके सम्मुख जो विकट स्थितियाँ खड़ी होती हैं उनके अनुकूल उसमे बुद्धि और शक्ति नहीं है। सबसे बडी चिता उसे यही है कि 'जगत् की अनुपम सुदरी उससे प्रेम नहीं करती और वह है इस देश का राजाधिराज'। उसकी पत्नी ध्रुवदेवी चद्रगुप्त से प्रेम करती है। वह जानता है कि ध्रुवदेवी के हृदय मे चद्रगुप्त की आकाक्षा धीरे-धीरे जाग रही है। इस स्थिति के सँभालने का जो प्रयास वह करता है उसमे बुद्धि का योग नहीं है। वह आदेश देता है—'ध्रुवदेवी से कह देना चाहिए कि वह मुझे और मुझे ही प्यार करे। केवल महादेवी बन जाना ठीक नहीं'। ऐसे आदेशों एवं बुद्धिहीन व्यवहारों मे जैसी मूर्खता दिखाई पड़ती है वस्तुत वह सच्ची नहीं है, क्योंकि उसके भीतर से एक गूढ़ उद्देश्य ध्वनित होता रहता है। उसके यथार्थ रूप का कुछ ज्ञान इस सवाद से प्रकट हो जाता है—'सहसा मेरे राजदड ग्रहण कर लेने से पुरोहित, अमात्य और सेनापति लोग छिपा हुआ

विद्रोह-भाव रखते हैं। (शिखर से) है न ! केवल एक तुम्ही मेरे विश्वास-पात्र हो। समझा न ! यही गिरिपथ (शक-अवरोध) सब झगड़ों का अंतिम निर्णय करेगा। क्यों अमात्य, जिसकी भुजाओं मे बल न हो उसके मस्तक मे तो कुछ होना चाहिए'।

इस विरोध-भाव का मूल कारण वह चद्रगुप्त को ही मानता है। इसीलिए शकराज के पास ध्रुवदेवी के साथ ही उसे भी भेजकर त्राण पाना चाहता है। उसके भीतर घोर दुरभिसंधि की आँधी चल रही है और उसमें प्रधान सहायक है उसका विश्वास-भाजन शिखरस्वामी। वही उसके मतव्यों को व्यवहार मे संमुख रखता है। शिखर बडा चतुर और व्यवहारकुशल है। वस्तुस्थिति के अनुसार अपने को यथास्थान ठीक से बैठा लेता है। अपने स्वार्थ को भली-भाँति पहचानकर उसकी रक्षा मे सब कुछ करने को तैयार है—यह नाटक के अत मे स्पष्ट हो जाता है। पहले तो सबके विरुद्ध रहने पर भी स्वर्गीय आर्य समुद्रगुप्त की आज्ञा के प्रतिकूल उसी ने रामगुप्त का समर्थन किया था परंतु अत मे बना-बनाया खेल बिगड़ता देखकर अपने स्वार्थ को सुरक्षित रखने के लिए परिषद् की आज्ञा और निर्णय मानना, रामगुप्त के पक्ष मे भी, उचित बताने लगता है।

रामगुप्त भीतर और बाहर के सब शत्रुओं को एक ही चाल में परास्त करने की बात सोचता है। अपने इस उद्देश्य की सिद्धि मे भले ही वह अपने को कामुक, विलासी, लपट और प्रमादी प्रमाणित करता चला हो। अपनी सिद्धि के लिए गुप्तकुल की मर्यादा और संमान का भी विचार करने को वह तैयार नही। युद्ध का भय और प्राण का मोह तो केवल आवरण मात्र है। मूल अभिप्राय तो वही सिद्धि है। उसके लिए अपने सबसे बडे दायित्व की भी वह उपेक्षा करता है। विवाह के समय वह जिन प्रतिज्ञाओं से ध्रुवदेवी को पत्नी-रूप मे ग्रहण कर चुका है उनकी उसे कुछ परवाह नहीं। विवाह-मडप में पुरोहितों ने न जाने क्या क्या पढा दिया। उन सब बातों का बोझ उसके सिर पर नहीं हो सकता। बारंबार ध्रुवदेवी ने अपने गुप्तकुल के वधूत्व और उसकी मर्यादा का स्मरण दिलाया, अपने स्त्रीत्व को लेकर अनुनय-विनय की, परंतु अपने स्वार्थ के कुचक्र मे पड़ा वह रंचमात्र भी विचलित नहीं होता।

अत मे वह स्पष्ट ही कह देता है—'तुम, मेरी रानी ! नहीं, नहीं, जाओ, तुमको जाना पडेगा, तुम उपहार की वस्तु हो। आज मैं तुम्हे किसी दूसरे को दे देना चाहता हूँ, इसमे तुम्हे क्यों आपत्ति हो।' जिस पद और अधिकार की लिप्सा के लिए उसने संपूर्ण गुप्तकाल के गौरव एवं अपने व्यक्तित्व को इतना गर्हित बनाया उसे जब वह जाते देखता है तो किंकर्तव्यविमूढ हो जाता है, सशंक, भयभीत, व्यथित और निराश हो उठता है। अपनी बुद्धि और अपने शरीर पर उसका स्वय अधिकार नही रह पाता। सब अनिष्टों के शकित मूल कारण चद्रगुप्त पर सहसा पीछे से आक्रमण कर बैठता है और परिणामरूप मे वह स्वय मारा जाता है।

चंद्रगुप्त

स्वर्गीय सम्राट् समुद्रगुप्त द्वारा निर्वाचित उत्तराधिकारी चद्रगुप्त गुप्तकाल की गौरव-रक्षा के विचार से ही शासन-भार रामगुप्त के ऊपर छोड देता है। प्रकृति से ही वह वीर, उदार, निर्भीक और कर्तव्यपरायण है। अपने समान और संपूर्ण गुप्तकुल के गौरव का विचार रखनेवाला वह युवक अपने बाहुबल और भाग्य पर विश्वास रखता है। उस प्रियदर्शी कुमार की स्निग्ध, सरल और सुदर मूर्ति को देखकर कोई भी प्रेम से पुलकित हो सकता है। उसके हृदय मे ध्रुवस्वामिनी के लिए अनन्य अनुराग स्थापित हो चुका है, परंतु वस्तुस्थिति से वह विवश है। विवेक-बल के कारण अपने हृदय पर पूर्ण नियत्रण रखता है। इस बात को वह कभी भूल नहीं पाता कि वह उसकी वाग्दत्ता पत्नी है और उसे उसने 'आरंभ से ही अपनी सपूर्ण भावना से प्यार किया है'। उसके अतस्तल से निकलकर वह मूक स्वीकृति बोलती भी है। उसी को आत्महत्या के लिए उद्यत देखकर वह क्षुब्ध हो उठता है। उसी को शकराज के पास उपहार-रूप मे भेजते देखकर उसका पुरुषत्व उद्दीप्त एवं सक्रिय हो उठता है। स्वयं नारी-वेश में शकराज के पास जाकर उसका वध करता है। इसी नारी-अपमान के प्रतिकार-स्वरूप वह रामगुप्त की सारी दुरभिसंधि को नष्ट करके पुन कुल के गौरव की स्थापना करता है। यह नारी का अपमान नहीं इसे तो वह गुप्त गौरव की मृत्यु मानता है। इसीलिए वह इस राजनीतिक क्रांति के लिए तत्पर हुआ है। इस

क्रांति में उसके चरित्र-प्रधान व्यक्तित्व का विशेष स्थान है। उसका चरित्र नायकोचित है और नाटक भर मे उसके चरित्र का विकास भी भव्य दिखाया गया है।

ध्रुवस्वामिनी

नाटक मे प्रधान पात्र ध्रुवस्वामिनी है। सारे कार्य-व्यापारों के मूल से उसी का संबंध है और प्रधान फल की उपभोक्त्री भी वही है। ऐसी अवस्था मे अन्य सभी पात्र उसके व्यक्तित्व को भली भाँति समझने मे सहायता देनेवाले हैं। रामगुप्त का चरित्र उसके पत्नीत्व और नारीत्व के यथार्थ रूप को पूर्णतया जगाने मे सहायता करता है। चंद्रगुप्त एवं मंदाकिनी के संपर्क से उसका प्रेमिका-स्वरूप स्पष्ट हो उठता है। शकराज उद्दीपन का काम करता है। इस प्रकार सभी अन्य पात्र उसके चरित्र की विभिन्न वृत्तियों के आलंबन और उद्दीपन की भाँति चारों ओर घूमते दिखाई पड़ते हैं।

ध्रुवस्वामिनी का चरित्र बुद्धिप्रधान है। यों तो चद्रगुप्त के संबध से उसके हृदय-पक्ष का दर्शन भी भली-भाँति हो जाता है। गर्व की वह प्रतिमा है और आत्मसमान का भाव भी उसमे प्रबल है। दूरदर्शी एवं व्यवहारकुशल होने के कारण उसके मतव्यों मे गभीरता और स्थिरता दिखाई पड़ती है। आरंभ मे वह खिन्न और कातर अवस्था मे बदिनी की भाँति है। मर्यादा और अधिकार का विचार उसके प्रत्येक कार्य-व्यापार से लक्षित होता है। इसीलिए विरोध का भाव दु:ख-प्रकाशन के रूप मे होता है। उसके विरोध का कारण प्रधानत: रामगुप्त का व्यक्तिगत व्यवहार है। उसमें न तो वह सौजन्य और सुशीलता पाती है और न किसी प्रकार का ऐसा ममतापूर्ण संबंध देखती है जिसके बल पर उसे अपना कह सके। वह तो अपने को महादेवीत्व के बंधन मे बँधी एक राजकीय बदिनी के रूप मे पाती है। इसी अभाव के चीत्कार के बीच प्रसंगानुसार उसको चंद्रगुप्त का स्मरण हो उठता है और उसकी भावनाएँ निरंतर उसकी ओर मधुरतर होती जाती हैं।

इसी समय परिस्थितियों की परवशता बताकर एक राजनीतिक चाल के रूप में रामगुप्त उसे उपहार की तरह शकराज के पास भेजने का आदेश देता है जिससे उसके मन में रामगुप्त के प्रति

और अधिक घृणा उत्पन्न हो जाती है। एक तो वह यों ही उसे कापुरुष मानती आई है, उस पर गुप्तकाल के गौरव के विरुद्ध और मर्यादापूर्ण दाम्पत्य के विरुद्ध कार्य करते देखकर वह उसे पशु समझने लगती है। फिर भी पत्नीत्व की लज्जा रखने के लिए वह एक बार हृदय पर पत्थर रखकर अपने पति रामगुप्त से याचना करती है—'आज मै शरण की प्रार्थिनी हूँ। मै स्वीकार करती हूँ कि आज तक मैं तुम्हारे विलास की सहचरी नहीं हुई, किंतु वह मेरा अहकार चूर्ण हो गया है। मै तुम्हारी होकर रहूँगी'। इस विवशता मे मर्यादा-निर्वाह की आकाक्षा स्पष्ट लक्षित होती है। परतु इसके उत्तर में भी—'तुम, मेरी रानी! नहीं, नहीं। जाओ, तुमको जाना पड़ेगा। तुम उपहार की वस्तु हो'—सुनकर उसमे तात्कालिक परिवर्तन उत्पन्न होता है। अपने को सर्वथा अरक्षित पाकर उसके भीतर से वह शाश्वत नारीत्व गरज उठता है जिसके बल पर नारी-जगत् अनत काल से अपने प्राण-धर्म की रक्षा करता आ रहा है। इसीलिए वह गुप्तकाल की लक्ष्मी छिन्नमस्ता का रूप धारण करती है। वह निश्चय कर लेती है—'मेरा हृदय उष्ण है और उसमे आत्मसमान की ज्योति है। उसकी रक्षा मैं ही करूँगी'। इसी निश्चय के अनुसार वह आत्महत्या के लिए सनद्ध होती है, उसी समय कुमार चद्रगुप्त के सहसा आ जाने और विरोध करने से फिर उसमे दूसरे प्रकार का परिवर्तन उत्पन्न होता है। इस परिवर्तन में मोह और कर्त्तव्य की प्रेरणा है। वह फिर निश्चय करती है—'नही मैं नहीं मरूँगी, आत्महत्या नहीं करूँगी'। फिर तो चंद्रगुप्त का योग पाकर वह नि शंक साहस से कहती है—तो कुमार हम लोगों का चलना निश्चित ही है। अब इसमें विलब की आवश्यकता नहीं। आज मेरी असहायता मुझे अमृत पिलाकर मेरा निर्लज्ज जीवन बढाने के लिए तत्पर है'। इस जीवन के बढाने मे ही उसे अन्याय के प्रतिकार का अवसर मिल सकता है, और यही अवसर उसके जीवन के लिए कल्याण का मार्ग बन सकता है। इसी अभिप्राय से निर्भीकता और दृढ़ता के साथ वह शकदुर्ग में पहुँचती है और वहाँ भी बडे धैर्य से सब विपम स्थितियों का सामना करती है। इस विवशता मे जब उसे अपने भविष्य से लड़ने और अपने भाग्य का निर्माण-कार्य अपने हाथों मे लेने की आवश्यकता उपस्थित

होती है उस समय उसने जिस तत्पर बुद्धि से काम लिया है वही उसके विचार की दृढता और चरित्र की विशेषता है।

यहाँ तक तो उसने रामगुप्त एवं शकराज से युद्ध किया। अब उसे उस राक्षस-विवाह का विरोध करना है जिसके परिणाम में यह घोर जन संहार हुआ और गुप्त साम्राज्य के गौरव को धक्का लगा। कर्मकांड तथा धर्मशास्त्र के प्रतिनिधि पुरोहित के समुख आते ही ध्रुवस्वामिनी उस महत्त्वपूर्ण प्रश्न को उठाती है जो सदैव से विचार-शील महिला-जगत् की एक अनसुलझी समस्या है—'आपका कर्म-काण्ड और आपके शास्त्र, क्या सत्य हैं, जो सदैव रक्षणीया स्त्री की यह दुर्दशा हो रही है'। पुरोहित इसका कोई संतोषप्रद उत्तर नहीं दे पाता। वह एक बार फिर धर्मशास्त्र को देखना चाहता है। इन्हीं राजनीतिक और वैयक्तिक संघर्षों में बराबर पड़ने के कारण ध्रुवस्वामिनी की व्यवहारबुद्धि अत्यंत कुशल हो गई है। इसका ठीक परिचय उस समय मिल जाता है जहाँ शक-संहार से क्षुब्ध सामंत-कुमार रामगुप्त के विरुद्ध हो जाते हैं। वहाँ एक ओर वह अपने दैन्य निवेदन से उन्हें उद्दीप्त करती है और दूसरी ओर अनुकूल वातावरण बाँधकर वह चंद्रगुप्त को भी खुलकर विरोध करने के लिए उत्साहित करती है। इस ढंग से वह समस्त परिषद्-मण्डल को अपने अनुकूल और रामगुप्त के विरुद्ध बनाती है, पुरोहित को पहले से ही वह परास्त कर चुकी है इसलिए अंतिम स्थल पर सारी परिस्थिति को अपने अनु-कूल देखकर पुरोहित भी ध्रुवदेवी के ही पक्ष में अपना निर्णय देता है।

समस्त नाटक में ध्रुवस्वामिनी के चरित्र का विकास बड़ा सुंदर दिखाया गया है। परिस्थितियों के कारण उसके चरित्र की एक-एक विशेषता क्रम से समुख आती गई है। परिस्थितियों ने उसके चरित्र का निर्माण किया है और उसने उन परिस्थितियों पर अधिकार प्राप्त कर उन्हें अपने अनुकूल बनाया है।

संवाद

इस नाटक में संवादों का विशेष औचित्य और सौंदर्य है। अजातशत्रु और स्कंदगुप्त आदि अन्य नाटकों की भाँति इसमें काव्या-त्मक शैली के कथोपकथन नहीं हैं। इसमें व्यावहारिकता का प्रयोग अधिक हुआ है। यही कारण है कि निरर्थक विस्तार भी नहीं होने

और वस्तु-निवेदन में भी सीधापन है। जहाँ कहीं तर्क-वितर्क
ग भी आ गए हैं वहाँ व्यवहार-संगत वाद-विवाद ही चला है,
विषय से विच्युत संवाद का अस्तित्व नहीं ज्ञात होता, जैसा
अजातशत्रु में शक्तिमती और दीर्घकारायण का अथवा स्कंदगुप्त
द्धों एव ब्राह्मणों का हो गया है। इस नाटक मे ध्रुवस्वामिनी
पुरोहित अथवा शकराज और कोमा के सवादों मे अनंग-कथन
य था, परंतु नाटककार ने सफलतापूर्वक उस रूक्षता से पीछा
या है। वे ही स्थल विशेष आकर्षक हैं क्योंकि उनमे पूर्ण व्याव-
कता का विचार रखा गया है। साधारण बातचीत मे कोई पक्ष
र दूसरे पक्ष के व्याख्यान सुनने और उत्तर देने का अवसर
की प्रतीक्षा को सहन नहीं कर सकता। इसलिए बातचीत
उत्तर-प्रत्युत्तर के रूप मे होती चलती है।

सवादों की दूसरी विशेषता है अनतिविस्तार। प्रथम एव द्वितीय
के आरभ मे ध्रुवस्वामिनी एवं कोमा के स्वगत भाषणों को
कर और कोई स्थल अधिक विस्तारयुक्त नहीं है। अकों के
भ मे होने के कारण इनका भी आधिक्य उतना खलता नहीं।
अतिरिक्त इन अशों मे उद्वेग होने के कारण भी आकर्षण बना
है। ऐसे स्थलों को छोडकर सर्वत्र सवाद सरल और
स्त ही मिलेंगे। इस लघुता का आनद खड्गधारिणी-ध्रुवदेवी,
गुप्त-शिखरस्वामी, शकराज-कोमा, शकराज-चद्रगुप्त-ध्रुवदेवी,
ध्रुवदेवी-पुरोहित इत्यादि के सवादा मे देखा जा सकता है।

तीसरी विशेषता है तीव्र सवेग। संपूर्ण नाटक मे संवाद बड़े ही
युक्त और आवेशपूर्ण हैं। इस नाटक के सवादों की यही सबसे
विशेषता है। ध्रुवदेवी, चद्रगुप्त और मदाकिनी उन पात्रों मे हैं
के संवादो मे प्रधानतः सवेग दिखाई पड़ता है। इसका कारण
है, ध्रुवदेवी और चद्रगुप्त को ही अधिक उद्योग करना पडा है
अपने अधिकारो के लिए उच्च स्वर से चिल्लाना पडा है। सबसे
क अन्याय भी उन्ही के प्रति हुआ है और सारा दायित्व उनको
हन करना पडा है। अतएव उनके स्वर मे तीखापन और आवेश
प्रकृत ही है। इनके वेगपूर्ण संवादों के कारण नाटक मे आद्यत

रगमंचीय अनुकूलता उत्पन्न हो गई है। साथ ही कहीं-कहीं सवादों मे साभिप्राय वक्रता एव विदग्धता भी मिलती है, जिससे विशिष्ट रचना-चातुरी प्रकट होती है। बौना, हिजड़ा और कुबड़ा के कथोपकथन मे इस प्रकार की सुदरता स्पष्ट दिखाई पड़ती है।

विशेषताएँ—पद्धति की नवीनता

रचना-पद्धति की नवीनता के विचार से यह रचना पूर्व रचनाओं से सर्वथा भिन्न है। वस्तु-विन्यास, चरित्रांकन, सवाद इत्यादि के विचार से भी इसमे नया रूप प्रकट होता है। वस्तु के तीन अंश केवल तीन अकों और तीन ही दृश्यों में इस क्रम से रख दिए गए हैं कि तीन भिन्न भिन्न स्थलों के घटना-व्यापारों को लेकर सुसगत रूप से एक पूरी कथा स्थापित हो जाती है। वेश-भूषा, स्थिति-परिचय और रगमंचीय सजावट आदि के विषय में विस्तृत निर्देश देने की वर्तमान परिपाटी इसी नाटक में प्रवेश पा सकी है। इसके पूर्व के नाटकों मे लेखक इनके विषय मे प्राय चुप ही दिखाई देता है। इस विस्तृत निर्देश के कारण अभिनेता और प्रबधक, विषय के अधिक समीप पहुँच सकते हैं और यथार्थता का निर्वाह भी सरलता से हो सकता है। चरित्राकन की नवीनता इस प्रकार से देखी जा सकती है कि कही भी किसी पात्र की प्रवृत्ति विशेष दिखाने के विचार से घटना-व्यापार बढाने की आवश्यकता नही पड़ी। कार्य के धारा-प्रवाह मे जिस पात्र की जो-जो मानसिक प्रवृत्तियाँ प्रकट होती गई हैं वे अपने आप स्पष्ट हैं। यही कारण है कि आधुनिक ढग की पाश्चात्य प्रणाली का चरित्रांकन इसमे नहीं स्वीकार किया है।

अभिनयात्मकता

अभिनयात्मकता इस नाटक की दूसरी विशेषता है। रंगमंच की अनुकूलता का जितना विचार इसमें दिखाई पड़ता है उतना चंद्रगुप्त और स्कंदगुप्त आदि नाटकों में नहीं है। थोड़े से थोडे पटों के परिवर्तन से सारा नाटक अभिनीत हो सकता है। अन्य नाटको मे स्थान-स्थान पर निरंतर इतने अधिक परिवर्तन की आवश्यकता पड़ती है कि कहीं तो उनका स्थापन अव्यावहारिक हो उठता है और कहीं असंभव। ऐसी अवस्था मे या तो उस दृश्य में इतना उलट-फेर करना पड़ता है,

कि वांछित रूप विकृत हो जाता है अथवा एक नवीन ही वस्तु की उद्भावना हो उठती है और उसका प्रभाव विरुद्ध हो जाता है। इस नाटक में केवल एक यवनिका और दो पटों से सारा काम चल सकता है, यदि धन और साधन अनुकूल हो तो तीनों अंकों के बीच मे प्रसगानुसार दोहरे पटों[1] का प्रबंध करने से सौंदर्य और आकर्षण बढाया जा सकता है। पाश्चात्य शास्त्रीय सकलन-त्रय का प्रकृत निर्वाह इस नाटक मे स्वयं ही हो गया है। सभी घटना-व्यापार प्राय समीप के ही स्थान मे घटित होते हैं। इसलिए एक पट पर्वत-प्रदेश का और दूसरा दुर्ग-प्रागण अथवा प्रकोष्ठ का आवश्यक है। सारी कार्यावली इसी प्रसार के भीतर दिखाइ जा सकती है। इस रंग-मचीय व्यवस्था के अतिरिक्त सवादों की वेगयुक्त तीव्रता और सक्रियता इस नाटक को अभिनेय बनाने मे विशेष रूप से सहायक हुई है।

समस्या

इधर कुछ दिनों से पाश्चात्य देशों में यथार्थवाद के प्रभाव में समस्या नाटकों की रचनाएँ अधिक होने लगी हैं। किसी समस्या को लेकर जो समष्टि-प्रभाव की स्थापना नाटकों मे की जाती है वह प्रभावपूर्ण होने पर भी अत्यंत रूक्ष होती है। उसका प्रधान कारण है वस्तु की एकनिष्ठता और समस्या की सर्वाभिभावकता। ममस्या के रूप को खड़ा करने मे ही लेखक का सारा कौशल समाप्त हो जाता है और इसी कारण नाटकत्व की उपेक्षा होती है। उनका रूप प्राय संवादों द्वारा प्रतिपादित सिद्धांत लेख सा दिखाई पडने लगता है। समस्या को जीवन का एक अग मानकर यदि उसी के उतार-चढाव के साथ इसे लगा दिखाया जाय अर्थात् यदि समस्या को अग और जीवन को अंगी मानकर किसी नाटक मे रखा जाय तो अधिक रुचिकर एवं प्रभविष्णु होगा। 'प्रसाद' ने भी ध्रुवस्वामिनी नाटक मे जहाँ रचापद्धति की नवीनता का उपयोग कर उसे\अभिनेय बनाने की पूरी चेष्टा की है वहीं बडे कौशल से उसमे एक समस्या का समावेश भी किया है।

इस नाटक में प्रधानत' नारी समस्या है। यह विषय सार्वभौम एवं सार्वकालिक है। समाज, कुटुब और कर्मकांड एवं धर्मशास्त्र मे

---

1. ड्राप्फर सीन

स्त्री का क्या स्थान है, सिद्धात तथा व्यवहार मे कहाँ और क्यों छ
आता है, इस अतर के कारण लोकमंगल-विधान मे क्या व्याघात
जाता है—इत्यादि अनेक प्रश्न इसी प्रसग पर खडे होते है। इ
प्रश्नों का उत्तर है—विवाह पद्धति, पति-पत्नी का सबंध, दोनों
व्यक्तिगत एव पारस्परिक धर्म। इस नाटक मे इन्ही प्रश्नों को ले
कथा चलती है। सारे व्यापार इसी नारी-समस्या से सबंध जोड
चलते है। केवल राजकुल की नीति से प्रभावित होकर, वर
कन्या की प्रकृति, योग्यता एव रुचि इत्यादि का बिना विचार किए
ध्रुवस्वामिनी को रामगुप्त से बाँध दिया गया है, वह उचित हुआ
नहीं यह विचार का विषय है और यदि सब प्रकार से यह प्रमा
हो कि यह धर्म तथा व्यवहार की दृष्टि मे अनुचित हो गया तो
क्या व्यवस्था दी जानी चाहिए—यही प्रश्न है—यही समस्या है।

ध्रुवदेवी और रामगुप्त का जो असम और रात्तस विवाह हुआ
उसका परिणाम व्यष्टि और समष्टि दोनो के लिए अमंगलकारी
होता है। आरभ से ही दोनो मे विरोध चल पडता है। रामगुप्त
प्रकार से अपने को अयोग्य, दुर्बल और अपवित्र प्रमाणित क
चलता है। यहाँ तक कि अपने पति-पद के अस्तित्व को भी अ
कार कर देता है—'मैने ऐसी कोई प्रतिज्ञा न की होगी। मै तो
दिन द्राक्षासव मे डुबकी लगा रहा था। पुरोहितों ने न जाने
क्या पढा दिया होगा। उन सब बातों का बोझ मेरे सिर पर कद
नहीं'। किसी प्रकार की आज्ञा देने के लिए अपने को अनधिक
प्रमाणित कर देता है। फिर भी अपना पशुत्वपूर्ण हुक्म ध्रुवदेवी
लगाना चाहता है—'जाओ, तुमको जाना पड़ेगा। तुम उपहार
वस्तु हो। आज मैं तुम्हे किसी दूसरे को दे देना चाहता हूँ। इ
तुम्हें क्यों आपत्ति हो'। ध्रुवस्वामिनी का आर्तस्वर-पूर्ण प्रश्न भी
'मेरे पिता ने उपहार-स्वरूप कन्या-दान किया था × × मेरा स्त्रीत्व
इतने का भी अधिकारी नहीं कि अपने को स्वामी समझनेवाला पु
उसके लिए प्राणों का पण लगा सके'—निरर्थक हो जाता है।
स्थिति मे पति-पत्नी-संबध कैसा? अतएव धर्माधिकारी की
व्यवस्था फिर चली है—'विवाह की विधि ने देवी ध्रुवस्वामिनी
रामगुप्त को एक भ्रांतिपूर्ण बंधन में बाँध दिया है। धर्म का उद्दे

इस तरह पददलित नहीं किया जा सकता। माता और पिता के प्रमाद के कारण से धर्म विवाह केवल परस्पर द्वेष से टूट नहीं सकते, परन्तु यह संबंध उन प्रमाणों से भी विहीन है। यह रामगुप्त × × × × जिसे अपनी स्त्री को दूसरे की अंकगामिनी बनने के लिए भेजने में संकोच नहीं वह क्लीव नहीं तो और क्या है। मैं स्पष्ट कहता हूँ कि धर्मशास्त्र, रामगुप्त से ध्रुवस्वामिनी के मोक्ष की आज्ञा देता है।'

नाटक में एक दूसरी भी समस्या है। इसका भी विचार आदि काल से ही होता आया है। यदि राजा दुर्बल, अक्षम और अत्याचारी हो तो राज्य के कल्याण के विचार से उसके स्थान पर योग्य व्यक्ति की स्थापना का भार सदैव प्रजा और प्रजा के प्रतिनिधियों पर होना ही चाहिए। रामगुप्त राजनीतिक षड्यन्त्र के कारण सच्चे उत्तराधिकारी के स्थान पर शासक बना; परन्तु अपने दायित्व का निर्वाह करने में असमर्थ होने से सर्वथा अयोग्य प्रमाणित होता है। साम्राज्य और पूर्व-पुरुषों के गौरव के अनादर का कारण बनता है, निरर्थक शकों का सहार करके अत्याचार और पाप करता है। इसलिए सामंत कुमार उसे पदच्युत कर देते हैं।

वर्तमान समस्या-नाटककारों की भाँति 'प्रसाद' ने केवल समस्या ही खड़ी नहीं की है वरन् उनके उत्तर की भी व्यवस्था की है, इसमें तर्क और बुद्धि का योग जहाँ तक संभव है वह भी उपस्थित किया गया है। ऐसा करके उन्होंने अपने को उन दोषों से बचाया है जिनके कारण उक्त नाटककारों की रचनाओं में हृदय के योग का अभाव रहता है। नाटक का प्राण है रसोद्रेक। यह उस समय तक नहीं हो सकता जब तक उत्तर पक्ष का संकेत नहीं मिलता। 'प्रसाद' ने प्रथम समस्या का उत्तर दिया—मोक्ष और दूसरे का—परिवर्तन। इस मोक्ष और परिवर्तन से जिस फल की अन्विति उत्पन्न हुई है उसी में भारतीयता का सच्चा स्वरूप दिखाई पड़ता है।

रस

इस नाटक में वीर रस की प्रधानता है, अवश्य ही सहायक रूप में शृंगार भी दिखाई पड़ता है। स्थायी भाव उत्साह है, जो ध्रुवस्वामिनी के प्रत्येक व्यापार में उपस्थित है। आलंबन रामगुप्त है क्योंकि

अन्य रूपक

एक घूँट

सामान्य परिचय

वर्गीकरण के विचार से इस रचना को आन्यापदेशिक[1] एकांकी कहना चाहिए। इसमे पद्धति नाटकीय रहने पर भी यह सवादात्मक निबंध-सा ज्ञात होता है। यों तो इसमे नेपथ्य के साथ सुदर और भव्य पूर्वरग है, नेपथ्य से संगीत का विधान है, रगमच पर भी प्रसंगानुसार गान होता है और सारी कथा कथोपकथन के द्वारा ही कही गई है, परतु बाह्य रूप के अभिनयात्मक होने पर भी यह नाटक मालूम नहीं पड़ता, क्योंकि आद्यत एक ही प्रसग तथा एक ही विषय इस प्रकार चलता है कि सबका ध्यान एकदेशी बनकर उसी ओर केंद्रित रहता है। इसके अतिरिक्त उस विषय के प्रतिपादन की पद्धति उसी प्रकार व्यक्ति-प्रधान है जैसी किसी अच्छे निबध मे प्राप्त होती है। जितने प्रसंगों एव स्थितियों को एकसूत्र मे ग्रथित करने की चेष्टा की गई है वे मालूम पड़ते हैं कि जैसे उद्देश्य विशेष से काट-छाँटकर अपने काम के अनुकूल बनाए गए हों, जिससे विषय-प्रतिपादन मे सरलता आ सके। संवादों मे भी ऐसी सजीवता नहीं दिखाई पड़ती जैसी नाटकों मे मिलनी चाहिए। ऐसा ज्ञात होता है कि विषय-शृंखला की कड़ियाँ जोड़ी गई हों अथवा प्रश्नोत्तरी विधान द्वारा बात कही जा रही हो। यही कारण है कि उनमे सजीवता एव सरलता नहीं है। कहीं-कही जो तर्क-वितर्क अथवा भावुकता के कारण उक्ति-वैचित्र्य अथवा ध्वन्यात्मक आनंद मिलता जाता है वह सकुचित ही सा रहता है। उसके प्रभाव की कोई विषय-सगत धारा नहीं चलती। वह टुकड़े-टुकड़े होकर अपने मे ही परिमित दिखाई पडता है। सगीत-रचना का योग भी अपने विषय के लिए उपादान-सग्रह के अभिप्राय से ही हुआ है। इस कारण सपूर्ण रचना मे ऐसा जान पडता है कि एक छोटी-सी घाटी मे एक ही ओर चलते हुए बहुत से लोगों मे कशमकश हो रही है।

सारा नाटक एक अक और एक दृश्य का है। आरभ से सुदर पूर्वरंग है और पात्रों का प्रवेश इस क्रम से होता है कि वस्तु और

---

१. एलिगारिकल।

पात्रों का परिचय स्वत हो जाय। तर्क-वितर्क का सूत्र इसी स्थल से निकलकर निरतर विस्तार पाता गया है। फल-प्राप्ति की कामना बनलता मे उत्पन्न होती है। वह विचार कर रही है--'आकर्षण किसी को बाहुपाश मे जकड़ने के लिए प्रेरित कर रहा है। इस संचित स्नेह से यदि किसी रूखे मन को चिकना कर सकती'। इसी जिज्ञासा-भरी अभिलाषा को लेकर वह सम्मुख आती है। इसी अभिलाषा-पूर्ति का आयोजन सपूर्ण रचना मे हुआ है और अत में इसी फल की प्राप्ति बनलता को होती है। जिस समय झाड़ूवाले और उसकी स्त्री का विवाद समाप्त होता है और दोनों एक होकर प्रसन्न मन से जाते हैं उसी समय बनलता को भी अपने प्रश्न का उत्तर मिल जाता है। वह भी अपनी गोटी बैठाने का निश्चय कर लेती है। उसी विधान के अनुसार वह भी अपने लिए हँसते हुए स्वर्ग की रचना कर लेने का निश्चय करती है। वही नियताप्ति का रूप दिखाई पड़ता है।

समस्त नाटक से व्यंग्य और आक्षेप ध्वनित होते हैं। आजकल समाज में पाश्चात्य शैली पर संगठित अनेक ऐसे सघ, सभा, सोसाइटी हैं जिनमे मानवता की रंगीन व्याख्याएँ कुछ विचित्र, आकर्षक और मनोहर ढग से की जाती हैं। कहीं आत्मा के सगीत पर जोर दिया जाता है, कहीं विश्व-बधुत्व को नया रूप देकर दार्शनिकता का जामा पहनाया जाता है, कहीं जीवन का सार सत्य-शिव-सुदर मे स्थापित किया जा रहा है। भाँति-भाँति से नवीनतम पदावली के गुंफन से जीवन का अभिप्राय समझाया जाता है। इसी प्रकार के आश्रमों और संघों का एक चित्र लेकर 'प्रसाद' ने भी रूपक खड़ा किया है। अभ्यतर के खोखलेपन का मार्मिक उद्‌घाटन ही इसका उद्देश्य है।

प्रतिपाद्य विषय

तर्क-वितर्क का विषय है—जीवन और जीवन का लक्ष्य। जीवन क्या है और उसे कैसा होना चाहिए इस पर अनेकानेक दार्शनिक विद्वानों ने न जाने कितने विचार प्रकट किए है। भिन्न-भिन्न मत और विचार के लोग अपनी पद्धति के अनुसार भिन्न-भिन्न निश्चय पर पहुँचकर भिन्न-भिन्न ढंग से सिद्धांत का प्रतिपादन करते हैं। लेकिन कोई भी बिना जीवन के यथार्थ एव व्यावहारिक रूप को लिए केवल सिद्धांत की घोषणा से चल नही सकता 'अनेक विचार सिद्धांत-रूप

मे प्रिय एवं मनोहर होने पर भी व्यावहारिक रूप में नहीं चल पाते। ऐसी अवस्था में उस सिद्धांत और व्यवहार मे सामंजस्य स्थापित करना ही उपदेष्टा का चरम लक्ष्य होना चाहिए। तभी कोई आदर्श ससार के लिए मगलमय बन सकता है। इस नाटक में लेखक ने कई बातें विचार की उठाई हैं। जीवन क्या है और उसका साध्य पक्ष क्या है? कल्पना के क्षेत्र मे निवास करनेवाले आदर्शवाद मे और यथार्थ जीवन के व्यवहारवाद मे कितनी भिन्नता है? कहीं दोनों से मेल कराया जा सकता है अथवा नहीं? जब तक कोई ऐसी भूमिका नहीं प्राप्त होती जिसमे इन तात्त्विक प्रश्नों का व्यावहारिक रूप दिखाई पड़ सके तब तक कोरा काल्पनिक आदर्श अभावग्रस्त वाग्विलासमात्र है। दूसरी विचार की बात है—स्त्री और पुरुष। एक हृदय-पक्ष का प्रतिनिधि है तो दूसरा मस्तिष्क और बुद्धि-पक्ष का। मानव जीवन की संपूर्णता के लिए दोनों पक्षों के सामंजस्य की नितांत आवश्यकता है। बिना दोनों के योग के मगलमय माधुर्य की भावना ही निरर्थक है। पुरुष पात्रों और स्त्री-पात्रों के द्वारा इसी सिद्धांत का प्रतिपादन किया गया है। 'स्कंदगुप्त' और 'अजातशत्रु' नाटकों मे स्त्री-पुरुष के सबंध की जैसी व्याख्या 'प्रसाद' ने की है उसी का प्रकारातर से प्रतिपादन इस रचना मे भी किया गया है। पुरुष उछाल दिया जाता है और स्त्री आकर्षित करती है। पुरुष अनियंत्रित उड़ान मे व्यस्त रहता है, स्त्री उसे व्यवहार भूमि पर लाकर व्यवस्थित स्वरूप प्रदान करती है।

आनंद

'एक घूँट' का सिद्धात-प्रचारक आनद कोरा आदर्शवादी दिखाई पड़ता है। सिद्धात रूप मे वह शैवों के आनन्दवाद का समर्थक है। वह विश्व की कामना का मूल रहस्य आनद ही मे मानता है। उसके अनुसार काल्पनिक दु खों को ठोस मानकर चलने से काम नहीं चल सकता। निष्ठुर विचारों को हँसकर टाल देना चाहिए। सुख-दु:ख को आपस मे लड़ाकर निर्लिप्त द्रष्टा की भाँति रहने मे ही जीवन की सफलता है। 'दृढ़-निश्चय' तो एक बधन है—भले ही वह प्रेम का ही क्यों न हो। इस प्रकार स्वतंत्र आत्मा को बंदीगृह मे डालने से उसका 'स्वास्थ्य, सौंदर्य और सरलता नष्ट हो जाती है'। इसी आधार

पर उसने विवाह के प्रचलित रूप का भी खण्डन किया है। संपूर्ण दुःखों का वह एक कारण मानता है—'प्रेम की परिधि को संकुचित करना'। इसीलिए निर्मोह प्रेम का वह पुजारी बना है। 'सबसे एक एक घूँट पीते पिलाते नूतन जीवन का संचार करते चल देना'—यही उसका संदेश है। शिक्षा उसे मिलती है वनलता से, जिसने उसको बताया है कि शब्दावली की 'मधुर प्रवंचना' से वह छला जा रहा है। इस पर उसे भी अपने ऊपर भ्रांति का संदेह होता है और तुरत ही प्रेमलता अपने आत्म समर्पण द्वारा उसके इस संदेह की यथार्थ व्यवस्था कर देती है। आकाश मे निरर्थक प्रयास से उड़ते-उड़ते वह देखता है कि वह स्वर्ग सच्ची दुनिया में आ गया है। इस प्रकार उसकी जिज्ञासा का उत्तर मिल जाता है।

अन्यपात्र

कुंज और मुकुल तो केवल प्रश्नकर्ता हैं। उनके तर्कों के आधार पर वाद-विवाद को प्रसंग मिलता है अन्यथा इस रूपक मे उनका योग आवश्यक नहीं माना जा सकता। कवि रसाल एक भावुक व्यक्ति है जो चारों ओर से अपनी कविता के लिए सामग्री जुटाने मे व्यस्त रहता है। उसकी यह भावुकता चारों ओर तो चक्कर काटती है परंतु स्वयं अपनी पत्नी के हृदय तक नहीं पहुँच पाती। यह भी आत्मप्रवंचना का एक अच्छा उदाहरण है। आनंद की प्रेरणा से वह दुःखवाद के समर्थन करने का निर्णय कर लेता है, जिससे प्रकट होता है कि कविता भी सिद्धांतों के खोखलेपन से कैसी प्रभावित हुआ करती है। वनलता और प्रेमलता हृदय-पक्ष की प्रतिनिधि हैं। इनका काम केवल इतना ही है कि ये कल्पना के शून्य में बवडर की भाँति मँडराते हुओं को यथार्थ के ठोस भूमि-खंड पर लाकर खड़ा करें। इनका बल तर्क और व्यवहार है। वनलता सच्ची प्रेमिका है और प्रेमलता समझ-बूझकर अपना जोड़ा निश्चित करने में कुशल है। वह अपनी पहचान की पक्की है। चंदुला और झाड़ूवाला जीवन की व्यावहारिकता के मानदंड हैं। साधारण चलती बातों को लेकर सैद्धांतिक प्रलाप करनेवालों को थप्पड़ लगाना और सुझाना कि उनके प्रलाप का क्या हीन परिणाम होता है—उनका काम है।

विशाख

दोष-दर्शन

'सज्जन', 'प्रायश्चित्त', 'करुणालय', और 'राज्यश्री', के उपरांत ही लिखा हुआ यह नाटक भी प्राय उन्हीं रचनाओं की पद्धति पर है। इसमे भी आरभावस्था के गुणदोष दिखाई पडते हैं। इसका वस्तु-संविधान सरल है—चमत्कार विहीन। इसका वस्तु प्रवाह बिना किसी विशेष उतार-चढाव के आदि से अंत तक एक कहानी की भाँति चला चलता है। वस्तु के नाटकीय गुम्फन की कुशलता इसमें कहीं भी नहीं दिखाई पडती। यहाँ भी 'राज्यश्री' की भाँति सवादों मे तुकबदी का प्रयास किया गया है—'मिट्टी के वर्तन थोडी ही आँच मे तड़क जाते है। नए पशु एक ही प्रहार मे भडक जाते है,' अथवा 'तुम्हे प्रश्न करने का क्या अधिकार है। क्या आतिथ्य का यही प्रतिकार है'। इस प्रकार के अन्य अनेक प्रयोग यत्रतत्र प्राप्त होते हैं। संवादों मे कविता का प्रयोग भी उसी प्रकार मिलता है जैसा उस काल मे लिखे हुए अन्य नाटकों मे प्राप्त है। हास्य रस की स्थापना मे मत्री और विदूषक को एक कर देना भी सुरुचिकर नहीं प्रतीत होता। कहीं-कही तो उसके सवाद अभद्र से हो गए हैं, जो शिष्ट और राज-सभा मे शोभन नहीं माने जा सकते। संपूर्ण नाटक का यदि विचार किया जाय तो यह समझने में विलंब नहीं लगेगा कि लेखक की यह कृति आरभ काल की ही रचना है। चरित्रांकन में भी कोई प्रौढ कुशलता नहीं दिखाई पडती और न उसमें व्यक्तिगत उच्चावचता ही आ सकी है।

कथा और कथानक

नाटक की कथा का आधार कल्हण की राजतरगिणी का आरंभिक अंश है[1]। बहुत थोडे से परिवर्तन के साथ 'प्रसाद' ने उसी इतिवृत्त को स्वीकार कर लिया है। राजतरगिणी मे कथा इस प्रकार लिखी गई है—द्वितीय बिभीषण के उपरांत उसका पुत्र नर (देव)

---

१ कल्हण कृत राजतरगिणी, एम० ए० स्टाइन द्वारा अनूदित (प्रथम अध्याय) श्लोक १९७ से २७६ तक, पृ० ३४ मे ५१ तक।

उसके सपन्न राज्य का अधिकारी हुआ। पहले तो वह योग्यता से शासन करता रहा परंतु उत्तरोत्तर कामुक और उच्छृंखल होता गया। क्रिन्नरग्राम का बौद्ध श्रमण योगबल से रानी को कुपथ में ले गया। इस पर राजा ने क्रुद्ध होकर सब बिहारों को जलवा दिया और सारी विहारभूमि ब्राह्मणों को अर्पित कर दी। वितस्ता नदी के कूल पर उसने एक सुदर नगरी बसाई जो सब प्रकार से संपन्न थी। उस नगरी के समीप आम्रवन के भीतर एक निर्मल जलाशय था जो सुश्रवा नाग का निवासस्थान था। एक दोपहरी मे सूर्यातप से प्रतप्त एक ब्राह्मण भूखा-प्यासा उसी सरोवर पर जलपान के लिए ठहरा। वह सत्त निकालकर खाने का उपक्रम कर ही रहा था कि उसे दो सुंदरियाँ सेम की फली तोड-तोडकर खाती दिखाई पड़ीं। मलिन वेश मे भी वे परम रूपवती थीं। ब्राह्मण रुक गया और जिज्ञासा से उनके विषय मे पूछ ताछ आरभ की। उनकी दीन कथा सुनकर वह द्रवित हो उठा और उन्हे अपने भोज्य मे योग देने के लिए आमंत्रित किया। उनका नाम इरावती और चद्रलेखा था। वे सुश्रवा नाग की कन्याएँ थी। जिनमें प्रथम वाग्दत्ता हो चुकी थी। जब ब्राह्मण ने उनकी दरिद्रता की कथा पूछी तो उन्होंने अपने पिता की रूपरेखा का वर्णन करके बताया कि वे तक्षक-उत्सव के समय यही आवेंगे; आप उन्ही से पूरी बात सुन लीजिएगा। हम भी उन्ही के साथ दिखाई पड़ेंगी।

कुछ दिन के उपरांत ब्राह्मण ने तक्षक-उत्सव मे उन कुमारियों के साथ सुश्रवा को देखा। सुश्रवा को अपनी कन्याओं से ब्राह्मण के विषय मे सब बाते मालूम हो गई थीं। अतएव सुश्रवा ने बडी अभ्यर्थना से ब्राह्मण का स्वागत किया। ब्राह्मण के पूछने पर उसने अपनी दुर्गति का कारण उस बौद्ध को बताया जो हरे-भरे खेत की रखवाली करता एक ओर बैठा था। वह बौद्ध मंत्र द्वारा उस खेत की रक्षा करता है और मत्र द्वारा अभिरक्षित उस खेत के अन्न को जब तक वह स्वयं नही खाता नाग लोग भी उससे वचित रहते हैं। न तो वह स्वय खाता है और न नाग ही खाने पाते है। इस प्रकार नागों की दरिद्रता का वही एक हेतु है। अपनी कथा कह चुकने पर सुश्रवा ने ब्राह्मण से सहायता माँगी। ब्राह्मण ने चातुरी से खेत का नवीन अन्न उस भिक्षु को खिला दिया और नागों को खेत में अन्न प्राप्त करने का प्रवेश मिल गया। उधर सुश्रवा ने अपनी कन्या चद्रलेखा का पाणि-

ग्रहण उस सहायक ब्राह्मण से करा दिया। चद्रलेखा अपने आदर्श चरित्र और सुदर व्यवहार से अपने पति की सेवा करने लगी।

उसके रूप-गुण की प्रशसा राजा नर ने भी सुनी और आखेट के बहाने एकाकिनी सुदरी के पास पहुँचा। दूत के द्वारा उसने अपना प्रेम-निवेदन कहलाया परंतु असफल रहा। कई बार उसने ब्राह्मण से भी प्रार्थना की और ब्राह्मण ने भी नही सुना। इस पर कामातुर राजा ने सैनिकों को आज्ञा दी कि बलपूर्वक चद्रलेखा को पकड़ लावे। इस विषय की आशका का आभास पाते ही पति पत्नी ने भागकर नागपुर मे शरण ली। प्रतिकार-रूप मे सुश्रवा और उसकी बहन रमण्या ने ऐसा उत्पात मचाया कि सारा नर-पुर उच्छिन्न हो गया और राजा भी उसी क्राति मे मारा गया। सारा किन्नर पुर (नर-पुर) ध्वस्त हो गया, परतु न जाने किस ईश्वरीय विधान से नर का पुत्र सिद्ध बच गया, जो शाति होने पर उस प्रांत का योग शासक सिद्ध हुआ।

वस्तु-कल्पना

इस कथा को लेकर लेखक ने अपना संविधानक गढा है। राजतरंगिणी का कथा-क्रम ही प्राय लेखक ने स्वीकार किया है, परतु नाटकीय भव्यता अथवा समष्टि-प्रभाव के विचार से अत मे उसने नर को बचा रखा है। चद्रलेखा और ब्राह्मण के साथ राजा के संबध मे भी सुसबद्धता और विकास स्थापित करने के विचार से घटनाओं को आगे-पीछे कर दिया है। बौद्धों के अत्याचार और विहार-नाश के मूल मे चंद्रलेखा को रखकर लेखक ने सारी कथा मे तर्क-सगत एकसूत्रता स्थापित की है। राजतरंगिणी की कथा मे दो घटनाएँ पृथक्-पृथक् ज्ञात होती हैं। उनके मिलाने का यह ढग अवश्य ही नाटकोचित हुआ है।

चरित्रांकन

'प्रसाद' के अन्य नाटकों में चरित्र-विषयक गांभीर्य सर्वत्र दिखाई पड़ता है। इस नाटक मे वह विशेषता अत्यंत न्यून मात्रा मे मिलती है। चंद्रलेखा को छोड़कर अन्य सभी पात्रों मे उच्छृंखलता भरी है। प्रेम की अनुभूति और प्रेम के संदेश इतने खुले रूप मे व्यक्त किए गए हैं कि उस भाव की गभीरता एव कोमलता की हत्या-सी हो गई है। राजा और महापिंगल तक बात रहती तो उतनी भद्दी न लगती।

विशाख भी उसी रंग मे रँगा दिखाई पड़ता है, चद्रलेखा की स्वीकारोक्तियाँ भी अत्यत स्पष्ट, अतएव अभव्य है।

विशाख

तक्षशिला विश्वविद्यालय से निकला हुआ नया-नया स्नातक विशाख अभी सीधे समाज मे पदार्पण कर रहा है। बात-बात मे उसे अपने व्यवहार-पक्ष की दुर्बलता का आभास मिलता है। कुमारियों के प्रथम दर्शन के अवसर पर भी वही बात दिखाई पड़ती है और राजसभा मे भी। गुरुकुल की शिक्षा को कार्यान्वित करने का अवसर उसे तुरत मिल जाता है। उपाध्याय ने उसे जो यह उपदेश दिया था कि दु खी की अवश्य सहायता करनी चाहिए उसी आधार पर वह चंद्रलेखा के उद्धार का विचार करता है, परंतु उसके इस निश्चय के मूल मे जो वासना की तीव्रता है वह उसके चरित्र को अत्यंत साधारण बना देती है। उसका सारा प्रयत्न चद्रलेखा के मनोहर आवरण के लिए है, अतएव उसकी यह उदारता काम-वृत्ति से पूर्ण मालूम पड़ती है। इसके अतिरिक्त उसमे प्रेम की एकनिष्ठता है। सच्चे प्रेमी पति का रूप उसमे अंकित किया गया है। अन्य कोई विशेषता नही है। मंत्री से मिलकर बौद्धों को उच्छिन्न करने में उसकी व्यावहारिक बुद्धि का योग अवश्य दिखाई पड़ता है। स्थितियों ने उसे व्यवहार-ज्ञान करा दिया है।

चंद्रलेखा

चद्रलेखा सर्वप्रथम एक दरिद्र रमणी के रूप मे संमुख आई है। मलिन वस्त्र से आवृत्त रहने पर भी वह सुर-सुंदरियों को लज्जित कर रही है। उसके उस भुवन-मोहन रूप मे बड़ा आकर्षण है। साथ ही कष्टसहिष्णुता भी उसमे दिखाई पड़ती है। दरिद्रता से तो युद्ध कर रही है, साथ ही पिता की रक्षा के लिए अपने को दुष्टों के हाथ तक मे समर्पित कर देती है। इस घटना मे जहाँ एक ओर बूढे पिता के प्रति ममत्व दिखाई पड़ता है वहीं दूसरी ओर उसकी निर्भीकता भी सिद्ध होती है। बंदीगृह मे भी उसे अपने पिता के प्रति कर्तव्य का स्मरण हो आता है। दूसरी वृत्ति जो उसमे प्रमुख दिखाई पड़ती है—वह प्रेम है। प्रथम दर्शन मे ही विशाख के सौजन्य पर वह मुग्ध हो गई है। उस दारिद्र्य मे भी प्रेम के विकास ने उसके जीवन

को मधुर बना दिया है। हृदय मे विपत्ति की दारुण ज्वाला जल रही है, 'उसी मे प्रणय-सुधाकर ने शीतलता की वर्षा की है और मरुभूमि लहलहा उठी है' फिर तो जीवन भर वह इसी शीतलता का मान-समान बनाए रखने मे लगी रहती है। एक बार जो वह अपने को समर्पित कर देती है तो फिर सच्ची पतिव्रता के रूप म अपने धर्म का पालन करती रहती है। उस प्रेम मे वह अगाध सतोष का अनुभव करती है। विशाख को पा लेने पर उसे और किसी विशेषता की आवश्यकता नहीं रहती। आतिथ्य सत्कार का भाव भी उसम सुदर दिखाई पडता है। अपनी झोपडी मे आए हुए राजा का बडे उत्साह और पवित्रता से उसने स्वागत किया है—'श्रीमान्, यदि मृगया से थके हुए हों तो विश्राम कर लें'। राजा नरदेव के प्रम-प्रस्ताव को जो उसने ठुकराया है उसम उसकी निर्भीकता, आत्मदृढ़ता और चरित्रबल स्पष्ट दिखाई पडता है। यही उसके चरित्र का सर्वोत्तम प्रमाण है। वही दृढता और एकनिष्ठता उसने चैत्य के समीप भी दिखाई है। राज-रोष होने पर भी वह भयभीत नहीं होती। पति को निरतर आश्वासन देती हुई उसकी अनुचरी बनी रहती है।

अन्य पात्र

राजा **नरदेव** तो साधारण मनुष्य है। उसके चरित्र मे कोई विशेषता नहीं। वह आरभ मे तो न्यायप्रिय और सुविचारक रूप मे दिखाई पड़ता है, लेकिन यथार्थत है वह उच्छृंखल और उग्र स्वभाव का। उसमे विचार-बुद्धि दुर्बल है। क्रोध के आवेश मे विहार-मात्र को भस्म करने की आज्ञा दे देता है। इसके अतिरिक्त कामुकता उसमे विशेष है। उसी के प्रभाव मे वह राक्षस बन जाता है और भाँति-भाति के कुविचार का शिकार हो जाता है। अत मे पहुँचकर उसकी बुद्धि सुधरती है। सुविचार के प्रवेश से वह पुन. सद्भावयुक्त बन जाता है। **महापिंगल** विदूषक है, वह विनोदशील, व्यवहारकुशल और चतुर है। **प्रेमानंद** एक विवेकशील, सत्यनिष्ठ, स्पष्टवक्ता और निर्भीक सन्यासी है। सर्वत्र अपने उपदेशों से वस्तुस्थिति को सँभालने और उचित मार्ग के निर्देश मे लगा दिखाई पड़ता है।

कामना

सामान्य परिचय

'प्रबोध-चंद्रोदय' की भाँति आन्यापदेशिक नाटक संस्कृत-साहित्य मे अनेक है, परंतु हिंदी मे कम है। अच्छा हुआ हिंदी ने बपौती के रूप मे इस भद्देपन को अधिक नहीं अपनाया। वस्तुत यदि रंगमंच एवं नाट्य-रचना के मूल तत्त्वों का विचार किया जाय तो इस प्रकार की रचनाओं को विशेष महत्त्व नही दिया जा सकता। मनोविकारों और नाना वृत्तियों की मूर्तिमयी कल्पना का अनुभव कर लेना तो बुद्धि एव भाव-संगत हो सकता है परंतु उसका इतना विस्तार कि एक समूचा कथानक—और सो भी संवादबहुल—प्रस्तुत हो जाय, अप्राकृतिक होने से प्रिय और प्रभावपूर्ण नही होता। यदि लेखक विशेष कुशल और भावुक हुआ तो कभी-कभी प्रतीक पात्रों मे सजीवता की झलक उत्पन्न कर दे सकता है अन्यथा एक कौतुक की दुनिया भले ही खड़ा कर दे, नाटक नहीं रच सकता।

'प्रसाद' की 'कामना' इसी पद्धति का नाटक है। यों तो नाट्य-रचना पद्धति की कोई नवीनता इसमे नहीं दिखाई पडती और न यह रंगमच के ही योग्य बनाया जा सकता, पर कहीं-कहीं इसके पात्र सजीव से मालूम पडते हैं—विशेषकर आरभ और अंत में। इस नाटक का अपना एक उद्देश्य है। साधारणत नाटककार को देश-काल की प्रवृत्ति तथा परिचय देने का खुलकर अवसर नहीं मिल पाता। मानव-समाज के विकास में विभिन्न मनोवृत्तियों का कितना और कैसा प्रभाव पडा है—इसी की कथा लेखक ने इस नाटक में कही है। यह रूपक सार्वजनीन भी माना जा सकता है और वैयक्तिक भी। इसी प्रकार इसे सार्वदेशिक समाज का चित्र भी कह सकते हैं और केवल भारतवर्ष का भी।

प्रतिपाद्य विषय

सृष्टि के प्रारभ मे जब मानव-समाज अपनी शिशु-दशा में रहता है, उस समय प्रकृति - प्रदत्त थोड़ी सी सामग्री मे ही जीवन-

यापन की व्यवस्था करके और सबको एक कुटुब सा मानकर तुष्टि का अनुभव करता है। ज्यो-ज्यों उसमे विलासिता का प्रवेश होता चलता है उसे अधिकाधिक सामग्री की आवश्यकता पड़ती है, इस पर 'वसुधैव कुटुबकम्' का उदार भाव दबकर स्वार्थ से विजित होने लगता है। समाज मे धीरे-धीरे सामग्री के प्रतिनिधि स्वर्ण और आत्म-विस्मृति के प्रतिनिधि मद्य का प्रभाव फैलने लगता है। जो कामना और लालसा, संतोष एव शाति से मिलकर अभी तक भिन्नत्व में एकत्व का अनुभव किया करती थी वे ही अब विलास से शासित होकर भौतिकता को ही सब कुछ मानने लगती है और एकत्व मे भिन्नत्व देखती हैं। इसी भौतिक विलासिता के चक्र मे सारा समाज पड़ जाता है, इसी की लीला मे विनोद उत्पन्न होता है और सामाजिक विकास की परम दुलारी पुत्री राजनीति चारों ओर अपने अक्षुण्ण अधिकार का प्रसार करती है। राजनीति का चरम साध्य स्वर्ण बनता है। उसी को समाज के सभी प्राणी अपनी-अपनी ओर आकर्षित करते हैं, अतएव सघर्ष उत्पन्न होता है और सारा समाज अपनी ही करनी से त्रास के विक्षोभकारी गर्त मे गिरता है। विलासिता के साम्राज्य मे और राजनीति के आवर्त जाल मे बेचारे विवेक तथा संतोष की पुकार कौन कान करता है। यह अवस्था असत् एव नश्वर होने के कारण कुछ दूर चलकर विलीन हो जाती है और विवेक एवं सतोष का योग पाकर समाज मे पुन मगल का विधान स्थापित हो जाता है। यही इस नाटक का प्रतिपाद्य विषय है।

कथानक

फूलों का एक द्वीप है जिसमे अभी मानव की सामाजिक वृत्ति का सूत्रपात हो रहा है। इस द्वीप मे थोड़े से लोग दिखाई पड़ते है जो अपने को तारा की संतान बताते हैं, अपने लघु ससार मे एक निराली धज से सतोषपूर्वक खेतीबारी करके जीवन का निर्वाह कर रहे हैं। अभी उनमे महत्त्व और आकांक्षा का अभाव और संघर्ष का लेश भी नहीं है। वहाँ डर और भय का नाम भी लोग नही जानते। नियम, राजनीति, बधन, अभिशाप, मत्सर, ईर्षा, विष इत्यादि का प्रवेश अभी तक वहाँ नहीं हुआ है। कामना ही पूजा-पाठ का नेतृत्व करती

है और इस द्वीप में ईश्वरीय संदेश मनुष्य के द्वारा नही, अपितु प्रकृति के द्वारा प्राप्त हुआ करते है।

कामना समुद्रतट-पर बैठी अपने विचारों मे डूबी है। सामने से नाव पर बैठा एक विदेशी आता है जिसका नाम विलास है। उसके व्यक्तित्व से प्रभावित होकर कामना उसका स्वागत करती है। उत्तरोत्तर वही विलास इस द्वीप के निवासियो मे अधिकाधिक घनिष्ठ हो जाता है। भोली कामना को सोना और मदिरा का चमत्कार दिखाकर सर्वप्रथम वह उसी पर अधिकार जमाता है और फिर सुख के नाना प्रलोभनो के द्वारा उस द्वीप मे घोर सासारिकता का प्रवेश कराने का निश्चय करता है। राजनीति का जाल बुनने और सोने से स्वार्थ को सजाने लगता है। सारे द्वीप-निवासियो मे ऐहिकता, विलास और नित्य नवीन आवश्यकताओ की वृद्धि होने लगती है। उनकी सारी प्राचीन संस्कृति धीरे धीरे विलुप्त हो जाती है और नवीन सभ्यता के नाम पर हाहाकार, युद्ध, दरिद्रता, कुविचार का प्रचार होने लगता है। आरभ मे जिस कामना ने विवेक और अपने वाग्दत्त पति सतोष का निरादर किया है और उनसे दूर भाग चुकी है उन्ही दोनों की प्रेरणा और बारबार की चितावनी से उसकी आँख खुलती है। पुन कामना और संतोष का सयोग होता है। परिणाम-रूप मे विलास और लालसा द्वीप से निकाल बाहर होते हैं। मदिरा से सिंचे हुए चमकीले स्वर्ण-वृक्ष की छाया से भागने का उपदेश जहाँ कामना अपने देशवासियों को देने लगती है वहा से परिवर्तन का निश्चय हो जाता है। अतएव वहीं नियताप्ति का रूप मिलता है और अंत मे कामना एव सतोष के पुनर्मिलन-रूप मे फलागम होता है।

चरित्रांकन

इस नाटक मे एकांगी चरित्रचित्रण हुआ है। पात्रों मे उच्चावचता की आवश्यकता इसलिए नही है कि वे सभी विभिन्न मनोविकारों के ही तो सजीव रूप हैं। आदि से अंत तक पात्र या तो केवल अच्छे ही है अथवा दुष्ट ही। अतएव उतार-चढाव का विवेचन आवश्यक नहीं है। केवल यही देखना है कि भिन्न-भिन्न पात्रों का चारित्र्य कितना पूर्ण और स्फुट हो सका है। प्रमुख पुरुष पात्रों मे विलास, विनोद, संतोष और विवेक हैं। इन्ही के स्वरूप-परिचय मे सारी कथा

समाप्त हो गई है। विलास और विनोद के सहायक बनकर ही दंभ, दुर्वृत्त इत्यादि आए हैं। वस्तुत उनका कोई भिन्न उद्देश्य नहीं है।

विलास

विलास साहसी, आकर्षक और व्यवहारकुशल युवक है। महत्वाकांक्षा ही उसके जीवन की प्रेरक शक्ति है। उसकी प्रेरणा से वह इस द्वीप मे अपनी कूटबुद्धि एव स्वर्ण मदिरा के विपाक्त अस्त्रों को लेकर आया है कि इनके द्वारा इस द्वीप की संपूर्ण सात्त्विकता का उन्मूलन करके राजसिकता और तामसिकता का प्रचार करे। इन्ही के योग से वह भेद-भाव की सृष्टि करता है जिससे राजनीति के साथ नाना प्रकार के दुष्ट मनोविकारों की उत्पत्ति होती है। द्वीप निवासियों का वही मत्र-दाता बनता है और उनकी सारी गतिविधि का नियत्रण करने लगता है। कामना ऐसी भोली-भाली रमणी को प्रलोभन द्वारा अपने वश मे कर लेता है। पशुवृत्ति का आदर्श समुख रखकर साहस, विनोद और खेल के नाम पर वह धीरे-धीरे हत्या एवं क्रूरता का उपदेश देने लगता है। उधर विनोद को सेनापति बनाता है। पश्चात् राष्ट्र वृद्धि और नवीन भूमि की आवश्यकता के बहाने दूसरे देशों पर आक्रमण का विचार करता है और नवीन नगरों का निर्माण होने लगता है। इस प्रकार नवीनता का प्रसार बढ चलता है और स्वार्थ प्रेरित नाना प्रकार की नीचता फैल जाती है। विलास अपने लिए कामना ऐसी रमणी को पाकर भी सतुष्ट नही है, क्योंकि वह सरल हृदय की और मधुर तेज की स्त्री है। विलास तो केवल ऐसी स्त्री का अनुगत होना चाहता है जो बिजली के समान वक्र रेखाओं का सर्जन करनेवाली हो और जिसमे दुर्दमनीय ज्वालामुख चचलता हो। वह फूलों के इस द्वीप मे मधुप के समान विहार करना अपना उद्देश्य बनाना चाहता है। उसकी दृष्टि इन्ही गुणों से युक्त लालसा पर पड़ती है। अत मे उस द्वीप के अनिर्दिष्ट पथ का धूमकेतु बनकर वह अनंत समुद्र के काले परदे मे विलीन हो जाता है। उसका मायारूप प्रकट हो जाता है। वह सब प्रकार से तिरस्कृत और त्याज्य समझ लिया जाता है, अत. उसके लिए पलायन छोड़कर और कोई मार्ग नहीं रह जाता।

विनोद

विनोद का अपना कोई व्यक्तित्व नहीं है। कुतूहल का भाव उसमे है और बिना विवाह के उसे अपनी गृहस्थी अधूरी मालूम पडती है। कामना जब उसे लीला का वर बनाना चाहती है तो बड़े उत्साह से वह प्रस्तुत हो जाता है उसके उपरांत तो फिर कामना और विलास के व्यक्तित्व से प्रभावित होकर स्वर्ण और मदिरा मे रँग जाता है। स्वर्णपट्टयुक्त सेनापतित्व पाकर प्रफुल्ल हो उठता है, परतु अभी उसकी विवेक-बुद्धि सर्वथा लुप्त नही हुई है। लीला से वह प्रश्न करता है—'लीला हम लोग कहाँ चले जा रहे है कुछ समझ रही हो।' परंतु आगे चलकर वह अपने पद की माया मे राजकीय आज्ञा की समालोचना करना भी पाप मानने लगता है और सच्चे आज्ञाकारी सेवक की भाँति राजसत्ता के सम्मुख घुटने टेककर समान प्रकट करता है। अपनी प्रजा के लिए वैभव और सुख का आयोजन करता है। समय आने पर नदी पार स्वर्ण-भूमि पर आक्रमण करने के लिए सबको उत्साहित करता और ले जाता है।

संतोष

प्रस्तुत और चिरपरिचित मे तुष्टि बनाए रखना, नवीनता की ओर बढ़ने के प्रस्ताव का स्वागत न करना संतोष के चरित्र की विशेषता है। स्वभाव से ही वह सात्त्विक एव सयमी है। अपने प्रसन्न और ऐश्वर्य-सपन्न देश की विभूति छोड़कर वह दूर देश की बात भी नही सोचना चाहता। वह बिना विवाह के भी संतुष्ट है। लीला के विवाह-संबधी प्रलोभन देने पर भी वह विचार करने का वचन भर देता है। उसे सदेह है कि सभवत. वह लीला के पथ पर न चल सकेगा। वह प्राचीनता का प्रेमी है और विवेक की सहायता उसे नित्य प्राप्त है, अतएव नवीनता का अच्छा और सच्चा समालोचक भी है। सभ्य बनकर अपने को नवीनता का पुजारी कहलानेवालों की हीनता का निरतर विरोध करता है। हत्या और पापों की दौड़ तथा धर्म की धूम से चिढा रहता है। वह केवल मन के आनंद में विश्वास करता है, कामुकता और कल्पना को महत्त्व नही देता। सुख उसके लिए मान लेने की वस्तु है, बाह्य अभाव और दरिद्रता के कारण वह कभी दु ख नहीं मानता। साथ ही दूसरों की करुण कहानी सुनकर द्रवित

हो उठता है। करुणा की दुखद कथा सुनकर वह कहता है—'मैं तेरा सब काम करूँगा। जिसका कोई नही, मै उसी का होकर देखूँगा कि इसमे क्या सुख है।' यों तो वह सबसे अधिक सुखी है क्योंकि जीवन की भौतिक विषमताओं की उसे विशेष चिंता नहीं, परंतु कामना के लिए जो माधुर्य उसके हृदय मे सचित है वह कभी-कभी उसे भावुक बना देता है क्योंकि वह उसके रमणी रूप से प्रभावित हो चुका है। इसीलिए चलकर अत मे वह अपनी मधुर कामना को स्वीकार कर लेता है।

विवेक

विवेक का चारित्र्य पूर्णतया विचारप्रधान है—सबसे पृथक् एवं तटस्थ। जहाँ कहीं सत्-असत्—न्याय-अन्याय के निर्णय की आवश्यकता पड़ती है, वह सजग, कर्तव्यशील मनुष्य की भाँति सुंदर के अनुकूल और असुंदर के प्रतिकूल व्यवस्था देने के लिए खड़ा दिखाई पड़ता है। यों तो विलास और कामना के साम्राज्य मे उसका सदैव निरादर ही होता है और वह सर्वत्र पागल और कुचक्री ही कहा जाता है, पर उसकी खरी आलोचना और यथार्थ वस्तु-स्थिति-निवेदन के कारण सभी उससे त्रस्त रहते हैं। उपासना के क्षेत्र मे विलास को गड़बड़ी मचाते देखकर वह विरोध करता है। निरतर-द्वीप-निवासियों का सास्कृतिक ह्रास देखकर वह प्रसगानुसार चितावनी देने का काम करता रहता है। उनका पतन देखकर चिंता और व्यथा से कातर हो उठता है। सर्वत्र वह अक्रिय रूप मे ही चित्रित हुआ है। केवल तीसरे अंक के सातवें दृश्य मे उसकी क्रियाशीलता दिखाई पड़ती है। आठवें दृश्य मे भी भूल-निद्रा से जागी हुई कामना को सात्वना से शीतल करता दिखाई पड़ता है।

कामना

कामना भोली-भाली और सरल स्वभाव की स्त्री है। दूसरों को ठगना वह नहीं जानती। स्वय अन्य के प्रभाव मे आ जाती है। सतोष से उसकी नहीं पट सकती क्योंकि वह केवल आलस्यपूर्ण विश्राम का स्वप्न दिखाता है और वह स्वय बड़ी चचल प्रकृति की है। कभी यहाँ और कभी वहाँ, कभी उसे यह चाहिए और कभी वह। स्वभाव से वह अभिमानिनी भी है, क्योंकि वह किसी का उपकार नहीं स्वीकार

करना चाहती। उसके हृदय में सदैव कुछ कुरेदता सा रहता है और निरंतर कुछ न-कुछ आकांक्षा बनी रहती है। उसमें अपने को पूर्ण बनाने की धुन समाई है। कुछ नवीन देखा कि उस पर मुग्ध हुई। इस प्रकार उसके चित्त में स्थिरता का अभाव दिखाई पड़ता है। सहसा विलास अपने नव वैभव को लिए सामने दिखाई पड़ता है और नवीनता की यह पुजारिन उसे स्वीकार कर लेती है।

सारे द्वीप की उपासना का नेतृत्व आजकल कामना के हाथ में है। दायित्वपूर्ण कार्याधिकार स्वीकार करके भी वह अपने को दूसरे के प्रभाव में छोड़ देती है—यह उसके चरित्र का भोलापन ही है जो उसे अपने महत्त्वपूर्ण पद का विचार नही करने देता। साथ ही वह सर्वथा निर्भीक भी है। डर क्या वस्तु है उसे वह जानती भी नहीं। देश पर आपत्ति आना चाहती है परंतु वह ननिक भी विचलित नही दिखाई देती। धीरे-धीरे वह स्वर्ण और मदिरा के प्रभाव में आ जाती है। फिर तो उसी के कारण विलास के रंग में ऐसी रँग जाती है कि उसका चारित्र्य तिरोहित हो जाता है। विलास ने सुख के नए-नए आविष्कारों से उसका मन भर दिया है और वह उन्हीं के पीछे पागल हो उठी है। परिणाम यह होता है कि वह उसके हाथ की कठपुतली बन जाती है। वह विलास को अपने प्रेमी-रूप में चाहती है और उसके बिना राज्याधिकार भी उसे असार ज्ञात होता है।

कामना प्रभावशालिनी, गर्विता पर सरल हृदय की स्त्री है। उसकी तबीयत में रंगीनी है। द्वीप की वही रानी बनती है परंतु विलास को अपना परामर्शदाता बनाकर उसी के कुचक्र में पड़ जाती है, पश्चात् विलास के प्रभाव में पड़कर वह द्वीप में परिवर्तन की आँधी चला देती है। परिणाम यह होता है कि संघर्ष, हत्या, दुर्वृत्ति आदि के प्रचंड आतंकपूर्ण स्वरूप दिखाई पड़ने लगते हैं। इसे देखते-देखते उस सहृदय रमणी का चित्त अंत में विचलित हो उठता है और उसे अपना भ्रम समझ में आ जाता है। लालसा की माया वह देखती है और उसके कारण चारों ओर फैले हुए विष की तीव्रता का प्रभाव भी समझ लेती है, अतएव उसमें पुनः प्रत्यावर्तन का भाव उत्पन्न होता है। इस परिवर्तन के एक बार उत्पन्न होते ही फिर उसे चारों ओर कुकर्म और अपराधों की आँधी सी दिखाई देने लगती है। अब

वह निश्चय करती है—'यदि राजकीय शासन का अर्थ हत्या और अत्याचार है, तो मै व्यर्थ रानी बनना नही चाहती × × × (मुकुट उतारती हुई) यह लो, इस पाप-चिह्न का बोझ अब मैं नहीं वहन कर सकती'। अत मे अपने पूर्व परिचित सतोष को एक बार पुन संमुख देखकर सहायता की याचना करती हुई वह अपना हाथ आगे बढा देती है।

लीला

लीला का कोई महत्त्वपूर्ण पद नाटक मे नहीं है, परतु समष्टि-प्रभाव के विचार से फल प्राप्ति मे उसके व्यक्तित्व का योग है। कामना की सखी होने के नाते और विलास की महत्त्वाकाक्षा का अस्त्र होने के कारण उसका चरित्र अशून्य मालूम पडता है, पर उसकी कोई अपनी एकातिक सत्ता नहीं दिखाई देती। वह चाटुकारिता के बल पर कहीं विलास को प्रसन्न करती दिखाई पडती है तो कही लालसा को। निश्चय तो किया था सतोष से विवाह करने का पर कामना से प्रभावित हो विनोद को ही स्वीकार कर लेती है। उसे कोई चाहिए, चाहे यह हो अथवा वह। उसका यदि कोई लक्ष्य है तो वह स्वर्णपट्ट है। उसी का आकर्षण उसमे समाया है। इसके अतिरिक्त वह लालसा के स्वर्णकोप से चिंतित रहती है—बस। वनलक्ष्मी का उपदेश भी उसके लिए निरर्थक ही होता है। अत मे स्थिति-परिवर्तन से वह भी अवश्य ही विनोद के साथ अपना स्वर्णपट्ट उतार फेकती है, पर इसमे उसका कोई कृतित्व नहीं दिखाई पडता, वह तो प्रवाह का प्रभाव है।

लालसा

ऐश्वर्य का प्रसाद पाकर, सुख-साधन के नाना रूप संमुख देखकर लालसा के मन मे उनके उपयोग की इच्छा स्फुरित होती है। यह जीवन उसके लिए अनत सुख का सदन है, 'रोकर बिता देने के लिए नहीं है। सब सुखी हैं, सब सुख की चेष्टा मे है, फिर वह। क्यों कोने मे बैठकर रुदन करे। कामना इसी द्वीप की एक लडकी होकर यदि रानी है तो वह भी रानी हो सकती है', परतु उसके लिए विलास के कृपाकटाक्ष की अपेक्षा है, जिसे अपने व्यावहारिक बुद्धि-बल से प्राप्त कर लेना उसके लिए कठिन नहीं है। इसकी प्राप्ति के साधन उसे प्राप्त हैं—मधुर गान, मान और व्यग्य। इस विधान से वह विलास

को वशीभूत कर लेती है। लीला और कामना उसकी व्यंग्योक्ति और वाक्चातुरी से पराजित हो जाती हैं। सबसे बड़ी चिंता उसे अपने स्वर्ण-भांडार की रहती है, उसी के लिए वह दिनरात भयभीत बनी रहती है, वही तो उसके संपूर्ण बल का आधार ठहरा। उसी की प्राप्ति की स्पृहा सबमें वह भरती है और इस प्रकार सबके आदर का पात्र बनती है। कोई उसकी स्वतन्त्रता में बाधा नहीं दे पाता। यदि विलास नहीं है तो क्या! विनोद ही उसके पटमंडप में चले। वह भला अकेली कैसे रह सकती है।

परंतु इतने से उसका क्या हो सकता है। वह अतृप्ति की अक्षय निधि जो ठहरी। वह लालसा है—जन्म भर जिसमें पूर्णता नहीं आ सकती। इसी अतृप्ति की दारुण ज्वाला में वह निरंतर जला करती है। मदिरा की विस्मृति में डूबी रहती है, विहार की श्रांति से थकित रहती है। यदि उन्मत्त विलास दूर गया तो शांत सैनिक ही सही—भला एकांत में मिली रूप-संपत्ति को वह कैसे छोड़ दे। उसे अनुकूल न पाकर वह उग्र और प्रतिहिंसक हो उठती है और पिशाचिनी का रूप धारण कर लेती है। सैनिक को पेड़ से बाँधकर तीर से मरवाती है। विलास उसके चरित्र से पूर्णतया परिचित है। फिर भी उसके व्यक्तित्व से ऐसा प्रभावित है कि सबसे तिरस्कृत होने पर उसी का अवलंब लेता है और उसी के साथ द्वीप छोड़ता है।

देश-काल का विवरण

इस नाटक में दो भिन्न-भिन्न स्थितियों और मानव-मनोदशाओं का चित्रण हुआ है। सामाजिक सृष्टि के आरंभ में मनुष्य और उसके संगठन का रूप अपने बाल्यकाल में होने के कारण कुछ निराले ढंग का था। थोड़े से रहनेवाले थे, थोड़ी सी उनकी आवश्यकताएँ थीं, जो खेतीबारी और सीधी-सादी कार्य - प्रणाली से सरलतापूर्वक पूर्ण हो जाती थीं। जीवन की जटिलताओं का ताना-बाना अभी नहीं बना था, अतएव नाना प्रकार की मनोवृत्तियों का भी उद्भव नहीं हुआ था। सभी यथालाभ संतुष्ट थे। न किसी प्रकार के नियम-नियन्त्रण की अपेक्षा रहती थी और न किसी प्रकार की राजनीति और उसके प्रभाव-परिणाम की। सब स्वतंत्र रहते हुए भी एक थे। उस काल में भिन्नत्व में एकत्व था। सभी निर्भय होकर प्रकृति के अखंड राज्य

का सुख लेते और उसके अगाध वैभव का आनंद लूटने मे ही प्रसन्न और स्वस्थ रहते थे। उसी का निर्देश मानते थे, उसी की उपासना मे निरत रहते थे। चारों ओर मगल ही मगल दिखलाई पड़ता था। उस अबाधित शांतियुग मे सांसारिकता का अधिक प्रवेश नहीं हुआ था।

'सबै दिन जात न एक समान'। अतएव उत्तरोत्तर भौतिकता का प्रसार बढ़ा। युग मे परिवर्तन आरंभ हुआ उसके धर्म मे, स्वभाव मे, रहन-सहन और परिणाम मे नवीनता का प्रवेश हुआ। नवीन विचार और उद्देश्यों के साथ-साथ उठ खडी हुई नवीन परिस्थिति और संघर्ष के दल-बादल भी छा गए। फलत मानव मन की वृत्तियाँ भी बदलीं। इस प्रकार जीवन के सपूर्ण लक्ष्य मे नवीनता का राज्य हो चला। यह नवीनता भौतिक सुख-कामना की ताड़ना से और अधिक प्रचारित हुई। यही कारण है कि नवाविष्कृत उपायों द्वारा नाना प्रकार की विलासिता का उपयोग ही संपूर्ण समाज का चरम साध्य बन गया। सबको आप-आप की सूझ, स्वार्थ, अधिकार-शक्ति और राजनीति का द्वंद्व उठा। नियम-नियत्रण, स्वामित्व दायित्व, आकर्षण-विकर्षण का बोलबाला हुआ और युद्ध-हत्या, आक्रमण-अपहरण, अशांति-अप्रीति आदि भडक उठे। लोगो मे कुविचार, लालसा, प्रमाद, दुर्वृत्ति, अविश्वास और आतंक निरतर बढने लगे। इस प्रकार नरत्व मे पशुत्व घुस पडा और सारी दुनिया ही बदल गई। समस्त नाटक मे इसी काल-परिवर्तन का तर्क सगत विवरण है।

जनमेजय का नाग-यज्ञ

इतिहास

कौरव, पांडवों और यादवों के गृह-कलह के कारण जो जन संहार हुआ उससे आर्यों की शक्ति क्षीण हो गई थी—इसमें सदेह नहीं। पंच-पांडवों के उपरात कुरु देश पर परीक्षित् का शासन स्थापित हुआ सही, परंतु राष्ट्र के शक्ति-क्षय के कारण कहीं-कहीं जंगली जातियों का उत्पात भी आरंभ हो गया। तत्कालीन इतिहास मे इस विषय का उल्लेख मिलता है कि गांधार देश मे नाग जाति ने बड़ा उपद्रव मचाया और कालांतर मे उसने तक्षशिला पर अधिकार जमा लिया[1]। धीरे-धीरे उन लोगों ने संपूर्ण पंजाब प्रात का लंघन कर हस्तिनापुर पर आक्रमण किया और अशक्त राजा परीक्षित् को मार डाला।

महाभारत (१-३-१) के अनुसार परीक्षित् के चार पुत्र थे—जनमेजय, श्रुतसेन, उग्रसेन और भीमसेन। परीक्षित् के अनंतर उनका ज्येष्ठ पुत्र जनमेजय राजा हुआ। वह बड़ा ही शक्तिशाली और दृढ़ शासक था। उसकी शासन-व्यवस्था मे कुरु राज्य फिर सँभल गया। उसकी वीरता और सार्वभौम शासक बनने की महत्त्वाकांक्षा का उल्लेख ब्राह्मण ग्रथों[2] में भी मिलता है। महाभारत में तो सर्प-सत्र तथा उससे संबद्ध तक्षशिला-विजय का उल्लेख स्पष्ट है ही। तक्षशिला-विजय के साथ ही जनमेजय ने संपूर्ण नाग-जाति का उन्मूलन कर डाला और कुछ दिनों के लिए वहीं अपनी राजधानी स्थापित की। इसके अनतर उसने वैशंपायन सूत से भारत-युद्ध की पूरी कथा भी वहीं सुनी।

जनमेजय ने भूल से एक ब्रह्म-हत्या कर दी थी। महाभारत के शांति पर्व (अध्याय १५०) मे इसका उल्लेख है। इस हत्या के प्राय-श्चित मे उसने एक अश्वमेध यज्ञ किया। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार

---

१ श्रीजयचन्द्र विद्यालकार भारतीय इतिहास की रूपरेखा—(१९३३) भाग १, पृ० २८५।

२. ऐतरेय ब्राह्मण ८–११, २१।

उस यज्ञ के आचार्य इंद्रोत दैवाप शौनक थे; पर ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार आचार्य का नाम तुरकावषेय था। भागवत पुराण (६-२२-२५, २६) मे भी ऐतरेय का ही समर्थन है[1]। इन दोनों ब्राह्मण ग्रथों के उल्लेखों मे विरोध होने से प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या जनमेजय ने दो अश्वमेध यज्ञ किए थे? इसका उत्तर मत्स्य पुराण (५०-६३, ६४) मे मिल जाता है। उसी से यह भी प्रकट होता है कि राजा और ब्राह्मणों में विरोध उत्पन्न हो गया था। इस विरोध का उल्लेख अन्य स्थलों[2] पर भी प्राप्त है।

इसी विरोध को लेकर असितागिरस काश्यप ने बड़ा आंदोलन खड़ा किया था। पूर्वकाल मे अर्जुन ने खाडव बन का दाह किया था। उसकी प्रतिक्रिया इस समय आरंभ हुई और विपीड़ित नाग जाति का पुनर्विद्रोह उत्पन्न हुआ। इस राजनीतिक षड्यंत्र और क्रांति का पूर्णत. दमन करने में जनमेजय को बड़ा प्रयत्न करना पड़ा था। आर्यों के प्रति नागों के इस विरोध-भाव को उत्तक आदि सहन नहीं कर सके और निरंतर राजा को उत्साहित करते रहे कि बलपूर्वक विद्रोह का नाश करना ही श्रेयस्कर है। परिणाम-रूप मे सर्प-सत्र अर्थात् तक्ष-शिला-विजय और नाग जाति का पूर्ण पराभव हुआ। इस पराजय के कारण दोनों पक्षों में मित्रता हो गई और राज्य मे शांति स्थापित हुई।

यादवों की एक शाखा कुकुर थी, जिसका उल्लेख तत्कालीन वंशावली मे सर्वत्र प्राप्त है[3]।

कथानक

'प्रसाद' के अन्य श्रेष्ठ नाटकों की भाँति इस नाटक का वस्तु-विन्यास प्रशस्त नहीं है। इसका एक ही कारण ज्ञात होता है। यहाँ तत्कालीन ब्राह्मण-क्षत्रिय-संघर्ष को लेखक ने एक व्यापक समस्या का रूप दिया है। अतएव जितना अधिक ध्यान तद्विषयक चित्रण

---

१ हेमचद्रराय चौधरी पोलिटिकल हिस्ट्री आव् एशियट इडिया (१६३२) पृ० ११-१२।

२ ऐतरेय ब्राह्मण ७-२७ और कौटिल्य का अर्थशास्त्र, तृतीय प्रकरण—'कोपाज्जनमेजयो ब्राह्मणेषु विक्रान्ता'।

३. पर्जीटर एशियट इंडिया हिस्टारिकल ट्रेडिशन पृ० १०४

एवं विषय मे दिया गया है उतना नाटक के अन्य अंगों की ओर नहीं। समस्या के आरोप के निमित्त ही वस्तु-विन्यास कुछ उलझ गया है और चरित्र भी विशेष स्फुट नहीं हो पाए। प्रौढ़काल की रचना होने पर भी इस नाटक म वस्तु-संविधान अत्यंत शिथिल एव अशास्त्रीय है। अशास्त्रीय इसलिए है कि अन्य नाटकों मे घटनाक्रम का आरोह जैसे अंत म एक समष्टि-प्रभाव उत्पन्न करके रसोद्रेक मे योग देता है वैसा इस रचना मे नहीं दिखाई पड़ता। प्रथम अंक मे फल, पात्र एवं विरोधपक्ष का जैसा नाटकीय परिचय मिलना चाहिए वैसा इसमें नहीं है। परिणाम यह हुआ कि द्वितीय अंक तक साध्य-साधन का स्पष्ट ज्ञान ही नही हो पाता। केवल कुछ नगण्य घटना-व्यापारों की एक ऐसी मालिका मिलती है जिसके कारण क्या आवश्यक है और क्या अनावश्यक इसी के निर्णय मे बुद्धि लगी रहती है। पात्रों की अधिकता एवं अनग-कथन की प्रचुरता के कारण, संधिस्थलों की बात तो दूर कार्य की अवस्थाओं का भी ठीक पता नही चलता। केवल अल्पमात्र प्रयत्न को छोड़कर प्राप्त्याशा एव नियताप्ति आदि का उन्मेष नही हो पाया है। कार्य की जो मुख्य अवस्थाएँ—फलोदय तथा फल-प्राप्ति है, उनकी भी व्यवस्था ठीक नहीं दिखाई पड़ती। ऐसी दशा मे वस्तु-विन्यास के विषय मे इतना ही कहा जा सकता है कि कुछ घटना व्यापार, जिनका आपस में कुछ तर्क-सगत संबध है, इस क्रम से चलते हैं कि कुछ चमत्कार उत्पन्न होता जाता है और अंत मे चारों ओर फैला हुआ विरोध-भाव व्यास के बुद्धि-बल से शात हो जाता है। 'अजातशत्रु', 'स्कंदगुप्त', 'चद्रगुप्त', 'ध्रुवस्वामिनी', इत्यादि में प्रधान नायक का प्रवेश प्रथम दृश्य में ही हुआ है, परतु इस नाटक मे वह तीसरे दृश्य मे दिखाई पड़ता है; उस पर भी किसी सक्रिय रूप मे नहीं—केवल जिज्ञासा और वितर्क में निरत। प्रत्येक अक के आरभ और अंत प्राय. नीरस व्यापारों से आकीर्ण होने के कारण प्रभावविहीन और अनाटकीय हैं। इस प्रकार नाटक का सारा वस्तुविन्यास शिथिल है।

पात्र

वस्तु-विन्यास के शैथिल्य से पात्रों का अधिक विनियोग करना पड़ा है। इसका प्रभाव चरित्र-चित्रण पर भी पड़ा है। चरित्रांकन म

जैसा विकास-क्रम दिखाई पड़ना चाहिए वैसा इस नाटक में नहीं हो सका है। 'चंद्रगुप्त' और 'स्कंदगुप्त' के पाठकों को इस विषय में यहाँ निराश होना पड़ता है। अनेक प्रासंगिक घटनाओं के साथ पात्रों की इस बहुलता को सँभालते चलना और व्यक्ति वैलक्षण्य का स्पष्ट चित्रण करते चलना असंभव सा हो गया है फिर भी 'प्रसाद' की प्रतिभा अपना प्रकृत धर्म छोड़ती नहीं दिखाई पड़ती। प्रत्येक पात्र के चरित्र की मौलिक वृत्ति का आभास मिल ही जाता है।

सरमा

साहस और वीरता पर आस्था रखनेवाली कुकुरवंशीया यादवी सरमा बड़ी निर्भीक और तेजस्विनी है। नागों की वीरता पर मुग्ध होकर उसने आत्म-समर्पण अवश्य कर दिया है, परंतु मनसा द्वारा किए हुए अपने जातीय अपमान को कदापि सहन नहीं कर पाती। उसके वक्षस्थल मे केवल अबलाओं का रुदन ही नहीं भरा है। वह अकर्मण्य होकर किसी के सिर का बोझ बनने के लिए तैयार नहीं है। उसमें अपमानपूर्ण राज-सिंहासन भी अपने पैरों से ठुकरा देने की शक्ति है। उसकी निर्भीक उग्रता उस समय दिखाई पड़ती है जब राजसभा में अपने पुत्र की फरियाद करने गई है। सब प्रकार से शक्तिहीन होने पर भी उसका चरित्र दुर्बल नहीं है। गुप्त हत्या के द्वारा प्रतिशोध लेने का प्रस्ताव सुनकर ही वह अपने प्राणप्रिय पुत्र का कठोर शब्दों में विरोध करती है। राजकुल से अपने अपमान का बदला लेने मे तो वह दृढ़ अवश्य है, पर लुक-छिपकर नहीं, प्रत्यक्ष रूप से उसमें आत्मविश्वासपूर्ण उदारता भी है। बर्बर तक्षक से उत्तंक की रक्षा करके उसने मनुष्यता का अच्छा प्रमाण दिया है। समान का वचन लेकर ही वह वासुकि के साथ पुन जाती है पर फिर उसे उसी अपमान का सामना करना पडता है। वहाँ से क्रुद्ध होकर वह लौटती तो है पर नागों की विपत्ति देखकर मनसा से कहती आई है कि नागों का कोई अनिष्ट नहीं करूँगी।

वह सच्ची प्रेमिका भी है। उसने सच्चे हृदय से वासुकि को आत्म समर्पण किया है और उसे दुःख मे पड़ा देखकर वह विचलित हो उठती है। उसी के त्राण के लिए राजकुल में जाकर दासी बनती है। राज-सिंहासन पर बैठकर वपुष्टमा ने जो उसका तिरस्कार किया

था, उसके प्रतिकार का वहीं अवसर मिलने पर भी वह आर्यबाला के अपमान में सनद्ध काश्यप और तक्षक का विरोध करती है और कौशलपूर्वक रानी को व्यासाश्रम में पहुँचा देती है। वहाँ वपुष्टमा को दुःखित और विनत देखकर वह अपना सब अपमान भूल जाती है। मंगलमयी बनकर वपुष्टमा को राजा से मिलाती है और राजा से मणिमाला का पाणिग्रहण कराकर आर्यों तथा नागों के विरोध को समाप्त करती है।

मनसा

नागबाला मनसा अपनी जाति के लुप्त गौरव, विस्तृत राज्य, प्रशस्त संस्कृति और अतुल शौर्य-वीर्य की कथा गा-गाकर संपूर्ण नाग जाति को प्रोत्साहित करने मे लगी रहती है। उसने इसी को अपने जीवन का लक्ष्य बना रखा है। जातीय कल्याण के विचार से ही उसने अपने स्त्रीत्व और यौवन का उत्सर्ग करके वृद्ध जरत्कारु ऋषि से विवाह कर लिया है। वह व्यवहार में बड़ी रूक्ष है। इसी से उसकी किसी से पटती नहीं। वह निरंतर नागों को इसलिए उभाड़ा करती है कि वे आर्यों से युद्ध करें और उनके अत्याचारों का यथेष्ट प्रतिफल दें। जहाँ अवसर मिलता है वह इसी विद्वेष को प्रज्वलित करने में निरत दिखाई पड़ती है। जब वह अपने पुत्र को ही इस विद्वेषबुद्धि का विरोध करते पाती है तो वह उसका भी त्याग कर देती है। अश्वमेध के घोड़े को रोकने के लिए आगे बढ़कर उसी ने सब नागों को ललकारा है और अंत में युद्ध करा के ही छोड़ती है। उस युद्ध के विषम फल को देखकर वह बहुत दुखी होती है। नागों का नाश देखकर उसमें परिवर्तन होता है और तब उसी उत्साह से वह इस बात की भी चेष्टा करती है कि दोनों जातियों में गौरवपूर्ण समझौता हो जाय। इस विषय में वह सफल भी होती है। यही जातीय एकनिष्ठता उसके चरित्र की विशेषता है।

अन्य स्त्री पात्र

वपुष्टमा का चरित्र राजमहिषी के अनुरूप ही है। वह गंभीर, दृढ़, चिंतनशील, उदार और पति में अनुरक्त है और अपने कर्तव्य का सदैव विचार रखती है। उसकी चित्त-वृत्ति सदा ही स्थिर दिखाई पड़ती है। मणिमाला सरल, भावुक, उदार और निर्मल चरित्र की

रमणी है। उसके कोमल प्राणों में एक बड़ी करुणामयी मूर्च्छना है। वह सारे संसार को सुंदर भावों में डुबाने की कामना रखती है। नाग जाति की सांस्कृतिक बर्बरता से पृथक्, आर्य सस्कृति के अनुकूल गुणों का उसमे भव्य प्रसार दिखाई पड़ता है। उसके सभी व्यवहारों मे प्रेम का प्रभाव प्राप्त होता है। सेवा, सरलता, कोमलता और प्रीति ही उसके चरित्र के लक्षण हैं। वृद्धस्थ तरुणी भार्या दामिनी सौदामिनी की ही भाँति चचला है। विवेक की कमी के कारण उच्छृंखलता उसे इधर-उधर भटकाती रहती है।

जनमेजय

कुरु साम्राज्य का अधिपति युवक जनमेजय तेजस्वी, वीर, उत्साही, कर्तव्यशील, विनोदप्रिय एवं राजशक्ति से गर्वित धीरोदात्त नायक है। वंशगत विरोध का स्मरण करके उसके हृदय मे नाग जाति के प्रति बड़ा विद्वेष भरा है। नाग-संबंध सुनकर ही वह सरमा से भी रूक्ष हो उठता है। प्रकृति से उदार और भावुक है। उत्तक के द्वारा अपने गुरुकुल का समाचार सुनकर प्रसन्न एवं गद्गद् हो उठता है। उसने बड़े ही ममत्व से अपने गुरु और गुरुकुल के वृक्ष महावट का कुशल पूछा है। जरत्कारु की हत्या हो जाने पर वह बड़ा दुखी होता है; इससे उसके हृदय की शुद्धता प्रकट होती है। उसका हृदय धिक्कार की ज्वाला से भस्म होने लगता है। वह मान जाता है कि मनुष्य वस्तुत प्रकृति का अनुचर और नियति का दास है। उसकी सहृदयता अनेक अवसरों पर दिखाई पड़ती है। मणिमाला के प्रथम दर्शन के अवसर पर उसने अपनी वह विशेषता झलकाई है। कभी-कभी चिंताधिक्य से वह अवश्य निरुत्साह सा होने लगता है, परतु इसका प्रभाव अधिक बढ़ने नहीं पाता। ब्राह्मणों के षड्यन्त्रों से कुछ देर के लिए वह किंकर्तव्यविमूढ़ होता है पर तक्षक द्वारा किये गए अपने पिता के निधन का गुप्त रहस्य और उत्तंक की उत्साहवाणी सुनकर उसकी कार्यशीलता फिर अपने प्रकृत रूप में आ जाती है। वह उत्साह-भरे शब्दों में प्रतिज्ञा करता है कि 'अश्वमेध पीछे होगा, पहले नाग-यज्ञ करूँगा'। उसने अपना कठोर निश्चय वपुष्टमा को भी सुनाया है—'आलस्य मुझे अकर्मण्य नहीं बना सकता एक बार कर्म-समुद्र में कूद पड़ूँगा, फिर चाहे जो कुछ हो'। इस बात से

उसका अदम्य साहस, अक्षोभ्य दृढ़ता और दुर्वार वीरता प्रकट होती है। संघर्षपूर्ण जीवन प्रवाह को देखकर कभी-कभी उसके मन में यह जिज्ञासा उठती है कि कोई बतावे मेरे भविष्य में क्या है, परंतु यह कुतूहल उसे कहीं भी अकर्मण्य नहीं बनाता। वह एकनिष्ठ होकर अपने विरोधियों के दमन में लगा रहता है और राज्य में अशांति नहीं होने देता। कुचक्रों की उग्रता देखकर—रानी के गुप्त होने का समाचार पाकर वह पूर्णतया उन्मत्त और कठोर बन जाता है। कुछ समय के लिए उसका विवेक कुंठित हो उठता है। उसी आवेश में वह सारी ब्राह्मण-मण्डली को निर्वासन-दण्ड की और दूसरी ओर अवशिष्ट नागों को एक-एक करके हवन कुंड में डालने की आज्ञा देता है। उसके क्रूर निर्देशों को देखकर तक्षक भी दहल उठता है। ऐसे आवेशपूर्ण समय में भी उसे शासनकी मर्यादा और न्यायविधान का माहात्म्य भूलता नहीं। न्याय के नाम पर आस्तीक की पुकार का सच्चे शासक की भाँति वह आदर करता है और सुविचारपूर्वक निर्णय देता है—'छोड़ दो तक्षक को'। फिर तो वह आवेश-धारा इस बाँध से एकदम मद पड़ जाती है। सरमा के अभियोग का अनुकूल फल और व्यास के निर्देश का मंगल-परिणाम अपने रूप में आ ही जाते हैं। इस प्रकार क्रोध मे उन्मत्त और उग्र होकर भी जनमेजय सर्वथा विवेकांध नहीं होता, उस समय भी उसमे राजोचित-गरिमा बनी ही रहती है। उसका व्यक्तित्व इसी गरिमा को लेकर भव्य दिखाई पड़ता है।

उत्तंक

उत्तंक के चरित्र का अच्छा परिचय दिया गया है। गुरुकुल में तो वह अत्यंत ही साधु और कर्तव्यशील ब्रह्मचारी के रूप में दिखाई पड़ता है परंतु वहाँ भी वह प्रकृति से दृढव्रत ज्ञात होता है क्योंकि गुरुपत्नी की कष्ट-साध्य कुंडल-लालसा की पूर्ति पर वह विचलित नहीं होता। स्थिर भाव से कहता है-'गुरुदेव ! यही होगा। कल मैं जाऊँगा'। राजसभा में जिस निर्भीक और व्यावहारिक ढंग से बात करता है उससे उसकी प्रकृति मे कर्म-कठोरता भी है—यह प्रकट हो जाता है। निश्चय की दृढ़ता के साथ इस कठोरता के मिल जाने से ही उसका चरित्र कौटिल्य की भाँति हो गया है। मार्ग में तक्षक के विरोध कर देने से उसके और उसकी संपूर्ण जाति के लिए यह महाकाल बन

जाता है। निरंतर राजा और रानी को उत्साहित एवं सचेष्ट बनाए रहता है और अंत में सब ब्राह्मण-मंडली के विरुद्ध हो जाने पर भी अपने निश्चय को पूर्ण करने के लिए जनमेजय का साथ देता है।

अन्य पुरुष-पात्र

काश्यप क्रोधी, उद्धत, कुचक्री एव भारी अर्थलोलुप है। पैसे के फेर मे किसी का गला भी काटने को सदैव तत्पर रहता है। कभी इधर, कभी उधर, इसी फेर मे लगा फिरता है कि कुछ अपना बना ले। वासुकि बर्बर नाग जाति का प्रतिनिधि होने पर भी सहृदय और सत्यप्रिय है। विरोध होने पर भी उसने अपनी पत्नी की जान बचाने मे बडी दृढता से काम लिया है। अपनी जाति की रक्षा मे भी वह परम सहायक है। आर्यों के अभियान के समय नाग-सेना एकत्र कर उनका प्रतिरोध सर्वप्रथम उसी ने किया है। तक्षक का प्रमुख गण भी वही है। तक्षक का अकन प्रतिपक्ष के रूप मे बहुत अच्छा हुआ है। अपनी जाति का वह नायक है, अतएव अपनी जाति की शेष शक्ति और मर्यादा बनाए रखने मे वह सतत प्रयत्नशील बना रहता है। उसकी बर्बरता का रूप उस समय देखने को मिलता है जब वह उत्तक की हत्या मे लगा दिखाई पड़ता है। वेदव्यास तो विचार, विवेक और ब्रह्मत्व के प्रतीक हैं—सर्वद्रष्टा और विश्वकल्याण के रूप हैं। सबकी बिगड़ी सुधारने की सत्कामना उनके हृदय मे सदा बनी रहती है। आस्तीक नाग-रमणी के पेट से उत्पन्न अवश्य है, परतु उसमे आर्य-रक्त है केवल इसीलिए नहीं, अपितु मंगल-भाव से भी प्रेरित होकर वह दोनों विरोधी जातियों मे सधि कराना चाहता है। सदुद्देश्य का विचार कर अपनी माता तक का त्याग स्वीकार कर लेता है। उसमे विवेक का अच्छा विस्तार दिखाया गया है।

उपसंहार

प्रतिभा दिखाई है, यही कारण है कि बड़े नाटकों में भी वस्तु-विन्यास सुसंगठित हो सका है। सभी रचनाओं में परिस्थितियों की उद्-भावना और योजना सुसंगत है। चंद्रगुप्त और फिलिप्स का द्वंद्व इसके उदाहरण के रूप में लिया जा सकता है। फिलिप्स के मारे जाने का बीजभूत कारण वहाँ से अंकुरित होता है जहाँ चंद्रगुप्त ने कार्नेलिया को अपमानित होने से बचाया है। कई अवसरों पर जब-जब चंद्रगुप्त और फिलिप्स का सामना होता है तब-तब वह विरोध उग्रतर होता जाता है और अंत में एक मृत्यु की घटना घटित ही हो जाती है। यों तो आधिकारिक कथा ऐसी-ऐसी विभिन्न घटनाओं को अपने साथ लगाती हुई चलकर एक सामूहिक प्रभाव उत्पन्न करती है, परंतु यदि किसी एक घटना का अपना अस्तित्व अलग से देखा जाय तो उसके लिए भी परिस्थितियों के वृद्धिक्रम की योजना आवश्यक प्रतीत होगी।

विस्तार-भार

'प्रसाद' के कथानकों में प्राय अनावश्यक विस्तार भी मिलता है जो वस्तु-संविधान में शैथिल्य उत्पन्न करता है। यह विस्तार तीन प्रकार का दिखाई पड़ता है। प्रथम सोद्देश्य होता है, जिसे हम लेखक की अभिरुचि और सिद्धांत मान सकते हैं। जहाँ विरोध अथवा संघर्ष व्यापक हो जाता है वहाँ कुछ दूर चलकर सक्रियता के समाप्त होने पर भी यह दिखाने की आवश्यकता हो सकती है कि किन कारणों से और किन-किन परिस्थितियों में उस विरोध भाव का दमन होता है। सक्रियता के अभाव में ऐसा स्थल नीरस और अवसाद-जनक हो जाता है। इसके उदाहरण 'राज्यश्री' और 'अजातशत्रु' के अंतिम अंक के अधिकांश है। प्रधान कथा की धारा के साथ चलने से फिर भी यह विस्तार उतना अधिक अरोचक नहीं लगता जितना निरर्थक उत्पन्न किया हुआ विच्छिन्न विस्तार-भार। ऐसा विस्तार उन स्थलों पर दिखाई पड़ता है जहाँ कथा की प्रकृति धारा रोककर लेखक अन्य प्रसंग उठा देता है और फिर उसी को लेकर वाद-विवाद का रूप जमाने लगता है। ऐसे स्थल लेखक के श्रेष्ठ नाटकों में भी मिलते हैं, जो अरुंतुद ज्ञात होते हैं। 'अजातशत्रु' में शक्तिमती और दीर्घकारायण का विवाद इसी प्रकार का है। 'स्कंदगुप्त' में भी विहार

के समीप चतुष्पथ पर ब्राह्मण और श्रमण का वाक्-संघर्ष अप्रासंगिक एवं अतिमात्र मालूम पड़ता है। इस दृश्य के ठीक पहलेवाला दृश्य भी इसी प्रकार निरर्थक है। 'चंद्रगुप्त' मे वह दृश्य भी इसी कोटि का है जिसमें कारावास मे पड़ा हुआ चाणक्य राक्षस और वररुचि से विवाद करने लगता है अथवा जहाँ शकटार अपनी राम-कहानी एक साँस मे कह डालने की चेष्टा करता है। कुछ न कुछ इस प्रकार की बातें सभी नाटकों में मिलती हैं। इससे मालूम पड़ता है कि लेखक की यह प्रवृत्ति सी हो गई है।

इस प्रकार का दूसरा विस्तार है स्वगत-भाषण। समय और प्रसगानुसार यदि अल्पविस्तारी स्वगत-भाषण हों तो सह्न किए जा सकते हैं, परतु द्विजेंद्रलाल राय के कथोपकथनों की भाँति यदि अनियंत्रित और अति विस्तृत हों तो अपनी अप्रकृत अतिमात्रा के कारण सुनते-सुनते उद्वेग उत्पन्न करते हैं। बिबसार, स्कदगुप्त और चाणक्य के स्वगत-भाषण इसके उदाहरण हैं। उनकी आवृत्ति तो और भी खटकती है। तीसरा विस्तार ऐसा भी मिलता है कि साधारण सूच्य बातों के लिए भी पूरे दृश्य के दृश्य खड़े कर दिए गए हैं। यदि नि सकोच विचार किया जाय तो सभी नाटकों मे दो-तीन दृश्य ऐसे मिलेंगे जिन्हें निकाल देने पर न कथा का संबध बिगड़ेगा और न अन्य प्रकार की ही कोई त्रुटि होगी। उदाहरण के लिए 'स्कंदगुप्त' के दो दृश्यों का उल्लेख हो ही चुका है। उनके अतिरिक्त चतुर्थ अंक का अंतिम दृश्य भी वैसा ही है। 'चद्रगुप्त' के भी एक ऐसे दृश्य का कथन हो चुका है। उसके अतिरिक्त मालव-क्षुद्रकों का परिषद्‌वाला दृश्य भी शुद्ध सूच्य हो सकता था। अनेक ऐसी बातों के लिए स्वतंत्र दृश्यों की रचना हुई है, जिनकी केवल सूचना ही—किसी प्रकार से क्यो न हो—यथेष्ट थी।

अंक और दृश्य

'प्रसाद' का अकों और दृश्यो के विभाजन का सिद्धांत एक सा नहीं दिखाई देता। 'अजातशत्रु' मे जैसा अंकों के भीतर दृश्य और तत्सूचक संख्याओं का निवेश किया गया है वैसा 'स्कदगुप्त' मे नही। वहाँ नवीन पद्धति से दृश्यों की संख्याओं का विनियोग है। आगे चलकर 'चंद्रगुप्त' मे दृश्य शब्द का प्रयोग नही है, केवल

सख्याओं का उपयोग हुआ है। वस्तुत बात यह है कि लेखक अत तक निर्णय नहीं कर पाया है कि 'दृश्य' शब्द का प्रयोग कहाँ तक परंपरानुमोदित एवं समीचीन है, इसीलिए यह परिवर्तन होता गया है। यदि उसने केवल प्राचीन परिपाटी का ही अनुसरण किया होता तो इस बाधा से बच सकता था। जहाँ उसने उद्घातकों अथवा गर्भांक ऐसे सूच्य दृश्यों का, बिना उल्लेख किए प्रयोग किया है वहाँ थोडा सा श्रम स्वीकार करके उनका उल्लेख भी कर सकता था, परंतु ऐसा किया नहीं गया। परिणाम उसका यह हुआ है कि सभी नाटकों में यत्र-तत्र कई ऐसे दृश्य आए हैं जिनको अभिनय मे और पढने में भी कोई आवश्यकता नहीं प्रतीत होती। इसके विपरीत वे निरर्थक एवं भार से लगते हैं। उदाहरण के लिए प्रमुख नाटकों को लेना ही उचित होगा। 'चंद्रगुप्त' के प्रथम अक का तृतीय और सातवाँ, द्वितीय का पाँचवाँ, सातवाँ और दसवाँ आदि तथा 'स्कंद-गुप्त' के प्रथम अक में पथचारी मातृगुप्त, मुद्गल और कुमारदास (धातुसेन) का प्रसंग, चतुर्थ अक मे धातुसेन और प्रख्यातकीर्ति तथा चतुष्पथ मे ब्राह्मण श्रमण के वाक्-युद्धवाला दृश्य अथवा ऐसे ही और भी अन्य दृश्यों की या तो आवश्यकता ही नहीं थी अथवा इनकी सूचना भर यथेष्ट थी।

अकों के विभाजन में भी इस अव्यवस्था का कुछ रूप मिलता है। जहाँ कार्य की अव्यवस्थाओं, अर्थप्रकृतियों और सधियों का विचार रखा गया है वहाँ तो कितनी घटनाएँ और प्रसंग एक अक मे आने चाहिए इसका विचार किया गया है—जैसे, 'चंद्रगुप्त' 'स्कदगुप्त' और 'ध्रुवस्वामिनी' मे, अन्यथा स्पष्ट विभाजन मे भी गड़बड़ी है—जैसे, 'अजातशत्रु' और 'जनमेजय का नाग-यज्ञ' मे। यदि यह विभाजनक्रिया किसी निश्चित सिद्धांत पर रही होती तो 'चद्रगुप्त' पाँच अंक का और 'राज्यश्री' तीन अंक का नाटक होता। अभिनय के व्यावहारिक विचार से अंकों के क्रमानुसार दृश्यों की संख्या मे निरंतर कमी होनी चाहिए, परंतु कुछ नाटकों मे तो इसका अनुसरण हुआ है और कुछ मे नहीं। निर्णय के लिए कुछ नाटकों के क्रम देखे जा सकते हैं। अंकों और दृश्यों का क्रम इस प्रकार है—'राज्यश्री' में सात-सात-पाँच-चार, 'विशाख' में पाँच-पाँच-पाँच, 'जनमेजय का

नाग यज्ञ' में सात-आठ-आठ, 'अजातशत्रु' में नौ-दस नौ, 'स्कंदगुप्त' मे सात-छ -छ -सात-छ' और 'चंद्रगुप्त' मे ग्यारह-ग्यारह-नौ सोलह नवीन संस्करण में चौदह। अंतिम चार नाटकों का क्रम विचारणीय है। इसके अतिरिक्त सभी नाटकों मे कुछ दृश्य अत्यंत लघु और कुछ अत्यंत विशाल हैं। व्यावहारिकता के विचार से ऐसा भी नही होना चाहिए।

वस्तु विन्यास

भारतीय नाट्यशास्त्र में वस्तु तत्त्व का बड़ा व्यापक नियमन किया गया है। कार्य की अवस्थाओं, अर्थप्रकृतियों तथा संधियों के द्वारा इस तत्त्व के नियंत्रण की व्यवस्था हुई है। 'प्रसाद' का वस्तु-संविधान सभी नाटकों मे अच्छा हुआ है। जिसमे उक्त नियमों का विचार अधिक रखा गया है, वे अवश्य ही अन्य रचनाओं की अपेक्षा अधिक सुदर है—जैसे, 'चद्रगुप्त', 'स्कंदगुप्त' और 'ध्रुवस्वामिनी'। इस विचार से 'जनमेजय का नाग यज्ञ' और 'अजातशत्रु' उतने अच्छे नहीं उतरे। जिन नाटकों का वस्तु विन्यास पद्धति के अनुसार हुआ है उनमे संधियाँ ही नहीं संध्यंगों तक की स्थापना उचित स्थान पर दिखाई पड़ती है—जैसे, 'चंद्रगुप्त' के द्वितीय अक में प्रतिमुख संधि के अंतर्गत आनेवाले कुछ सध्यंगों का रूप देखा जा सकता है। युद्ध-क्षेत्र मे संधि के पूर्व सिकदर और पर्वतेश्वर के कथोपकथन में 'उपन्यास', पाँचवें दृश्य मं चद्रगुप्त और मालविका के सवाद में 'पुष्प', चतुर्थ दृश्य के आरंभ में 'निरोध' (हितरोध), तृतीय दृश्य में कल्याणी जहाँ अपने सैनिकों से बातचीत करती है वहाँ शम और जहाँ वह पर्वतेश्वर से बाते करती है वहाँ 'प्रगमन', उसी दृश्य के आरंभ में जहाँ चंद्रगुप्त कुछ किकर्तव्य विमूढ-सा दिखाई पड़ता है वहाँ 'विधूत' (अरति) के रूप देखे जा सकते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि जिन नाटकों मे वस्तु-विन्यास शास्त्रीय पद्धति पर हुआ है उनमे तत्संबंधी सभी विशेषताएँ यथास्थान मिल जाती हैं। यही कारण है कि 'प्रसाद' के कथानक मे चमत्कारयुक्त आरोहावरोह प्राप्त होता है। सविधानक संबंधी यह सौष्ठव समष्टि-प्रभाव की स्थापना में सर्वदा सहायक बना रहता है।

पात्र

नायक और प्रतिनायक

नाटक के प्रधान पात्र—नायक—में जिन गुणों तथा विशेषताओं का होना आवश्यक है, वे 'प्रसाद' के नायकों में सर्वत्र हैं क्योंकि 'विशाख' को छोड़कर अन्य सभी नाटकों में नायक भारत का सम्राट् ही है। ख्यातवृत्त का प्रधान पुरुष अवश्य ही कुलशील में श्रेष्ठ होगा—ऐसा निश्चित है। स्कन्दगुप्त, चंद्रगुप्त मौर्य, गुप्तवंशीय चद्रगुप्त, जनमेजय इत्यादि सभी विनीत, मधुर, त्यागी, दक्ष, प्रियंवद, शुचि, लोकानुरंजक, वाग्मी, अभिजात, स्थिर, युवा, बुद्धिमान्, प्रज्ञावान्, स्मृतिमान्, उत्साही, कलावान, शास्त्रचक्षु, आत्मसंमानी, शूर, दृढ, तेजस्वी और धार्मिक हैं, साथ ही नाटकीय कथा की शृंखला को आदि से अंत तक जोड़ते जाते है। ये सभी नायक महासत्त्व, क्षमा-वान्, अतिगंभीर, दृढव्रत और आत्मप्रशंसा शून्य हैं। इनमे गर्व भी दिखाई पड़ता है पर विनयाच्छादित। ऐसी अवस्था मे वे सभी धीरोदात्त नायक माने जायँगे। उक्त गुणों मे से अधिकांश अजातशत्रु मे भी है। परंतु प्रश्न उठता है राज्यश्री और ध्रुवस्वामिनी के विषय में जहाँ नायक ने नहीं नायिका ने प्रमुख स्थान ग्रहण किया है। उन नायिकाओं मे भी प्राय वे सब गुण विद्यमान हैं जिनके कारण नायक का महत्त्व होता है, इसलिए वे रूपक नायक-प्रधान न होकर नायिका-प्रधान कहे जायँगे। विपक्ष दल के नेता प्राय धीरोद्धत नायक है। ये मायावी, छली, प्रचंड, चपल, असहनशील, अहंकारी, शूर और स्वयं अपनी प्रशसा करनेवाले हैं। इन गुणों मे से अधिकांश भटार्क, राक्षस, आंभीक, रामगुप्त, काश्यप और तक्षक इत्यादि मे वर्तमान हैं। 'प्रसाद' के ये विरोधी नेता भी सर्वत्र चारित्र्ययुक्त दिखाई पड़ते हैं।

पताका नायक

प्रधान नायक के ही समान गुण-धर्मवाला व्यक्ति नाटक के प्रास-गिक कथा-भाग का नायक हो सकता है। उसका अपना कोई भिन्न उद्देश्य नहीं होता। आधिकारिक नायक के ही कार्य-व्यापार में योग

गौरवपूर्ण ढंग से प्रिय के लिए अपने जीवन की बलि चढ़ा दी जाय, जैसा मालविका ने किया है। प्रेम का ऐसा आदर्श रूप भी इसी विश्व मे प्राप्त होता है।

स्त्री-जीवन के वैशिष्ट्यपूर्ण महत्त्व का विवेचन अनेक स्थलों पर हुआ है। इसका हलका सा प्रयास, एक घूँट में दिखाई पडता है, जहाँ आनद ने स्वीकार किया है—'आज मेरे मस्तिष्क के साथ हृदय का जैसे मेल हो गया है, इस हृदय के मेल कराने का श्रेय वनलता को है'। इससे वही बात पुष्ट होती है कि 'प्रसाद' ने स्त्री को हृदय का प्रतिनिधि माना है। दूसरा स्थल अजातशत्रु नाटक के तृतीय अंक का चौथा दृश्य है। वहाँ दीर्घकारायण के मुख से 'प्रसाद' ने स्त्री-महत्त्व का खुलकर प्रतिपादन किया है—स्त्रियों के संगठन मे उनके शारीरिक और प्राकृतिक विकास में ही एक परिवर्तन है जो स्पष्ट बतलाता है कि वे शासन कर सकती हैं, किंतु अपने हृदय पर। वे अधिकार जमा सकती हैं उन मनुष्यों पर जिन्होंने समस्त विश्व पर अधिकार किया हो'। × × × 'मनुष्य कठोर परिश्रम करके जीवन-संग्राम में प्रकृति पर यथाशक्ति अधिकार करके भी एक शासन चाहता है, जो उसके जीवन का परम ध्येय है, उसका शीतल विश्राम है, और स्नेह सेवा करुणा की मूर्ति तथा सांत्वना का अभय वरदहस्त का आश्रय, मानव-समाज की सारी वृत्तियों की कुंजी, विश्व शासन की एकमात्र अधिकारिणी प्रकृतिस्वरूपा स्त्रियों के सदाचारपूर्ण स्नेह का शासन है।' × × × 'कठोरता का उदाहरण है पुरुष, और कोमलता का विश्लेषण है स्त्री-जाति। पुरुष, क्रूरता है तो स्त्री करुणा है, जो अंतर्जगत् का उच्चतम विकास है जिसके बल पर समस्त सदाचार ठहरे हुए हैं, इसलिए प्रकृति ने उसे इतना सुंदर और मनमोहन आवरण दिया है—रमणी का रूप'। प्रसग निकाल कर इसी प्रकार स्कंदगुप्त नाटक मे भी मातृगुप्त और धातुसेन के संवाद द्वारा स्त्री पुरुष के मौलिक एवं दार्शनिक वैषम्य की व्यावहारिक मीमांसा की गई है इस अंतर के स्पष्टीकरण की ओर 'प्रसाद' का विशेष आकर्षण दिखाई पडता है। अतएव उनकी कृतियों की आलोचना करते समय उस सिद्धांत का विचार आवश्यक है जिसका स्थापन उन्होंने किया है।

स्त्री-महत्त्व के विषय में लेखक के उक्त विचार के अनुसार ही नाटकों में स्त्री-पात्रों का सर्जन हुआ है। जहाँ स्त्री अपनी यथार्थ

प्रकृति को छोड़कर उच्छृंखलता के कारण नाना प्रकार की दुरभि-सधियों मे पड़ती है, अथवा ऊँचे स्तर पर से उतरने की चेष्टा करती है वहाँ उसमें सुधार की आवश्यकता है—जैसे शक्तिमती, छलना, सुरमा, अनतदेवी और विजया इत्यादि है। इन्होंने अनेक प्रकार के कुचक्र रचे परतु उपद्रवों की शांति के साथ उनकी उद्दंड वृत्तियों का भी सुधार हो गया है। इनके विरुद्ध ऐसी स्त्रियाँ भी रूपकों में दिखाई पडी है जो साधारण होते हुए भी पातिव्रत के श्रेष्ठ गुण से युक्त होने के कारण उज्ज्वल हो उठी हैं। उनकी एकनिष्ठता दिव्य रूप की है। उन्हे आदर्श रूप तो नहीं दिया गया परंतु वे अपने प्रकृत स्वरूप मे मनोहर बन गई है—जैसे, वपुष्टमा, जयमाला और चद्रलेखा। इनके अतिरिक्त वाजिरा और मणिमाला ऐसी दुलहिनें भी अपनी मर्यादा के कारण यथार्थ रूप धारण किए है। इस प्रकार 'प्रसाद' की रंगीन सृष्टि में स्त्रियों का विविध रूप देखने को मिल जाता है।

आदर्श और यथार्थ

आदर्श पात्रों के रूप मे चरित्रांकन की परिपाटी से हम परिचित हैं। आदिकाल से हम राम-रावण के रूप देखते चले आ रहे है। एक मे गुणो का समुच्चय और दूसरे मे अवगुणों का ढेर लगाकर एक को अच्छा ही अच्छा दिखा देना और दूसरे को बुरा ही बुरा कहना यह पद्धति अति प्राचीन है। चित्रण का यह ढग सरल भी होता है और सोद्देश्य रचनाओं में यह रूप सरलता से खप भी जाता है, पर इधर पाश्चात्य प्रभाव से प्रेरित मनोवृत्ति इसके विरुद्ध हो रही है, क्योंकि उसमे व्यक्तित्व-दर्शन की अभिलाषा बढ़ रही है। लोग यथार्थ-चित्रण को अधिक महत्त्व देने लगे है और साधारणत मानव-रूप मे देवत्व और असुरत्व का संमिश्रण मानने लगे है। अतएव गुणावगुण का योग परम आवश्यक समझा जाने लगा है। यह यथार्थ-प्रियता व्यक्ति वैचित्र्य वाद की जननी बनकर पूज्य बनती जा रही है।

मूलत 'प्रसाद' भारतीय पद्धति के ही प्रतिपादक है। बाह्य आवरण मे भले ही उन्होंने थोड़ी सी नवीनता अपना ली हो पर उनका अंतर भारतीय रंग मे ही रँगा है। यही कारण है कि आदर्श पद्धति का उन्होंने अनुसरण किया है। बलपूर्वक केवल भारतीय सिद्धांत

के प्रतिपालन-निमित्त ही उन्होंने ?? नहीं किया किंतु सारा ढाँचा ही उसी प्रकार का रखा है 'नाटक ख्यातवृत्त स्यात् पंच-संधि-समन्वितम्' का जब उन्होंने पूरा निर्वाह किया तो फिर अवश्य ही ख्यातवृत्त के अधिकारी नायक और उनके पताका-नायक भी उसी आधार पर उदात्तवृत्ति के है। ऐसी अवस्था मे उनका आदर्श रूप हो जाना प्रकृत ही है। सभी नाटकों मे अधिकारी नायक और उनके सहायक समान रूप से सच्चरित्र, दिव्य और हमारी प्रशंसा के पात्र है। स्कंदगुप्त, चद्रगुप्त मौर्य, बधुवर्मा, पर्णदत्त, गुप्त सम्राट् चद्रगुप्त, सिहरण इत्यादि सभी आदर्श पात्र हैं। विरोध-पक्ष मे भी आदर्श रूप ही चलता तो बात खटकने की संभावना थी। अतएव वहाँ यथार्थ चित्रण की चेष्टा की गई है। इस यथार्थ मे भी आदर्श का पुट अवश्य है, क्योंकि उस पक्ष के प्रधान गुण भी अकित किए गए है। भटार्क, राक्षस इत्यादि मे दोष-पक्ष प्रबल अवश्य है, परतु उनमे गुण की भी उपस्थिति स्वीकार की गई है। भटार्क अथवा राक्षस धीर, वीर, स्थिरबुद्धि और चतुर भी हैं। इसलिए उन्हे कुछ दूर तक सफलता भी मिली है। यथार्थ का आधिक्य शर्वनाग, जयमाला, पर्वतेश्वर और आंभीक मे है, साथ ही उनमे व्यक्तिवैचित्र्य भी लक्षित होता है। वे अपने प्रस्तुत रूप में अधिक प्रकृत ज्ञात होते हैं।

इन्ही आदर्श श्रेणी में आनेवाले पात्रों के चरित्रांकन को वर्गगत भी कहा जा सकता है। एक प्रकार के गुण-धर्मवालों का एक वर्ग विशेष स्थापित हो जाता है। उसी प्रकार यथार्थ पक्ष की दृष्टि से चित्रित व्यक्तित्व-प्रधान पात्रों को वैयक्तिक चारित्र्यवान् पात्र कहा जा सकता है, क्योंकि उनमें स्वभाव एव प्रकृति का वैशिष्ठ्य दिखाया जाता है। 'प्रसाद' ने वर्गगत चरित्रांकन अधिक और वैयक्तिक कम किया है। इसमे उनकी अभिरुचि भी थी और विषय का आग्रह भी था। फिर भी एकांगिता से वे सर्वत्र बचते गए हैं।

पात्रों की प्रकृति

मनुष्य की प्रकृति सहज होती है। उसी के अनुसार विकास होने से उसके वर्धमान रूप के मूल में उस प्रकृति का प्रभाव दिखाई पडता है। यही कारण है कि कोई व्यक्ति सरल और कोई गंभीर होता है। सरल व्यक्ति के जीवन की धारा एक क्रम से निर्दिष्ट मार्ग की ओर

अग्रसर होती चलती है और उसका बाह्याभ्यतर एक-सा दिखाई पड़ता है। उसकी स्थिर प्रकृति और प्रवृत्ति के रूप में भी विशेष परिवर्तन नहीं होता। उक्त आदर्श रूपवाले व्यक्ति इसी प्रकृति के होते हैं। मार्ग चाहे उनका अच्छा हो अथवा बुरा, उनके समझने मे विलब नहीं होता, क्योंकि वे भीतर-बाहर से एक होते हैं। ऊपर से देखने मे कुछ और मालूम पड़े और सूक्ष्म दृष्टि में कुछ और ऐसा प्राय नहीं होता। दूसरे प्रकार के व्यक्ति गूढ़ प्रकृति के होते हैं। इनका समझना सरल नहीं होता। इनके स्थूल बाह्य और सूक्ष्म अतर मे, बडा भेद दिखाई पडता है, स्वभाव ही इनका गुप्त और गंभीर होता है। इनको बारीकी से देखने पर कुछ अन्य प्रकार की विशेषताएँ मिलती हैं। भले ही इनका संकलित रूप आदर्शात्मक अथवा पतनोन्मुख हो पर इनके कार्य-व्यापारों की सूक्ष्म आलोचना करने पर प्रवृत्ति भिन्न ही दिखाई पड़ेगी। ये हँसते हुए भी रोते रह सकते हैं और रोते हुए भी हँसते। ऐसे ही लोगों मे अतर्द्वंद्व का प्रसार प्रकृत रूप में दिखाया जा सकता है। इन व्यक्तियों के भीतर ही भीतर निरतर दो विरोधी भावों का सघर्ष होता रहता है और बाहर ये प्रकृतिस्थ दिखाई पड़ते हैं। सुख-दु:ख मे समत्व इनके चरित्र की विशेषता होती है। ये धीर, शांत, एवं अतीव सहिष्णु बने रहते है। 'प्रसाद' की रचनाओं मे इस प्रकृति के पात्र भी प्राय मिलते हैं। 'अजातशत्रु' के बिंबसार, वासवी और मल्लिका इसी प्रकार के पात्र है। स्कदगुप्त और देवसेना में इसी प्रकृति का बाहुल्य है। देवसेना के चरित्र का उद्घाटन बड़ी सुदरता से हुआ है इसीलिए उसमे इस द्वंद्वात्मक प्रवृत्ति का गांभीर्य दिखाई पड़ता है, दिन-रात की उसकी सगिनी जयमाला उसकी प्रकृति को समझती तो है, पर निश्चय करने मे वह भी असमर्थ रहती है। उसकी मुद्रा देखकर कभी-कभी आश्चर्यमय कुतूहल से प्रेरित होकर कहती है—'तू उदास है कि प्रसन्न, कुछ समझ मे नही आता। जब तू गाती है—तब तेरे भीतर की रागिनी रोती है, और जब हँसती है तब जैसे विषाद की प्रस्तावना होती है'। उसने स्वयं भी अपनी द्वंद्वात्मक स्थिति का प्रकाशन किया है—'नीरव जीवन और एकांत व्याकुलता, कचोटने का सुख सुंदर होता है। जब हृदय मे रुदन का स्वर उठता है, तभी संगीत की वीणा मिला लेती हूँ। उसी में सब छिप जाता है'। यह गूढ़ प्रकृति का कितना भव्य रूप है।

स्कंदगुप्त के अंत करण में तीव्र अभिमान के साथ आद्यंत विराग का द्वंद्व दिखाया गया है। 'चद्रगुप्त' नाटक में गूढ प्रकृति का रूप चाणक्य में लक्षित है। कात्यायन के इस कथन मे वह स्पष्ट हो गया है—'तुम हँसो मत चाणक्य। तुम्हारा हँसना तुम्हारे क्रोध से भी भयानक है।' द्वंद्वपूर्ण चारित्र्य की ऐसी भव्य उद्भावना केवल पश्चिम की देन नहीं है। 'वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि' अथवा 'कालाग्नि सदृश. क्रोधे क्षमया पृथिवी सम'' मे चारित्र्य का यही वैषम्य ध्वनित है।

विदूषक

विदूषक पात्रो का सर्जन 'प्रसाद' ने कम किया है, क्योंकि परिहास का अवसर गंभीर और संघर्षपूर्ण स्थिति मे मिलता कहाँ है। 'प्रसाद' ने दो रूपों में विदूषकत्व की अवतारणा की है। अधिकतर तो नाटक के पात्रों को परिहासी और विनोदी प्रकृति का बनाकर काम निकाल लिया है—जैसे, महापिंगल, विकटघोष, काश्यप इत्यादि। कहीं-कहीं प्राचीन पद्धति के अनुसार स्वतंत्र रूप मे भी विदूषकों की सृष्टि की है, जैसे 'अजातशत्रु' में वसंतक एव 'स्कदगुप्त' मे मुद्गल। इन विदूषकों की विशेषता भी प्राचीन पद्धति से ही मिलती-जुलती रखी गई है। राजाओं के अतरंग मित्र के रूप मे रहकर उनकी आलोचना करना, उनकी अभीष्ट सिद्धि में योग देना, समय-समय पर छूटे हुए नाटक के कथांशों को मिलाते चलना, दूतत्व करना और अपने विनोदपूर्ण व्यंग्यों से लोगों को प्रसन्न करते रहना, इनकी मुख्य विशेषताएँ हैं। इन्हीं उद्देश्यों की पूर्ति में वसतक और मुद्गल भी संलग्न दिखाई पड़ते हैं। जहाँ क्रिया-व्यापार का वेग अधिक हो गया है अथवा परिस्थिति ने अनुग्रह नहीं किया वहाँ विदूषकत्व की केवल गंध भर पहुँच पाई है और उस गंध का भी गला दबा ही रह गया है—जैसे, 'ध्रुवस्वामिनी' और 'चद्रगुप्त' में।

संवाद

प्रयोजन

अन्य प्रकार की रचनाओं मे लेखक का व्यक्तित्व प्रत्यक्ष रहने के कारण संवादों के अतिरिक्त अन्य दूसरे उपाय भी रहते हैं जिनके द्वारा वह पात्रों के कुलशील और वस्तु-स्थिति का परिचय दे सकता है और आवश्यकतानुसार सबकी आलोचना भी करता है, परतु नाटक मे एकमात्र संवाद ही उसका साधन रहता है। ऐसी अवस्था मे नाटकों के संवाद विशेषत: अभीष्ट-साधक होने चाहिए। उनकी रचना इस प्रकार की होनी चाहिए कि वे कथानक को अग्रसर करते रहें और चरित्र-चित्रण में पूरा योग देते चलें। 'प्रसाद' के नाट्य संवादो में ये दोनों प्रयोजन सर्वत्र सिद्ध होते हैं—'ओह, तो मेरा कोई रक्षक नहीं। (ठहरकर) नहीं मै अपनी रक्षा स्वयं करूँगी। मै उपहार मे देने की वस्तु, शीतलमणि नहीं हूं। मुझमे रक्त की तरल लालिमा है। मेरा हृदय उष्ण है और उसमे आत्मसंमान की ज्योति है। उसकी रक्षा मैं ही करूँगी।' ध्रुवस्वामिनी के इन वचनो मे वस्तु-स्थिति का निवेदन भी है और चारित्र्य का प्रकाशन भी। उसमे महारानी की तेजस्विता, दृढता, आत्मसंमान और स्वावलंबन है—यह एक ही स्थल से प्रकट हो जाता है। यदि सवाद सुगुंफित और सार-गर्भित हों तो थोड़े मे ही बहुत सा वक्तव्य व्यक्त कर दिया जा सकता है—'राजकर मै न दूँगा। यह बात जिस जिह्वा से निकली, बात के साथ ही वह भी क्यों न निकाल ली गई। काशी का दंडनायक कौन मूर्ख है। तुमने उसी समय उसे क्यों न बंदी बनाया'। अजातशत्रु के इन शब्दों में जहाँ उसका कठोर, उग्र, उद्धतरूप प्रकट हो रहा है वही काशी के शासन की दुर्बलता और अव्यवस्था भी ध्वनित हो रही है। इसी प्रकार सर्वत्र सवादों को साभिप्राय बनाने की चेष्टा दिखाई पड़ती है। दूसरा प्रयोजन कथानक को अग्रसर बनाना भी सर्वत्र लक्षित होता है। 'चद्रगुप्त' और 'स्कंदगुप्त' के प्रथम दृश्य ही इस विशेषता का अच्छा उद्घाटन करते हैं। उन्ही की भाँति अनेकानेक अन्य स्थल

भी देखे जा सकते है। इस विचार से 'प्रसाद' के कथोपकथन बड़े ही सजीव हुए हैं।

संक्षेप और विस्तार

रूपक में संवादों के अधिक बड़े हो जाने से व्यावहारिक यथार्थता का ह्रास हो जाता है। यदि 'प्रसाद' के रूपकों के ऐसे स्थलों को विचारपूर्वक देखा जाय तो यह दोष प्राय मिलेगा। इस दोष के दो कारण दिखाई पड़ते हैं। पहला है—जहाँ कहीं विवाद होने लगा है वहाँ अपने समस्त तर्कों को एक साथ प्रयोग करने की प्रवृत्ति पात्र रोक नही सके हैं। एक विषय से सबद्ध बाते एक प्रवाह मे आई है। यह वितर्क-प्रवाह यदि खड खड होकर आया होता तो वेग भी बढ़ जाता और यह दोष भी न रहता। जहाँ ऐसा हुआ है वहाँ धारावाहिकता का चमत्कार अवश्य उत्पन्न हो गया है, परतु ऐसे स्थल न्यून हैं। एक अच्छा सा उदाहरण 'ध्रुवस्वामिनी' में वहाँ मिलता है जहाँ पुरोहित और ध्रुवदेवी का विवाह-विषयक विवाद है। इसके अतिरिक्त अधिकांश विवादपूर्ण स्थलों पर वही दोष दिखाई पड़ता है। उक्त नाटक को छोड़कर यह दोष अन्य सभी नाटकों में उपलब्ध है—जैसे, 'स्कंदगुप्त' के चतुर्थ अंक का वह स्थल जहाँ ब्राह्मण-श्रमणों का सघर्ष हुआ है, 'चंद्रगुप्त' मे युद्ध-परिषद् 'जनमेजय का नाग-यज्ञ' का प्रथम दृश्य अथवा 'अजातशत्रु' का शक्तिमती-कारायण-संवाद। जहाँ कहीं विवाद उठा है वहीं लंबे लंबे कथोपकथन मिलते हैं। दूसरा कारण है भावुकता। भाव-प्रवण पात्र अपनी बातचीत मे कल्पना-प्रधान भावभगी का प्रयोग करते हैं, अतएव विषय उपस्थित करने की शैली मे ही विस्तार हो जाता है। इसके अतिरिक्त आवेश-युक्त भावातिरेक की संपूर्ण पदावली को एक अटूट धारा मे कहा जाता है, इसलिए भी विस्तार बढ़ जाता है। ऐसे स्थलों की बहुत अधिकता है—जैसे, 'स्कंदगुप्त' के द्वितीय अंक का प्रथम, चतुर्थ अक के प्रथम तथा अतिम, पचम अंक का प्रथम, 'चद्रगुप्त' के तृतीय अंक का छठा; 'अजातशत्रु' के द्वितीय अंक के प्रथम, तृतीय और आठवें दृश्य है। कहीं-कहीं जब वह भावुकता कवित्व को उभाड़ देती है तो भी विस्तार बढ़ जाता है—जैसे, 'स्कदगुप्त' का वह दृश्य जिसमें मातृगुप्त और मुद्गल कविता के पीछे पड़ गए हैं। कहने का

तात्पर्य यह है कि कई कारणों से सवादों मे विस्तार आ गया है जो अनुकूल नही कहा जा सकता ।

अन्य स्थलों के संवाद व्यावहारिक और विषय-संगत है, विषय की प्रकृति के अनुसार वेगयुक्त अथवा मदगामी हैं। वीर रस से सबद्ध सवाद आवेश और उत्कर्ष से भरे हैं और जो प्रेम के प्रसग में आए है उनमें भावुकता और मंद माधुर्य का विस्तार दिखाई पड़ता है। सभी रूपकों मे प्राय. प्रधानता वीर रस की है, अतः दृप्त तेजस्विता से भरे संवादों की अधिकता है—जैसे, 'स्कंदगुप्त' मे गांधार की घाटी और कुभा के रणक्षेत्र में तथा मालव की राजसभा मे, तथा 'चंद्रगुप्त' के द्वितीय अंक के ग्यारहवें दृश्य में। दूसरी ओर मंदगामी मधुर संवादों की भी कमी नहीं है, क्योंकि प्राय सर्वत्र ही वीर का सहयोगी शृंगार रस है। इसलिए प्रेम और भावुकता से आपूर्ण कथोपकथनों की भी अधिकता दिखाई देती है—जैसे 'स्कंदगुप्त' के तृतीय अंक के उपवनवाले और अंतिम दृश्य हैं अथवा चतुर्थ अक का दसवाँ दृश्य है। शुद्ध व्यावहारिक कथोपकथन भी सजीव और अपने प्रकृत रूप मे मिल जाते है। वहाँ क्रिया के प्रवाह मे इतिवृत्त का प्रसार भी होता चलता है—जैसे, 'चंद्रगुप्त' के द्वितीय अंक के दसवें और अंतिम तथा 'स्कंदगुप्त' प्रथम अक के अंत पुर और पथ के दृश्य है।

स्वगत-भाषण

वर्तमान समीक्षकों के विचार से नाटकों के स्वगत-भाषण अयथार्थ अतएव अवांछनीय है। 'विशाख' नाटक में 'प्रसाद' ने भी महापिगल के द्वारा नाटकों के स्वगत पर व्यंग्य करते हुए कहा है—'जैसे नाटकों के पात्र स्वगत जो कहते हैं वह दर्शक-समाज वा रंगमच सुन लेता है, पर पास का खड़ा पात्र नहीं सुन सकता, उसको भरत बाबा की शपथ है'। इससे यह प्रकट होता है कि नाटककार स्वगत-भाषण को प्राकृतिक और बुद्धि-संगत नहीं मानता, फिर भी स्वय उसने अपनी रचनाओं में उसका इतना अधिक प्रयोग किया है कि वह दोष की सीमा में पहुँच जाता है। ऐसा कोई नाटक नहीं जहाँ इसका प्रयोग न हो और प्रयोग ही नहीं आधिक्य न हो। इतना ही नहीं ये स्वगत-भाषण भी लघु नहीं बड़े दीर्घकाय है। इस स्वगत-रोग से सभी

प्रमुख पात्र पीड़ित दिखाई पड़ते है। पात्रों के हृदय की आँधी को इस ढग से प्रकाशित कर देना है तो सरल, परतु एकात मे इतना अधिक बोलना अप्राकृतिक ज्ञात होता है सो भी दो एक बार नहीं—बारबार। इसी वेगयुक्त विचार अथवा भाव-धारा को यदि टुकडे-टुकड़े करके सवाद का रूप दिया जाय और वाग्योग के लिए कोई एक पात्र और रख लिया जाय तो यह दोप बचाया जा सकता है। कही-कहीं तो ऐसे स्थल बहुत ही खटकते हैं। प्राय. भिन्न-भिन्न प्रकृति के पात्र कही टहलते हुए, कही मार्ग मे जाते हुए, कहीं एकाकी बैठे हुए, कहीं किसी से बातचीत करते-करते—लगते हैं अपने आपही बोलने। छोटे-मोटे स्वगत-भाषणों की तो भरमार है। उनके स्थल-निर्देश की आवश्यकता नहीं हे। विशेप उल्लेख तो उन स्वगतों का करना है जिनमे पात्र केवल इसी अभिप्राय से जमकर बैठा दिखाई पड़ता है। ऐसे स्थलों की भी कमी नहीं है—जैसे, 'चद्रगुप्त' (प्रथम सस्करण) पृष्ठ १७, ३५, ११३, १३२, १७०, २१२। 'स्कंदगुप्त' (प्रथम सस्करण) पृष्ठ १६, ६३, १२५, १३६, १४६, १४७, १४६। 'जनमेजय का नाग-यज्ञ' (प्रथम सस्करण) पृष्ठ ११, ६०, ८२। 'अजातशत्रु' (चतुर्थ संस्करण) पृष्ठ, ७, ४१, ६०, ६८, ७६, ६१, १११, १४०। 'ध्रुवस्वामिनी' (प्रथम सस्करण) पृष्ठ २, ३८, ७२। 'विशाख' (द्वितीय संस्करण) पृष्ठ ३६, ६८। स्वगत-भाषणों का इतनी प्रचुर मात्रा मे प्रयोग अवश्य ही दोष की बात है। कही-कहीं एक ही क्रम मे दो व्यक्तियों का स्वगत-कथन अथवा एक ही व्यक्ति के द्वारा इसका बारंबार प्रयोग अधिक खटकने लगता है। 'चद्रगुप्त' मे चाणक्य से अनेक बार स्वगत-भाषण कराया गया है।

कार्यगति-प्रेरक और रोधक संवाद

संवादों की प्रकृति भी दो प्रकार की होती है। संवादों मे परि-स्थिति का उद्घाटन करते हुए कार्य-व्यापार मे नियोजित करने की क्षमता होती है। किसी स्थल विशेष के संवाद से ही यह प्रकट हो जाता है कि विषय और परिस्थिति मे गति है अथवा नहीं। समीप भविष्य का सभावित रूप भी उसके द्वारा समझ मे आने लगता है। वस्तु-स्थिति किस ओर अग्रसर है और कहाँ तक बढ़ सकती है इसका अनुमान संवाद के वर्तमान रूप को ही देखकर लगाया जा

सकता है। किसी कार्य में प्रवृत्त करनेवाले संवादों में नई-नई बातों, नए-नए भावों, सक्रियता के रूपों और परिणामों का निरंतर प्रकाशन होता चलता है। कहा जा चुका है कि इसी उपादेयता के कारण साधारणतः सब प्रकार की रचनाओं में और मुख्यतः नाटकों में संवादों के आधार पर कथा का प्रसार तथा चरित्रांकन होता है। कथा का प्रसार करनेवाले जितने संवाद होंगे उनमें प्रेरकता अवश्य रहेगी। उदाहरण के लिए 'चद्रगुप्त' नाटक के प्रथम अंक के पहले, पाँचवें और नवें दृश्य लिए जा सकते हैं। इसके अतिरिक्त 'प्रसाद' के अन्य प्रमुख नाटकों में सर्वत्र ही प्रेरक संवादों की अधिकता है। यदि ऐसे संवादों की न्यूनता हो तो अवश्य ही वस्तु-विन्यास सुश्रृंखलित एवं सुसविहित न रह सकेगा। जो संवाद ऐकांतिक विचार-धारा से युक्त होंगे अथवा किसी उग्रता को शांत करने के लिए उपदेश अथवा वितर्क के रूप में आवेंगे उनमें क्रिया की ओर प्रवृत्त करने की शक्ति नहीं रह जायगी, क्योंकि वे तो उसी का विरोध करते रहेंगे। इसके अतिरिक्त वहाँ भी संवादों में कोई प्रेरणा नहीं दिखाई पड़ेगी जहाँ या तो केवल किसी बात की सूचना की जाती होगी अथवा निष्क्रिय भावुकता से प्रेरित विचार विमर्श होता रहेगा। कहने का तात्पर्य यह कि निष्क्रिय भावुकता, वितर्क, विवाद, सूचना और उपदेश आदि के कारण क्रिया की गति रुद्ध हो जाती है। सरोवर का जल जैसे बँध जाने से स्थिर और शांत रहता है, उसी प्रकार इन स्थलों का कथा-प्रवाह भी वेग-रहित हो जाता है। उस स्थान या अवसर विशेष के ऐकांतिक विषय को लेकर ही पात्रों में उत्तर-प्रत्युत्तर होता रहता है। 'प्रसाद' के नाटकों में ऐसे संवादों के भी रूप मिलते हैं, भले ही वे न्यून हों—जैसे, 'अजातशत्रु' के द्वितीय अंक के तीसरे, पाँचवें और सातवें तथा तृतीय अंक के तृतीय और छठें दृश्य तथा 'स्कंदगुप्त' का ब्राह्मण-श्रमण-संघर्ष वाला दृश्य अथवा वह दृश्य जिसमें मातृगुप्त मुद्गल को काव्य का रूप समझा रहा है। इनके अतिरिक्त पूर्वकथित वे सभी दृश्य इसके उदाहरण हो सकते हैं जो कथानक की क्षिप्रगति में भार-रूप हैं अथवा निरर्थक विस्तार के कारण अप्रासंगिक हैं।

संवाद में कविता का प्रयोग

यों तो संवादों में कविता का प्रयोग भारतीय नाट्य-परंपरा की वस्तु है, परंतु 'प्रसाद' पर नवीन युग की पारसी पद्धति का प्रभाव

दिखाई पड़ता है, क्योंकि 'उत्तररामचरित' या 'अभिज्ञान-शाकुंतल' वाली काव्य-प्रयोग प्रणाली उन्होंने नहीं ग्रहण की। यहाँ तो केवल कहीं-कहीं विषय-निवेदन में ओज और शक्ति उत्पन्न करने के अभिप्राय से दो दो, चार-चार पंक्तियों का उपयोग हुआ है। 'प्रसाद' ने अपनी आरंभिक रचनाओं में इसका प्रयोग किया है पर उत्तरोत्तर उनके जैसे-जैसे नवीन संस्करण प्रकाशित होते गए हैं वैसे-वैसे उनके संवादों से कविता पृथक् की गई है। इस प्रकार के संवाद 'राज्यश्री' और 'विशाख' के प्रथम संस्करण में अच्छी तरह देखे जा सकते हैं। यों तो 'स्कंदगुप्त' में भी हूण-आक्रमण के समय जो त्राहि-त्राहि मचती है वह कविता ही में व्यक्त की गई है। अच्छा हुआ जो संवादों की यह अप्राकृतिक प्रवृत्ति 'प्रसाद' में नहीं बढ़ी।

रस-विवेचन

सक्रियता और रस-निष्पत्ति

सक्रियता और समष्टि-प्रभाव अथवा प्रभावान्विति को ही पाश्चात्य आलोचकों ने नाटक का प्राण कहा है। भारतीय रस-निष्पत्ति में इन दोनों का समन्वय है। विभाव, अनुभाव और संचारी के संयोग से ही रस की पूर्ण दशा प्राप्त होती है। इस संयोग और अन्विति मे कोई तात्त्विक अंतर नहीं रह जाता। प्रभाव की यह अन्विति उत्पन्न ही नहीं हो सकती यदि क्रिया-व्यापार के वृद्धि-क्रम की तीव्रता उखड़ जाय। सक्रियता का वेग यदि आरब्ध होकर निरंतर एकरस बढ़ता ही जाय तो अंत में किसी घटना विशेष का आश्रय लेकर उसका एक सामूहिक प्रभाव ऐसा पड़ता है कि सामाजिक का चित्त निर्लिप्त आनंदातिरेक से विह्वल हो उठता है। इस आनदानुभूति को कुछ लोग प्रभावान्विति और कुछ लोग रस-दशा की पूर्णता कहते हैं। ऐसी दशा में इस पूर्णता के प्रधान अवयवों—विभावानुभावादि—का यथास्थान चित्रण आवश्यक है। आलंबन एवं उद्दीपन विभावों के जो अनुसारी परिणाम रूप अनुभाव और संचारी है यदि इनका यथोचित आयोजन हो जाय तो रसोद्रेक अवश्यभावी है। इनकी सत्ता क्रिया-व्यापारों के द्वारा ही व्यक्त होती चलती है अतएव सक्रियता का वृद्धि-क्रम भी साथ ही साथ चलता रहेगा, जिसका परिणाम अंत में प्रभावान्विति के रूप में अवश्य ही उत्पन्न होगा।

रसावयव

आलंबन विभाव के चित्रण में 'प्रसाद' ने बड़ी चातुरी दिखाई है। आश्रय के तेज-प्रताप, शक्ति-बल इत्यादि के अनुरूप विपक्ष-दल यदि नहीं अंकित किया जायगा तो आश्रय का महत्त्व नहीं स्थापित हो सकता। 'स्कंदगुप्त' मे आक्रमणकारी विदेशी शत्रुओं की बर्बरता, अत्याचार और उच्छृंखलता उतनी भयंकर न प्रमाणित होती यदि उसमें भटार्क के मिल जाने से अनंतदेवी के उग्र अंतर्विरोध का योग न

होता। उसके कुचक्रों और दुष्प्रयत्नों के कारण धर्म-संघ भी विरोधी बन गए। इस प्रकार आश्रय-पक्ष का दायित्व और कर्मशीलता बढ़ गई और आलंबन-पक्ष बड़ा प्रबल दिखाई पड़ने लगा है। विभाव का दूसरा अंग जो उद्दीपन है वह भी आलबन के साथ-साथ चलता है। शत्रु का उत्कर्ष और प्रताप देखकर ही आश्रय मे अनुभाव का रूप प्रकट होता है। अनतदेवी का षड्यन्त्र, देवकी और देवसेना की हत्याओं की चेष्टा इत्यादि उद्दीपन-रूप मे हैं। कुभा के रणक्षेत्र मे की गई भटार्क की प्रवचना भी इसी के अतर्गत आएगी। शत्रु की शक्ति और उत्कर्ष से उद्दीपित होकर आश्रय के उत्साह का जो बाह्य रूप प्रकट होता है वही अनुभाव कहलाता है। आलंबन के अनुरूप ही 'प्रसाद' ने अनुभाव और सचारियों की भी योजना की है। जहाँ रस के संपूर्ण अवयवों का पूरा सयोग बैठ गया है वहाँ रस-निष्पत्ति और सक्रियता की पूरी अन्विति स्पष्ट दिखाई पड़ती है। 'स्कंदगुप्त', 'चद्रगुप्त' और 'ध्रुवस्वामिनी' मे जो सक्रियता का अच्छा दर्शन होता है उसका यही कारण है। वेगयुक्त प्रवाह से ये नाटक आद्यंत भरे हुए हैं। 'चंद्रगुप्त' में तीन प्रमुख घटनाएँ और आलबन के तीन-तीन दल होने से ही नाटक का वस्तु-विस्तार अधिक दुर्भर या अप्रिय नही लगता। 'ध्रुवस्वामिनी' मे एक ही विरोध-शक्ति है तो उसका वस्तु-विस्तार भी लघु है। इन तीनों नाटकों मे रस के विभिन्न अवयवों की योजना अच्छे क्रम से हुई है, इसलिए ये ही तीनों रचनाएँ सर्वोत्कृष्ट हो सकी है।

प्रधान एवं सहयोगी रस

प्रायः सभी नाटकों में प्रधानता वीर रस की ही मिलती है। अपने अंगोपांग से युक्त यह वीर रस समय-समय पर अन्य रसों से भी पुष्ट होता गया है—शृंगार, शांत और हास्य भी यथास्थान आ गए हैं। 'ध्रुवस्वामिनी' मे चंद्रगुप्त और ध्रुवस्वामिनी का प्रेमभाव उत्तरोत्तर विकास पाता गया है और वीर रस का सहयोगी बनकर जीवित दिखाई पड़ता है। 'स्कंदगुप्त' की राजनीतिक जीवन-धारा के भीतर प्रेम शृगार का प्रच्छन्न प्रवाह भी चलता है। 'चद्रगुप्त' मे तो कई प्रेमी दल हैं। वहाँ तो शृंगार के सभी अंग दिखाई पड़ते हैं—विशेषकर अलका और सिंहरण के प्रेम-व्यापार में। गुरुकुल में

अलका को देखकर सिंहरण के भीतर रतिभाव का बीज पड़ता है। अपने समान धर्म और उद्देश्य में लगी देखकर, अपनी हितकामना और रक्षा के लिए उसे सतत प्रयास करते पाकर सिंहरण का वह रति-भाव उद्दीप्त होता है। यवन से रक्षा करना, प्रेम निवेदन करना आदि अनुभाव हैं और संचारी रूप में हर्ष, औत्सुक्य, अमर्ष, विषाद इत्यादि मिल जाते हैं। प्रथम दृश्य में अलका के हृदय में भावोदय का रूप भी अच्छा दिखाया जाता है। कहीं-कहीं शांत रस का चित्रण भी हुआ है—जैसे, 'अजातशत्रु' के बिंबसार और वासवी में इसका विकास है। 'चंद्रगुप्त' का चाणक्य भी शांत रस का आश्रय है। उसके प्रसंग में इस रस का विस्तार मिल सकता है। लक्ष्य-प्राप्ति के उपरांत उसके हृदय में निर्वेद स्थायी भाव उत्पन्न होता है। पराये में ही वह लगा दिखाई पड़ता है। दाण्ड्यायन के आश्रम में आना उद्दीपन है। वैखानस होने की इच्छा करना, सब संपत्ति से तटस्थ होने की चेष्टा करना आदि अनुभाव के अंतर्गत हैं और हर्ष, मति, धृति, निर्वेद, विरोध इत्यादि संचारी भी दिखाई पड़ते हैं। इस प्रकार यदि विचार किया जाय तो चाणक्य के पक्ष में शांत रस का अच्छा विकास है। सुवासिनी के प्रसंग में भावशांति भी सुंदर ढंग से दिखाई गई है। बीभत्स का आभास 'स्कंदगुप्त' के कापालिक-प्रकरण में मिल जाता है और भयानक का हूणों के अत्याचार में।

हास्य-परिहास

'एक शब्द कामिक—हास्य—के बारे में लिखना है। वह यह कि वह मनोरंजिनी वृत्ति का विकास है। जिस जाति में स्वतंत्र जीवन की चेष्टा है वहीं इसके सुगम उपाय और सभ्य परिहास दिखाई देते हैं। परंतु यहाँ तो रोने से फुरसत नहीं, विनोद का समाज में नाम ही नहीं फिर उसका उत्तम रूप कहाँ से दिखाई दे, अँगरेजी का अनुकरण हमें नहीं रुचता, हमारी जातीयता ज्यों-ज्यों सुरुचि-संपन्न होगी वैसे-वैसे इसका शुद्ध मनोरंजनकारी विनोदपूर्ण और व्यंग का विकास होगा, क्योंकि परिहास का उद्देश्य संशोधन है, साहित्य में नवरसों में वह एक रस है; किंतु इस विषय की उत्तम कल्पनाएँ बहुत कम हैं। आजकल पारसी रंगमंचवाले एक स्वतंत्र कथा गढ़कर दो-तीन दृश्य में फिर नाटक में जगह-जगह उसे भर देते हैं जिससे कभी-कभी ऐसा

हो जाता है कि अतीव दुखद दृश्य के बाद ही एक फूहड़ हँसी का दृश्य सामने उपस्थित हो जाता है, जिससे जो कुछ रस बना हुआ रहता है वह लुप्त हो एक बीभत्स रसाभास उत्पन्न कर देता है। इसका परिपाक पूर्ण रूप से होने नहीं पाता और मूल कथा के रस को बार-बार कल्पित करके दर्शकों को देखना पड़ता है। अंत में, नाटक देख लेने पर एक उत्सव वा तमाशा का दृश्य ही आँख में रह जाता है। शिक्षा का—आदर्श का—ध्यान भी नहीं रह जाता। इसलिए हम ऐसे कामिक के विरुद्ध हैं।—('विशाख' की भूमिका, प्रथम संस्करण, पृ० १०-११)

नाटक में प्रयुक्त होनेवाले हास्य के विषय में स्वयं लेखक के ये विचार हैं। यही कारण है कि उसके किसी भी नाटक में 'कामिक' ऐसा भद्दा रूप नहीं मिलता। लेखक का विचार सर्वथा उचित ज्ञात होता है। संघर्षपूर्ण जीवन में जहाँ नाना प्रकार की जटिलताएँ और विरोध भरे हों हास्योद्रेक का अवसर आ ही नहीं सकता और यदि भाग्य से कहीं सुअवसर मिल ही गया तो कुछ क्षणों के लिए ही। इसलिए कहीं-कहीं नाटक के आधिकारिक वृत्ति के प्रवाह के साथ-साथ नाटक के ही किसी हँसोड़ प्रकृति के पात्र के द्वारा हलकी सी हास्यवृत्ति का हलका सा स्फुरण दिखा देना ही अलम् समझा गया है। लेखक अपनी विचार-सीमा के बाहर कहीं गया ही नहीं। दृश्य का दृश्य कहीं भी हँसी-मजाक से पूर्ण नहीं दिखाई पड़ता। ऐसा भी नहीं होता कि सामाजिक अथवा पाठकों की गंभीर विचार-धारा उससे प्रभावित हुई हो। प्राचीन नाटकों के विदूषकों की ही भाँति 'प्रसाद' ने कहीं तो पृथक् पात्र की योजना कर दी है—जैसे, वसंतक, मुद्गल इत्यादि और कहीं नाटक के ही पात्रों को परिहास प्रिय बनाकर काम निकाल लिया है—जैसे, महापिंगल, काश्यप, मधुकर इत्यादि। इन पात्रों के व्यापार या वचनों से कहीं भी खुलकर हँसी नहीं आती। थोड़ी मुस्कुराहट तक ही हास्य बढ़ पाता है। 'चंद्रगुप्त' और 'ध्रुवस्वामिनी' में तो कार्य-धारा इतनी वेगपूर्ण है कि उतने भी हास-परिहास का अवसर नहीं मिल सका है। इस विनोदाभाव के कारण कोई खटकनेवाली बात नहीं मिलती।

प्रेम-सिद्धांत

अनुरागोदय के भी भिन्न-भिन्न प्रकार 'प्रसाद' ने अंकित किए हैं। ऐसे दो स्त्री और पुरुष-पात्रों को जिन्हें आगे चलकर प्रेमी-युगल बनाना अभिप्रेत होता है वे प्रथम दर्शन में आकृष्ट दिखा दिए जाते हैं। इस प्रकार के अनुरागोदय का फल मंगलमय और अमगलमय दोनों दिखाई पडता है। विशाख, चंद्रलेखा पर प्रथम दर्शन ही में अनुरक्त हो गया और फिर वह प्रेमाकर्षण अनेक स्थितियों से होता हुआ विवाह रूप में परिणत हो गया है। इसी प्रकार चंद्रगुप्त और कार्नेलिया, अजात और बाजिरा, जनमेजय और मणिमाला, सिंहरण और अलका तथा चंद्रगुप्त और ध्रुवस्वामिनी के प्रेम का आरंभ भी प्रथम दर्शन में ही हुआ है और सभी का फल मगलमय दिखाया गया है। परतु स्कंदगुप्त और विजया में मल्लिका और विरुद्धक में यह प्रेमोदय विफल हो गया है। विजया और विरुद्धक के चरित्र इसमे कारण माने जायँगे। चंचल स्वभाव की नारी विजया और उच्छृंखल प्रकृति का विरुद्धक एकनिष्ठ हो ही नहीं सकते। प्रेम के क्षेत्र मे भी वही चारित्र्य दोष विफलता का कारण बन जाता है। इस विषय में लेखक इसी विचार का दिखाई पड़ता है, यदि चरित्र शुद्ध हो, वासना की प्रबलता न समाई हो और पूर्व संस्कारों की आध्यात्मिक प्रेरणा हो तो प्रथम दर्शन में उत्पन्न प्रेम अवश्य मंगलमय और चिरस्थायी होगा। 'एक घूँट' के आनंद, वनलता और प्रेमलता के विवाद से इसी पद्धति का पोषण होता है।

कहीं-कही बाल-साहचर्य एवं व्यक्तित्व के साथ गुण-दर्शन से प्रेम का आरंभ भी दिखाया गया है—जैसे, स्कंदगुप्त और देवसेना, चंद्रगुप्त और कल्याणी इत्यादि में। इस प्रकार के प्रेम का विकास और फल अवश्य ही श्रेष्ठ होता है। भले ही देवसेना और कल्याणी को ऐहिक सफलता न प्राप्त हो सकी हो परंतु त्याग, संतोष और विश्वास का अमृत पीकर इन्होंने अमर प्रेम-फल की प्राप्ति की है, इसमें वितर्क के लिए कोई स्थान नहीं है। प्रेम की प्रथम पद्धति ही लेखक को मान्य मालूम पड़ती है, पर उसमें भी दो वर्ग हैं। एक मे केवल रूप-सौंदर्य कारण है—जैसे, विशाख और चंद्रलेखा तथा जन-

मेजय और मणिमाला में और दूसरे में गुणोत्कर्ष भी संमिलित है—जैसे, चद्रगुप्त-कार्नेलिया, सिंहरण-अलका और चद्रगुप्त-ध्रुवस्वामिनी मे। दूसरे प्रकार में अधिक आधार रहने से वह कुछ अधिक महत्त्व-पूर्ण ज्ञात होता है। लेखक की रुचि इस प्रकार के प्रेम-विकास की ओर अधिक दिखाई पड़ती है।

देश-काल

साधारण

'प्रसाद' के नाटक भारतीय इतिहास के उस अध्याय को
चले हैं जो अपनी सर्वतोमुखी संपन्नता के कारण स्वर्णयुग क
है । जनमेजय पारीक्षित से लेकर सम्राट् हर्षवर्धन तक का का

भी इनका प्रच्छन्न चित्रण अथवा आभास मिलता है। इन काव्यात्मक रचनाओं की शैली के अनुसार कहीं सविस्तर चित्रण सभव होता है और कही संक्षिप्त। उसमे भी व्यक्त अथवा प्रच्छन्न निर्देश पर्याप्त होता है। उपन्यास का वस्तु-विस्तार अपरमित होता है और उसमे लेखक का व्यक्तित्व सर्वथा प्रकाशित रहता है अतएव वहाँ विविध विषयों का विस्तार सभव है, परंतु नाटक मे रचनापद्धति की प्रतिकूलता के कारण वह सर्वथा नियंत्रित रहता है। उदाहरण-रूप में राखालदास बैनर्जी का 'करुणा' उपन्यास और 'प्रसाद' का 'स्कंदगुप्त' अथवा 'ध्रुवा' और 'ध्रुवस्वामिनी' को लिया जा सकता है। दोनों रचनाओं की कथा प्राय समान है पर उपन्यास मे जिन विषयों का भव्य विस्तार मिलता है, नाटक में उन्हीं विषयों का लघु संकेत हुआ है। नाटकों की रचना पद्धति ऐसी है जिसके अनुसार इतना ही सभव और यथेष्ट है कि इन विविध विषयों का कहीं स्पष्ट और कहीं प्रच्छन्न कथन हो जाय। 'प्रसाद' के नाटकों में विषय कालानुकूल वस्तुस्थिति और अन्य विषयों का यथेष्ट संकेत मिलता है।

कालानुरूप चरित्रांकन

देश-काल का सर्वोत्तम प्रतिनिधित्व मानव-समाज मे अभिव्यक्त होता है। और 'प्रसाद' की मानव-मंडली विशिष्ट प्रकार की है। नाटकों के ऐतिहासिक होने के कारण उनके पात्र अधिकांश तो राज-वर्ग के हैं और कुछ साधारण श्रेणी के, इसलिए उनका चरित्रांकन प्राय: वर्गगत हुआ है—आदर्श और यथार्थ के विचार से, अमीर और गरीब के विचार से। ये गरीब भी साधारण जनता के सुख-दु:ख के बीच रहनेवाले नहीं हैं उनका संबंध भी किसी न किसी प्रकार राजभवन से ही स्थापित हो जाता है। सुरमा ऐसी मालिन भी देवगुप्त की रानी बन जाती है। ऐसी अवस्था मे यही कहना चाहिए कि 'प्रसाद' का मानव-समाज राजवर्गीय है और इस वर्ग में अच्छे से अच्छे तथा बुरे से बुरे लोग दिखाई पड़ते हैं। यह स्थिति आज की नहीं है, उसका यही सनातन रूप है। आपस का भेद-भाव दुरभि-संधि, नाना प्रकार के कुचक्र जैसे आजकल राजवर्ग में मिलते हैं वैसे ही प्राचीन काल में भी थे।

जिन विशिष्ट पुरुषों को लेकर इतिहास की रचना हुई है उन्हीं को अपना नायक बनाकर 'प्रसाद' ने भी नाटक लिखे हैं। वे महापुरुष महत्त्वपूर्ण पदों पर प्रतिष्ठित ही न रहते, यदि उनमें चरित्र और कर्म की भव्यता न होती। इसलिए उनका चरित्र उदात्त और व्यक्तित्व महान् दिखाई पड़ता है। इतिहास के महापुरुष या तो ऐसे हैं जिन्होंने अपने समाज के कल्याण के लिए तपस्या की है अथवा अपने साम्राज्य-संगठन में पराक्रम का कार्य किया है। दूसरे प्रकार के लोगों के लिए यह आवश्यक है कि वे नाना प्रकार के राजनीतिक व्यापारों में सलग्न रहे, युद्ध, विद्रोह, क्रांति, षड्यंत्र इत्यादि का सामना करें, अपने चरित्र-बल से इन संघर्षपूर्ण परिस्थितियों का अतिक्रमण करके राष्ट्र और समाज के धर्म, धन, जन और समान की रक्षा करे। इन नाटकों में दूसरे प्रकार के ही महापुरुषों का वृत्त मिलता है। प्रसगवश प्रथम कोटि के पात्र भी दिखाई पड़ते हैं—जैसे बुद्ध, व्यास, चाणक्य इत्यादि, पर वे केवल योगवाही मात्र हैं।

जनमेजय वीर प्रकृति का था। बर्बर जाति से उसका पैतृक विरोध था। साम्राज्य को उनके आतंक से बचाना आवश्यक हो गया था। इसलिए युद्ध करके जनमेजय ने उन्हे उच्छिन्न कर डाला। राज्य के भीतर ब्राह्मणों का विद्रोह चल रहा था। उसने उसके दबाने में भी निर्भीक तत्परता दिखाई। अंत में श्रेष्ठ शासक की भाँति सबको क्षमा कर राजपद की मर्यादा दृढ़ की। अपने उदात्त चरित्र के आधार पर जनमेजय ने शांति, न्याय और सुव्यवस्था की जड़ जमाई। उस समय की जैसी अवस्था थी उसी के अनुरूप उसमे योग्यता भी दिखाई पड़ी। अजातशत्रु बौद्ध काल का प्रतिनिधि था। उस समय एकछत्र राज्य का अभाव था। मांडलिक शासकों में कौटुंबिक संबंध होने पर भी किसी न किसी कारण युद्ध होता ही रहता था। अजातशत्रु स्वभाव और चरित्र से उद्धत और उग्र था, इसलिए तत्कालीन शासक-मंडली मे उसने राजनीतिक विप्लव उत्पन्न कर दिया था, परंतु बुद्ध के विशिष्ट व्यक्तित्व के कारण पुन. एक बार शांति उत्पन्न हो गई थी। उस काल के पात्रों में बुद्ध-धर्म का प्रभाव व्याप्त था। बिंबसार, प्रसेनजित्, अजातशत्रु, उदयन इत्यादि का आचरण बुद्ध-धर्म से नियंत्रित था। इसी प्रकार चंद्रगुप्त मौर्य में अपनी समकालीन वस्तु-स्थिति से युद्ध

करने का पुरुषार्थ था। उसकी व्यवहार-कुशलता तथा अन्य पुरुषोचित गुण उस काल की स्थिति के अनुरूप ही थे। अन्य नाटकों में भी काल की आवश्यकताओं के अनुसार ही प्रधान एव सहायक पात्रों मे गुणों का योग था। कहने का तात्पर्य यह है कि जिस काल के व्यक्तियों का स्वरूप 'प्रसाद' ने अंकित किया है उनमे उस काल की छाप है। इतिहास का वह काल हिंदू सस्कृति का आदर्श काल है अतएव पात्रों मे भी आदर्श गुणों का योग दिखाया गया है। राम के राज्य मे भी रावण था, अत्याचार, अन्याय और पाप था, उसी प्रकार उस आदर्श काल में भी दोष थे और यथास्थान 'प्रसाद' ने उनका चित्रण किया है।

राजनीतिक स्थिति

प्रत्येक नाटक में अपने समय की यथार्थ राजनीतिक स्थिति का आभास दिया गया है। जनमेजय के समय मे किस प्रकार नाग जाति विद्रोह मचा रही थी और ब्राह्मण-दल कैसा विद्रोह कर रहा था इसका चित्रण विस्तार से मिलता है। बुद्ध-काल की राजनीतिक स्थिति भिन्न प्रकार की है। एकछत्र शासन के अभाव मे बहुत से मांडलिक शासकों की स्थिति-सत्ता दिखाई पड़ती है। इनमे प्राय. कौटुंबिक संबध है, फिर भी कभी-कभी किसी कारण से आपस में युद्ध हो जाता है। एक विशेषता यह भी मिलती है कि एक व्यक्ति ऐसा है जिसका प्रभाव सर्वत्र समान रूप से व्याप्त है और वह व्यक्ति है गौतम बुद्ध। यों तो बुद्ध के विरोधी भी दिखाई पड़ते हैं, परतु उनके सद्धर्म का अखंड प्रभुत्व मिलता है—आचरण में, व्यवहार में और नित्य के जीवन में। राजनीति पर भी धर्म का इतना प्रभाव उस समय की अपनी विशेषता है। मौर्य काल में आकर विदेशियों के आक्रमण होने लगते हैं। सिकदर का धावा होता है, फिर उसके सेनापति सिल्यूकस का अभियान दिखाई पड़ता है। इतने थोड़े-थोड़े समय में जो विदेशियों की चढ़ाई होती रहती है उसका कारण है भारतवासियों की अपनी फूट। सिकंदर की चढ़ाई के समय में ही यह प्रत्यक्ष हो जाता है कि सीमाप्रांत के गण-राज्यों में कितनी फूट थी। एक दूसरे की सहायता के लिए कोई तत्पर नहीं था। आपस में ही एक दूसरे का विरोध कर रहे थे। पर्वतेश्वर का विरोध गांधार-नरेश भी कर रहा था और मगध का

शासक नंद भी। अन्य गण तंत्र भी पृथक्-पृथक युद्ध करते थे, परंतु मिलकर संभव समुत्थान के लिए कोई अग्रसर नहीं था। दूसरी ओर मगध शासन की व्यवस्था भी तट-दुर्ग की भाँति मृत्यु-मुख मे प्रवेश के लिए खड़ी थी। गुप्तवंशीय चंद्रगुप्त (द्वितीय) विक्रमादित्य के काल में भी शकों का विरोध मिलता है। स्कंदगुप्त के राज्यकाल में आकर स्थिति और भी भयावह होती जा रही थी। पुष्यमित्रों का आक्रमण एक ओर और पुरगुप्त के कारण कौटुंबिक विद्रोह दूसरी ओर खड़ा था। पुष्यमित्रों को पराजित करते ही हूणों का पुन आक्रमण हुआ। इस प्रकार एक के उपरांत दूसरा और दूसरे के बाद तीसरा आक्रमण होता ही चलता था। निरंतर आक्रमणों के कारण सारी व्यवस्था उलझने लगी और गुप्त-साम्राज्य दुर्बल होने लगा था। गुप्तों के उपरांत विदेशियों का प्राधान्य बढ़ गया, परंतु हर्षवर्धन के समय मे आकर फिर एक बार साम्राज्य-स्थापन की चेष्टा की गई। मालव शासक ने कनौज के ग्रहवर्मा को मार डाला। इस पर हर्षवर्धन ने उसका प्रतिकार किया और मालवा पर विजय प्राप्त कर ली। वह दक्षिण की ओर भी बढ़ा, परंतु पुलकेशिन् के विरोध के कारण उसे रुक जाना पड़ा। इस प्रकार यदि संपूर्ण नाटकों में वर्णित राजनीतिक स्थिति को एक क्रम मे रख दें तो स्पष्ट ज्ञात हो जायगा कि किस प्रकार आर्य जाति अपने राजनीतिक अभ्युत्थान के लिए निरंतर उद्योगशील बनी रही है।

धार्मिक स्थिति

भारतयुद्ध के उपरांत भी यज्ञादि वैदिक क्रियाओं का सम्मान पूर्ववत् बना रहा परंतु जनमेजय और उसके पुरोहितों में कुछ अनबन होने के कारण ब्राह्मण वर्ग कुछ असंतुष्ट हो गया। जनमेजय के ऐंद्रमहाभिषेक और अश्वमेध-यज्ञ मे भिन्न-भिन्न पुरोहित काम करते दिखाई पड़ते हैं। स्पष्ट मालूम होता है कि कुछ प्रतिष्ठित ब्राह्मण राजा के पक्ष में और कुछ विपक्ष में थे। विपक्षियों के नेता काश्यप ने तक्षक (नाग) से मिलकर राजकुल के विरुद्ध विद्रोह उत्पन्न किया। जनमेजय के समय में क्षत्रिय-ब्राह्मण और ब्राह्मण-ब्राह्मण का संघर्ष चला। अजातशत्रु के शासन-काल मे बौद्ध-धर्म का प्राधान्य था। यों तो उस समय भी बुद्ध के शत्रु देवदत्त ऐसे लोग थे पर राजकुल से

लेकर एक साधारण झोपड़ी तक बौद्ध धर्म की महिमा फैली थी। उस समय सभी लोग बुद्ध के व्यक्तित्व से प्रभावित थे मौर्य काल मे आकर बौद्ध धर्म का एकछत्रत्व मिट गया। पुन. वैदिकों का दल उठ खड़ा हुआ। वैदिक मत के प्रसार मे तक्षशिला के गुरुकुल का विशेष हाथ रहा। मगध के शासन मे कभी बौद्धों की प्रधानता और कभी वैदिकों का अनुशासन दिखाई पड़ा, जैसे कि एक स्नातक कहता है—'वह सिद्धात-विहीन नृशस (नद) कभी बौद्धों का पक्षपाती, कभी वैदिकों का अनुयायी बनकर दोनों मे भेद-नीति चलाकर बल-सचय करता रहता है। मूर्ख जनता धर्म की आड़ मे नचाई जा रही है। चाणक्य भी राक्षस को इसी आधार पर फटकारता है। बौद्ध-वैदिक-सघर्ष से पृथक् साधु महात्माओं मे तपश्चर्या प्रचलित थी और लोग उन पर विश्वास करके उसका समान करते थे। गुप्तवंशीय सम्राट् चद्रगुप्त के समय मे विवाह-बंधन का समाज मे पूर्ण समान था। धर्म के क्षेत्र मे पुरोहित एव धर्माचार्य की व्यवस्था मान्य रहती थी। गुप्त सम्राटों मे शैव मत के प्रति अधिक श्रद्धा देखकर बौद्ध धर्मानुयायी कुछ क्षुब्ध होने लगे थे। यही कारण है कि स्कंदगुप्त विक्रमादित्य के शासन-काल मे पुराने बौद्ध-वैदिक-सघर्ष का पुनः प्रवेश हो गया था और ब्राह्मण-श्रमणों मे फिर खींचतान दिखाई पड़ने लगी थी। साथ ही बौद्धो मे तांत्रिकों का प्राधान्य हो गया था। आगे चलकर हर्षवर्धन के राज्यकाल में एक बार फिर बौद्धों की प्रबलता हुई इसका कारण राजकीय प्रभाव था। इस प्रकार ब्राह्मण-काल से लेकर बौद्ध-काल तक धर्म के क्षेत्र मे भी संघर्ष ही चलता रहा।

सामाजिक स्थिति

प्राचीन काल के समाज-संगठन में स्त्रियों का महत्त्वपूर्ण स्थान था। पुरुषों की समता मे उनका समान समान होता था। राजसभाओं मे राजाओं के साथ रानियाँ भी आदरपूर्वक बैठती थीं। जीवन की नाना स्थितियों में उनका योग रहता था। आमोद-प्रमोद मे तो वे साथ रहती ही थीं, युद्ध ऐसे संकट-काल मे भी उनकी सहायता प्राप्त होती थी। आवश्यकतानुसार वे पुरुष-वेश धारण कर लेती थीं, कल्याणी, मणिमाला और ध्रुवस्वामिनी ने भी ऐसा किया था। ऐसी स्त्रियों मे अपूर्व पौरुष भरा रहता था। जहाँ एक ओर पुरुष युद्ध

करने मे संलग्न रहते थे वहाँ आहतों की सेवा-शुश्रूषा का दायित्व प्राय: स्त्रियों के ऊपर छोड़ दिया जाता था। इस प्रकार की स्थिति भारतयुद्धोत्तर-काल से लेकर हर्षवर्धन-काल तक एक समान थी। स्त्रियों का अर्धांगिनी-पद व्यवहार मे भी चरितार्थ था। राजनीतिक व्यवहार मे भी उनके विचार मान्य होते थे। उस काल मे उनकी स्वतंत्रता किसी प्रकार बाधित नहीं थी। वपुष्टमा, छलना, कल्याणी, अलका, ध्रुवस्वामिनी, अनंतदेवी, जयमाला और राज्यश्री आदि महिलाएँ, उस काल का आदर्श संमुख रखने के लिए, आज भी यथेष्ट हैं।

आर्य-संस्कृति के प्रधान निर्माता ब्राह्मण थे। जनमेजय-काल में इनका बड़ा संमान था क्योंकि उस समय भी यज्ञादि वैदिक कृत्यों की प्रधानता थी। इन कृत्यों के आचार्य और मंत्रदाता ये ब्राह्मण ही थे। राजवर्ग और प्रजाजन के कल्याणार्थ ही वैदिक कर्मकांड चलता था और उसका नियामक था ब्राह्मण-वर्ग। इसीलिए ये ब्राह्मण शिर-स्थानीय माने जाते थे। यों कभी-कभी उद्धत और क्रोधी प्रकृति के भी ब्राह्मण निकल आते थे जिनमें दुरभिसंधि और कुचक्र-चालन के दोष भी दिखाई पड़ जाते थे परंतु अधिकतर ब्राह्मण सात्त्विक वृत्ति के ही होते थे, जो अरण्यों मे एकांतवास करते, तपश्चर्या, अग्निहोत्र इत्यादि कर्मों में निरत रहकर दया, उदारता, शील, आर्जव और सत्य का अनुसरण करते थे। आगे चलकर न तो ब्राह्मणों की यह वृत्ति ही रह गई और न उनका वह संमान ही रह सका। मौर्य काल मे अन्य प्रतिद्वंद्वी धर्मों के कारण इनका महत्त्व और भी गिर गया। यही अवस्था हर्ष के समय तक चली आई।

शिक्षा-दीक्षा और अध्ययन-अध्यापन का अच्छा प्रबंध था। इस प्रबंध मे राजवर्ग की उदारता बड़ा काम करती थी। छात्रवृत्तियाँ देकर विद्यार्थियों को राजा भेजता था और विद्याध्ययन करके लौटे हुए स्नातकों को आदरपूर्वक स्वीकार करता था। स्थानीय संस्थाओं के अतिरिक्त केंद्रीय विश्वविद्यालय—गुरुकुल—होते थे, जहाँ दूर-दूर से आए विद्यार्थी कम से कम पाँच वर्षों तक रहकर अध्ययन करते थे। राजाओं का आदर और सहायता प्राप्त होने पर भी इन गुरुकुलों में राजा का शासन नहीं चलता था। ये विद्याकेंद्र अपने